DAMAGE BOOK

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_182031

UNIVERSAL
LIBRARY

OUP—552—7-7-66—10,000

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H83 /A53U Accession No. H 29

Author अंचल .

Title उल्का .

This book should be returned on or before the date last marked below.

उल्का

'अञ्चल'

हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी

प्रकाशक : हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, पो० बक्स नं० ७०,
ज्ञानवापी, वाराणसी ।

मुद्रक : गौरीशंकर प्रेस, मध्यमेश्वर, वाराणसी ।

आवरण : कांजिलाल

पुनर्मुद्रित : अक्तूबर, १९५७—११००

मूल्य : चार रुपये पचास नये पैसे ।

निवेदन

हिन्दी संसार ने मेरे पहले उपन्यास 'चढ़ती धूप' को जिस प्रकार अपनाया, उससे मुझे वस्तविक प्रोत्साहन मिला। जिन सदाशय मित्रों और आलोचकों ने उसकी कमियों की ओर मेरा ध्यान आकर्षित किया उनका मैं कृतज्ञ हूँ। मुझे विश्वास है, उत्का पढ़कर वे मुझे अपने अधिक निकट पायेंगे।

—अंचल

समर्पण

भाई वसन्त पुराणिक को

***

दाँत से पकड़ कर रक्खा था और जिसके पास इस समय कई लाख रुपया नक़द था। दूसरी ओर मैं अपने पिता की सबसे बड़ी लड़की थी। चार छोटी बहनें और दो छोटे भाई घर में थे। लड़ाई का जमाना था। पिताजी को केवल अस्सी रुपये मासिक मँहगाई वगैरह मिलाकर मिलते थे। बड़ी मुश्किल यह थी कि माताजी की प्रजनन-शक्ति में अभी किसी प्रकार का ह्रास नहीं हुआ था। हर वर्ष घर में एक नया प्राणी आ उपस्थित हो जाता था। पिताजी का भारी चिन्ता से म्लान और खिन्न चेहरा यों तो रोज देखने को मिलता था पर पहली तारीख को जब पूरी तनख़ाह दफ़्तर से घर आते-आते रास्ते में ही खर्च हो जाती थी—लोगों का हिसाब देते-देते—तब सन्ध्या को प्रगाढ़ अन्धकार की छाया—एक दानवीय कानाफूसी—एक काला-काला सा रहस्य—भेदक और डरावना—जीवन के दुखदाई दुर्वह भार की कुरूपता—सारे घर में फैल उठती थी। घण्टों बैठकर सोचने पर भी पिताजी और माँ न तय कर पाते थे कि किस खर्च में कमी की जाय। मेरा स्कूल जाना कब का छूट चुका था। केवल पड़ोस के चाँद भैया की प्रेरणा और सहायता से मैं आगे की परीक्षायें पास करने का स्वप्न देखा करती थी। चाँद भैया यूनिवर्सिटी में पढ़ते थे। एम० ए० और ला साथ-साथ कर रहे थे। उनके पिता का देहान्त हो चुका था। बड़े भाई सेक्रेटेरियट में असिस्टेन्ट सेक्रेटरी थे। माता लगभग दो वर्ष से तीसरे लड़के के साथ काशी में रहती थीं जो वहाँ यूनिवर्सिटी में प्रोफेसर थे। हमारी जाति में न थे—हमारे गाँव-घर के न थे पर हम लोगों पर पूरे परिवार की बड़ी कृपा रहती थी। चाँद भैया पूरे चाँद थे। बचपन में उनके सौन्दर्य और आकर्षण के कारण उनका यह नाम पड़ गया था। मैं पिछले दस वर्षों से उनके पड़ोस में रहती हुई उनकी निकटता का सुख पा रही थी।

मुझे उनके सम्बन्ध में सबसे पहले चाँद भैया से मालूम हुआ था। चाँद भैया उन्हें अच्छी तरह जानते थे। मन ही मन उन पर बड़ी श्रद्धा रखते थे। उनकी कवितायें गाते गाते वे अपने को भूल जाते

थे। उनकी कहानियाँ उपन्यास वे खुद मुझे पढ़कर सुनाते थे जब। और औरों की रचनायें लाकर पढ़ने के लिये मेरे पास चुपचाप छोड़ जाते थे। चाँद भैया को यह अभिमान था उनके विश्वविद्यालय के स्नातक वे भी थे और आज वे दूर किसी प्रान्त में उच्च पद पर एक कालेज में प्रोफेसर थे। उनकी कोई कविता या कहानी कहीं निकलती थी तो चाँद भैया बेचैन हो जाते थे। कहीं न कहीं से उस पत्र या पत्रिका को लाकर जब तक दो तीन बार जोर-जोर से मेरे कमरे में बैठकर सुना न देते थे तब तक उनका जी न भरता था। यहीं से मेरा उनका काल्पनिक परिचय आरम्भ हुआ। अपने भैया की भाँति मैं भी उनकी भक्त बन गई। मैं कह चुकी हूँ मेरे कोई बड़ा भाई न था। चाँद भैया के कोई बहिन न थी। हम दोनों एक दूसरे से अपने इस अभाव की पूर्ति कर लिया करते थे। चाँद भैया अपने चरित्र की दृढ़ता और प्रतिभा के लिये सारे मुहल्ले में नहीं शहर में प्रसिद्ध थे। पढ़ने लिखने या मेरे पास उठने-बैठने को छोड़ जैसे उन्हें किसी काम से संसार में मतलब न था। मैं अपने इस देवोपम मुँहबोले भाई को कितना प्यार करती थी मेरे लिये बताना असभव है। इतना अवश्य कह सकती हूँ हजारों-लाखों बहनों का पुन्जीभूत प्यार मेरे हृदय में लहरें लिया करता था। उनकी एक एक चितवन पर मैं अपना सर्वस्व लुटा सकती थी। आज जब साँझ की नीरव उदासीनता—गोधूलि की विषादारुण स्तब्धता मेरे जीवन के कोलाहल की सन्धियों को धीरे धीरे मूँदने लगी है तब उस महान आत्मा की चर्चा करने में भी मुझे भय लग रहा है। आज वे इस संसार में नहीं हैं। मेरे विवाह के बाद ही वे विलायत चले गये। वहाँ एक साल के भीतर उनकी मृत्यु हो गई—एक मोटर दुर्घटना में। पर उनकी याद आज भी प्रश्न बनकर हृदय को उदग्रीव और उग्र बना देती है। आत्मा में संतप्त विद्रोह की ज्वाला धधका देती है और मेरी पानी में तैरती पुतलियाँ आत्माभिमान से तन कर ऊँची उठ जाती है। जाने दो इन बातों को! जीवन का वह 'चेप्टर' अब बन्द

हो गया है। आज जब इन सोने के बन्धनों की कड़ाई मेरी कलाइयों को खाने लगी हैं तब उस वीर साथी की फौलादी मुद्रा मुझे और वीर बना देती है।

घर में मेरे विवाह की चर्चा ज़ोरों पर चल रही थी। पिता और माता उन्नीस वर्ष की अवस्था हो जाने पर भी इस वर्ष विवाह न करना चाहते थे पर मेरे ससुर जल्दी मचाये थे। इकलौते इक्कीस-वर्षीय लड़के का विवाह इस वर्ष हो जाना चाहिये। इधर मेरे माता पिता को भय था कहीं इतना अच्छा लड़का हाथ से निकल न जाय। हमारे कान्यकुब्ज समाज में दहेज की प्रथा अपना विकराल मुख फैलाये रखती है। मेरे भावी ससुर मेरे रूप और गुणों पर मुग्ध थे। बिना एक पैसा लिये विवाह करने को तैयार थे। पर इसी वर्ष मई में विवाह होना चाहिये। उनका कहना था लड़के की कुछ शिकायतें सुनने में आने लगी हैं। उसका विवाह रोकना असंभव है। लाचार पिताजी को भी तैयार होना पड़ा। मुझे इन्टर की परीक्षा देने वाराणसी जाना था। चाँद भैया खुद साथ चलने को तैयार हो गये। ठहरने की चिन्ता न थी। उनकी माँ, भाई, भाभी सब वहाँ थे। पिताजी के पास मेरे किराये और खर्च के लिये पैसा न था। चाँद भैया ने मेरा सारा भार ले लिया। लखनऊ से सेकेन्ड क्लास के डिब्बे में बैठ कर हम रवाना हुए।

चाँद भैया के साथ यह मेरी अन्तिम यात्रा थी। इसके पहले दो तीन बार उनके साथ काशी, प्रयाग और मेरठ तक जाने का अवसर आया था। पर कभी मुझे उनके प्रति ऐसी उत्कट ममता और रुलाई की अनुभूति नहीं हुई। गाड़ी जब चली तो वे उठकर मेरे बर्थ पर आगये और बोले—'मंजु! (मेरा नाम मंजरी है पर भैया मुझे मंजु कहते हैं) तुझे छोड़ कर मैं चला आऊँगा। तू वहाँ अकेली रह सकेगी?'

'अकेली! अब रहना ही है। पर तुम क्यों चले आवोगे? अम्माजी के पास रहना। एक हफ्ते में मेरे पर्चे ख़त्म हो जायँगे। साथ ही लौटेंगे?'

'नहीं ! मुझे यहाँ कई लेक्चर अटेन्ड करने हैं। क्या तू माँ और भाभी के पास अकेली नहीं रह सकती ? मैं क्या हर वक्त तेरे आँचल से बँधा रहूँगा ?'

भैया की आवाज़ में एक दृढ़ता थी जो होश सँभालने के बाद मैंने कभी न अनुभव की थी। मैंने करुणदृष्टि से उनकी चप्पलों की ओ देखते हुए कहा—'नाराज़ हो भैया ! मुझसे क्या अपराध हुआ है महीने दो महीने की मेहमान हूँ। क्यों अभागिन पर कोप करते हो ?'

'मैं तुमसे सख्त नाराज़ हूँ। मुझे न मालूम था तुम इतनी कायर औ 'टिमिड' निकलोगी। मैंने तुम्हें पढ़ाया लिखाया। ऊँचे से ऊँचे—वहा दुराना संस्कार जगाने की चेष्टा की। तुममें कोई अन्तर न पड़ा। तुमने अपने विवाह की सहमति दे दी। उस जानवर के साथ जो चार बार ए एन्ट्रेन्स पास हुआ है और मैंने जैसा सुना है इक्कीस वर्ष का हो जाने प भी जिसके मुँह से एक वाक्य शुद्ध हिन्दी या अँगरेज़ी का नहीं निकलता केवल इसलिये कि वह अपने बाप का इकलौता बेटा है और उसके पा रुपया है तुम उसे तन-मन देने जा रही हो। तुम्हें कितना रुपया चाहि मंजु ! जितना उस बूढ़े के पास है उतना पापा की जायदाद में मे हिस्सा होगा। तुमको मैं सारा रुपया दे सकता हूँ। तुम इस विवाह इन्कार कर दो।'

'तुम्हारा दिया रुपया मैं ले कैसे सकती हूँ ! तुम मेरे कौन हो देनेवा —मैं तुम्हारी कौन हूँ लेनेवाली। जाने दो चंदा भैया ! छोड़ो इस ब को। आदमी बहुत विवश होकर बलि का बकरा बनता है'।

'क्यों ! तुम्हें क्या विवशता है ? मेरे जीवित रहते तुम्हें कौन लाचारी है ? मेरी ओर देखो—मेरे सपने क्यों तबाह करती हो ?'

मैं सिहर उठी। आज भैया के मुँह से यह कैसी बात सुन रही हूँ रात भर जिनके पास बैठकर कभी ऐसा आभास तक नहीं हुआ वह अ सुनने को मिल रहा है। पुरुष की अहमन्यता का यह कब का जमा हु स्फटिक सा अभिमान आज पानी पानी बनकर बह रहा है ! मैंने अनु

भरी मुद्रा से कहा—'तुम्हारी बात मैं नहीं समझी भैया ! तुम्हारे सपनों की तबाही और मेरे विवाह से क्या सम्बन्ध है ?'

दिन भर की उमस को तोड़कर साँझ के समय की तेज़ हवा पागल की तरह नशे में चूर हो उठी थी। मैंने देखा भैया जैसे मेरी अज्ञात कुन्ठा पर मुग्ध हो उठे हैं। बोले—'पगली ! मैं तुझसे विवाह करूँगा। तू इसकी चिन्ता क्यों करती है ? पर मैं अपने रहते तुझे इस प्रकार जीवन नष्ट न करने दूँगा। तू वहाँ सुखी न रह सकेगी। ऐसे मूर्ख के साथ तेरा जीवन विभीषिकामय बन जायगा। तेरे विवाहित जीवन की कल्पना करते ही मेरा मन विक्षोभ से फटने लगता है। तू कैसे वहाँ रहेगी ?'

'रह लूँगी भैया ! आज तुमने जो कहा है वह न जाने मेरे कितने पूर्व जन्मों के संचित पुण्य का फल है। पर इतने बड़े सौभाग्य का भार मैं कैसे सह सकूँगी ? कैसे रोम रोम की आँखें उल्लास से मूँद देनेवाला यह सुख सहन कर सकूँगी ? तुमने यह भी सोचा है, मैं कौन हूँ ! क्या हूँ ? तुम खत्री हो मैं ब्राह्मण। तुम्हारे साथ मैं विवाह कर सकती तो देवत्वभरी प्रसन्नता मुझे होती। पर मेरे परिवार का क्या होगा—मेरी चार छोटी बहनें हैं उनका विवाह कहाँ कैसे होगा ? मैं तब कैसे अपने को अपना मुँह दिखाऊँगी। हम पैसे वाले होते तो कोई बात न थी। भैया·····जाने दो·····मुझे क्षमा करो—तुम्हारे पैर छूती हूँ। मेरी लाचारी को और लज्जित न करो।'

डिब्बे का फर्श चाँद भैया के पाँवों तले काँटे की तरह चुभने लगा। डिब्बे की दीवारें उनकी दोनों आँखों को दग्ध करने लगीं। बोले—'तू तैयार हो जा—मैं पंडितजी और चाची को मना लूँगा। मैं तेरी बहनों का विवाह करूँगा। कितना रुपया तुझे चाहिये ? कभी मैंने इस ओर ध्यान नहीं दिया। जब रुपया कमाने पर उतारू हो जाऊँगा तो तेरे सँभाले न सँभलेगा।

'नहीं, नहीं भैया ! ऐसी बात न कहो। आज तुम्हें क्या हो गया है ? इस तरह की बातें करने से पाप लगता है। तुम्हें मुझसे ऐसी बातें

करनी चाहिये ? इसीलिये मुझे इतना पढ़ाया-लिखाया, तैयार किया कि ऐसी बातें करो ! मुझे मेरे भाग्य पर छोड़ दो। सुख बदा होगा तो वहाँ भी उसकी कमी न रहेगी।'

'मैं तुम्हे कैसे छोड़ दूँ मंजु ! तुम्हें मैं कितने गौरव की मूर्ति समझता हूँ ! कैसे जान सकोगी तुम ! इसीलिये तुमको अपने आपसे निकट करना चाहता हूँ। तुमको कितना भीतर-भीतर चाहने लगा हूँ यह तभी जान सका जब तुम्हारे बिछुड़ने की संभावना जन्मी। लेकिन यह कोई बात नहीं। मुझमें शक्ति है—संयम है और अपने दिल को रौंदकर जीवन में आगे निकल जाने का पौरुष भी। पर तुम्हारी कौन गति होगी ? तुम्हारी जैसी प्रतिभाशालिनी विद्योत्तमा उस मूर्ख कालिदास के साथ एक क्षण भी सुख पा सकेगी ? मैं समझ नहीं पा रहा—कोई रास्ता मुझे नहीं दिखाई देता। इसलिये अपनी आड़ ले रहा हूँ। तुम्हारी शादी ! तुम इन्कार क्यों नहीं कर देती मंजु !'

'कैसे इन्कार करूँ भैया ! फिर बाबूजी को इतनी आसानी से सम्बन्ध कहाँ मिलेगा ?'

'मैं तुम्हारा सारा भार लेता हूँ। तुम्हें पढ़ाऊँगा, लिखाऊँगा, तुम्हारी शादी का सारा खर्च स्वीकार करूँगा। सुयोग्य पात्र ढूँढ़कर तुम्हारा विवाह जब और जिससे कहोगी कर दूँगा। यह शादी मैं अपनी आँखों नहीं देख सकता। तुम मेरे दुख को समझ सकोगी ? तुमने वह वेदना नहीं झेली। मैंने तुम्हारा निर्माण करने में सृजन की वह वेदना झेली है जो माता पेट के अन्दर प्रसरणशील अस्तित्व—जीवन का सतत दीप्त होता हुआ अंगार लेकर झेलती है। तू सोचती है मैं वासना की पूर्ति—इन्द्रियों के सुख के लिये तुझे चाहता हूँ ! मैं तेरे लिये तुझे चाहता हूँ। अपने लिये जिस दिन तुझे चाहूँगा उस दिन से अपने को पशु मानूँगा।'

'मैं सब समझती हूँ भैया ! पर दूसरा रास्ता नहीं। माता-पिता जीवित रहते कैसे जवान लड़की का भार किसी अविवाहित नवयुवक को सौंपेंगे ?

जो कुछ वे कर रहे हैं कौन कम है ? तुम क्यों इस पचड़े में पड़ते हो। मेरे लिये यही अपार गर्व की बात है मुझे तुम्हारे जैसे असाधारण भाई की बहिन होने का गौरव मिला। नारी का जीवन असंगतियों का घर होता है। उसमें कुछ भी कभी अनायास घटित हो सकता है। तुम मेरे पीछे क्यों दुख भोगोगे ? अभी से बन्धन में बँधोगे। एक छोटे से केन्द्रस्थल में बँधकर अपनी महान् व्यक्तित्व-परिधि को सीमित कर लोगे। मैं यह सम्बन्ध अस्वीकार करती हूँ तो माता-पिता की छाती पर चट्टान बनकर चिरकाल बैठी रहूँगी। अपने हृदय की प्रत्येक चाप में वे मेरे यौवन के नूपुरों का हाहाकार सुनेंगे। उनकी अभिमानी आत्माओं की क्षुब्धता मुझे भयानक अभिशाप देगी। उन्हें अभी चार लड़कियों की शादी करनी है—तीन लड़कों की शिक्षा पूरी करनी हैं। मुझे जाने दो। मेरे लिये उनके हृदय में विशेष चिन्ता है क्योंकि मैं पढ़-लिख गई हूँ। तुम्हारी छत्र-छाया में रहने का मुझे सौभाग्य मिला है। संभव है वे आगे मेरी बहनों को पढ़ावें ही न। मनुष्य की अबूझ निर्बलताओं का शृंखलाबद्ध रूप हमारा समाज तुम्हारी महानता को न पकड़ सकेगा। वह केवल कलंक देगा। उस कलंक की कालिमा मैं अपने माता-पिता को न लगने दूँगी। तुम्हें कितने जीवन तक पूजूँगी नहीं जानती। पर यह पार्थिव संयोग ? इसे असंभव ही बना रहने दो! जो मिल चुका है उससे अधिक मुझे न चाहिये। मैं कृतार्थ हो गई। मुझे आशीष दो—दुआयें दो मैं तुम्हारे भ्रातृत्व की गरिमा को सुरक्षित रख सकूँ। मुझे आशीर्वाद दो—एक दो नहीं सैकड़ों दो—हजारों दो'—कहती-कहती मैं छलछला कर रो उठी। सामने की बर्थ के लोग मेरे आँसू न देख लें इसलिये मैंने अपना सिर भैया की गोद में छिपा लिया। उनकी उजली खद्दर की धोती मेरे आँसुओं से धुलकर और उज्ज्वल हो उठी।

चाँद भैया मेरे सिर पर हाथ फेरते हुए शायद सोच रहे थे—यह जो जरा सी लड़की है—अधखिले चंपे की कली सी प्रीति-सुकोमल और तन्वी

इसके हृदय को अपनी वेदना के अधिक निकट नहीं खींचा जा सकता। मैं जानती थी उनके पुरुष की शक्ति अभी परास्त नहीं हुई, समाप्त नहीं हुई। मेरे एक-एक टुकड़े पर उनका अधिकार है। मैंने कब इस अधिकार को नहीं माना —मस्तक से नहीं लगाया। भैया की जाँघें मेरे आँसुओं से तर हो उठी थीं। मेरा मुँह उठाकर रुमाल से मेरी बरसती आँखों को पोछते बोले—'तू यही निश्चय करती है? बाद में कभी मुझे या किसी को दोष दिया तो मैं सहन न कर सकूँगा। जिन्दा रहना एक बात है —जिन्दगी को जिन्दगी न समझ कर घिसटते जाना दूसरी बात। तू मुझे नहीं चाहती तो मैं अपने को तेरे पर लादूँगा नहीं। तेरे साथ थोड़ा बहुत किया है इसलिये नहीं कि तुझसे बदला माँगू। बदला न पाने पर असन्तुष्ट होऊँ।'

कैसे काटने वाले वाक्य थे। मैं उन्हें चाहती नहीं! मुझे लगा मेरा हृदय विक्षोभ से फट जायगा—मैं टूकटूक होकर गिर पड़ूंगी। भैया की कातर ध्वनि—उनकी अन्तरात्मा की पुकार यहाँ तक कि उनके सौम्य मुख पर खेलती फीकी हँसी हृदय के रक्त से सन कर आ रही थी। इस प्रकार का कोई गीत या चीत्कार कभी मरता नहीं—कभी उसकी स्वर-लहरी मन्द नहीं होती। वह गले में ढेर बनकर जम जाता है—हृदय में प्रस्तर बनकर बेचैन करता है—आत्मा की अन्तस्तली में लोहे का ब्लेड बनकर काटता है। शरीर के जिस भाग में पहुँचता है स्थिर हो जाता है। कभी नहीं अलग होता—कभी नहीं छोड़ता। जीवन की फाँस बनकर आजन्म कसकता रहता है वह!

मैं कुछ न बोली। सुबुक कर अपना मुँह फिर उनकी गोद में छिपा लिया। इसके पहले कभी यह सब न किया था पर किसी प्रकार की हिचक न हो रही थी। गला जरूर हिचकियों से भर रहा था पर मैं उन्हें भीतर भीतर घुटकने की चेष्टा कर रही थी।

'देखो मंजु'! भैया ने दृढ़ किन्तु कंपित, कोमल किन्तु कठोर, गीले किन्तु ज्वालामय स्वर से कहा—'मुझे बड़ा दुःख है मैं तुमसे जो न कहना

चाहता था कह गया। लेकिन मुझे पता चल गया मेरे जीवन दीप में तुम्हारे प्रेम का प्रकाश नहीं, मेरे पराभव और अभिशाप का उजाला था। एक बात तुम भूल रही हो। मनुष्य भोक्ता नहीं निर्माता है—कर्ता है। केवल जीवन की क्रिया का कर्म बनकर उस क्रिया की अनुभूति भोगते रहना उसका कर्त्तव्य नहीं। मनुष्य का आत्म-विश्वास उसके रचे हुए सामाजिक और आचारिक विधान से बड़ा है—अधिक बलवान है। तुम आज उसके सम्मुख अपने को विवश अनुभव कर सकती हो। पर तनिक इच्छा-शक्ति से उसे बदल सकती हो—आमूल बदल सकती हो। हम सामाजिक परिस्थितियों के शिकार नहीं, स्रष्टा हैं। तुम्हारे ये सारे संस्कार झूठे हैं और मेरे नहीं हैं। मैं इनके लिये उत्तरदायी नहीं।'

'मानती हूँ भैया! सब मानती हूँ! तुम्हारे प्रति मेरे मन में जो प्रेम है वह जीवन-मरण से अधिक गम्भीर, अखंड आत्मिक परिपूर्ति की—तृष्णा की सर्वग्रासी, सर्वनाशी परम्परा है। पर मेरी छोटी बहनों और भाइयों का क्या होगा? भविष्य के गर्भ से उड़कर जो मेरी माता के पेट में आयेंगी उनका क्या होगा? तुम्हारी जैसी महान् आत्मायें सबके भाग्य में न होंगी। तब कौन उन्हें पूछेगा—समाज में उनके लिये कहाँ स्थान होगा? न न! मेरी यह कठिन परीक्षा न लो! तुम मेरे हृदय की सारी जगह घेर कर बैठे हो—मैं मानती हूँ। पर मुझे अपने माता-पिता के सुख की ओर देखने दो। क्या यह मेरा कर्तव्य नहीं। क्या सन्तान का जन्म इसलिये होता है कि माता-पिता के लिये उलझनों और यंत्रणाओं का सृजन करे! तुम मेरे लिये विवाह और पति दोनों से बड़े हो। क्यों अपने को परिधि से परिवेष्टित करना चाहते हो? मुक्त आकाश की परिव्याप्ति और अनन्तता तज कर घोसले की क्षुद्रता अपनाना चाहते हो? यह ध्रुव सत्य है मैं तुम्हारी आज्ञा टाल न सकूँगी। अभी वाराणसी चलना छोड़कर जहाँ चाहोगे साथ-साथ भाग निकलूँगी। पर यह सब बिना किये क्या मैं तुम्हारी नहीं हो सकती—तुम्हारी नहीं कहला सकती? मैं तो कहीं भी

रहूँगी—किसी के पाश में रहूँगी तुम्हारी रहूँगी। मेरे मन का सारा कौमार्य तुम्हारा है। मन का कौमार्य जीवन भर कौमार्य बना रहता है। सत्यवती के यौवन सा अनन्त होता है वह। तन की बात जाने दो। तुम्हारे लिये संसार में सुन्दर तन की कमी न होगी। सुन्दरी से सुन्दरी युवती तुम्हारे चरणों पर अपने को समर्पित कर कृतकृत्य मानेगी। मैं तो कुछ नहीं हूँ.....कुछ भी नहीं हूं।'

'तुम क्यों अपने को बंदिनी मानती हो? क्यो इस परिपाटीके विरुद्ध विद्रोह नहीं करती? क्या तुम्हारी जीवनी-शक्ति नष्ट हो गई है? तुम्हारी प्रेरणा का स्रोत क्या रुक गया है या तुम्हारी चेतना को फालिज़ मार गया है? इस विवाह का परिणाम क्या होगा? एक ओर तुम मुझे इतना चाहती हो और पूजा करती हो—दूसरी ओर मेरे मन के महल को ढ़हाकर एक अधकचरे जानवर से विवाह करने का आग्रह कर रही हो! पैसे के लिये इतना बड़ा सुख हनन न करो। मेरी बात मानो!'

'तुम वास्तव में ऐसा मानते हो मैं पैसे के लिये विवाह करने जा रही हूँ? यही मेरे सामने प्रलोभन है? मेरी ओर देखो! तुम दो बार यह बात कह चुके। क्यों नही मुझे चलती ट्रेन से फेंक देते? तुम्हारे हाथो मर कर मेरी आत्मा त्राण पा जाय। किस लिये मेरे दिल पर संगीनें चला रहे हो? आज तक कभी मुझे तुमने धन की ओर आसक्त पाया है? अपने कैशबाक्स की एक ताली तुमने दे रक्खी है मुझे। जब चाहूँ जितना रुपया निकाल लूँ। कभी एक पैसा लिया है? जब तुम्हारे धन का लोभ आज तक मेरे मन में न हुआ तो क्या संसार में किसी का धन मुझे आकर्षित कर सकता है? आँखें फेरने से काम न चलेगा। साफ साफ कहो—मैं कुछ भी तुम्हारे मुँह से सुनने को तैयार हूँ। तुम्हें विश्वास है तो कह डालो। कितनी बार तुमने मेरे लिये प्रकार-प्रकार की भेंटें लाकर दी हैं। उनमें कितनी मैंने ली हैं—कितनी तुम्हें वापस नहीं करनी पड़ीं! यों सुख से दो रोटी खाने और आराम से रहने—अच्छा कपड़ा पहनने की किसे अभिलाषा नहीं होती? पर मेरे सामने वह प्रश्न नहीं है

देवता ! मैं परिवार का भविष्य देख रही हूँ। मेरे कर्मों का फल मेरे निर्दोष माता-पिता, भाई-बहनों को न भोगना पड़े, यह मैं चाहती हूँ। तुम्हारी शिक्षा ने मेरे अन्दर यह भाव जाग्रत किया है। तुम्हारी निस्पृहता और स्वार्थ-त्याग देख देखकर मैंने जाना है—अपने सुख से बड़ा उनका सुख है जिनके साथ यह जीवन अविच्छिन्न गति से बँधा है। क्यों मुझे काँटों में घसीट रहे हो ? क्या जानती नहीं तुम्हारे बिना जीवन निरर्थक हो जायगा। पर तुम्हें छोड़ना पड़ेगा। इसका यह अर्थ नहीं मेरे प्रणय की सारी निष्ठा—पूजा की सारी विह्वलता—भक्ति की सारी तन्मयता—अनुशक्ति की सारी निविड़ता—प्रवंचना और छल है ! तुम्हारी उपासना करने का मेरा अधिकार कोई छीन लेगा ? तुम जीवन भर न छीनना ! औरों की मुझे परवाह नहीं। मैं अपने स्वत्वों की रक्षा कर लूँगी।'

'मानता हूँ तेरे भीतर भोग-लिप्सा की, सुख की मिथ्या भ्रान्ति नहीं है। लेकिन यह भाई-बहनों की ठेकेदारी भी ठीक नहीं। तू क्यों उनके भविष्य की चिन्ता में अपने जीवन का उत्सर्ग करे। क्यों तू उनके लिये अपने जीवन के सबसे बड़े सत्य का गला घोटे ? एक महीने से सब देख और सुन रहा हूँ पर मौन रहा। जब देखा मौन रहते-रहते मेरी कल्पना बावली हो जायगी तब तुझसे यह सब कहा। मुझे अब कुछ नहीं कहना। वाराणसी से तुम्हारे आने के बाद मेरे परचे शुरू हो जाँयगे। परीक्षा खत्म होते ही मैं पासपोर्ट के लिये अप्लाई कर दूँगा। तुम्हारे विवाह में मैं सम्मिलित न हो सकूँगा। पता नहीं तब देहली या बाम्बे कहाँ रहूँगा। मैं जल्दी से जल्दी इस देश से चला जाना चाहता हूँ। संभव है मेरी तुम्हारी यह अन्तिम मुलाकात हो। वाराणसी से तुम दादा के साथ चली आना या कोई नौकर साथ में आ जायगा।'

'फिक्र नहीं। मैं अकेली आ जाऊँगी। पर तुम्हारा यह क्रोध मुझे जलाकर क्षार कर डालेगा। मैं क्या करूँ ? जीवन की इस अनुष्ठान बेला में मैं तुम्हारे आशीर्वाद से वंचित चली जाऊँगी ? नहीं नहीं भैया !

:२:

रात को बारह बजे होंगे। अपनी बर्थ पर लेटी पढ़ रही थी। परसों से परीक्षा थी। काफी तैयारी की थी फिर भी दिल घबराता था। पढ़ने में मन नहीं लग रहा था। भविष्य की कुहेलिका आँखों के आगे नाच रही थी। अपने भावी पति महोदय को मैं देख चुकी थी। उनके माता-पिता दो-तीन बार आ चुके थे। वे केवल एक बार आये थे। देखने-सुनने में साधारणतः अच्छे होने पर भी बोलने में हँकलाते थे। कभी-कभी बड़े अहमकपन की बात करते थे। चेहरे पर बुद्धि का प्रकाश नहीं मूर्खता का ठसपन था। माता-पिता उनके भले और स्नेही ज्ञात होते थे। उन्हीं के भरोसे मैं भाग्य के साथ यह प्रयोग करने जा रही थी। सामने बर्थ पर भैया पड़े थे आँख मूँदे। चेहरे पर एक झीना-झीना सा असन्तोष और अन्तर्दाह की झलक थी। होठों पर खींच कर अपनी ओर ले जानेवाली और हल्का सा झटका देकर दूर फेंक देनेवाली रहस्यमयी तरंगपूर्ण मुस्कान। मैं अपने इस महामहिम भाई के हृदय की वेदना को सोचने लगी। मेरे लिये उन्होंने जो

न हो रहे थे। न जाने कैसी कुन्ठा और ग्लानि उन्हें घेरे थी। वे रह रह-कर कौंप उठते थे। कैसी मानसिक उत्तेजना उनके हृदय में हो रही थी! लेकिन मुझे विश्वास था मैं मना लूँगी--वे मान लेंगे। बीच-बीच में हँसते थे और तरह-तरह की बात भी करते थे। पर लगता था उन्हें किसी ने ऊपर से नीचे तक बदल दिया। वह हँसी नहीं जिसे एक फर्लांग दूर से ही सुनकर मैं उनके आने की बेला जान अपने छज्जे पर आकर खड़ी हो जाती थी! आनन्द की वह चंचलता नहीं। वर्षा ऋतु के खिलते हुए फूल की तरह उसकी पंखड़ियाँ मानों पानी से भींगी हुई हैं। मैं समझ गई यह सामयिक अवसाद है। लेकिन हृदय की तलहटी में छिपा कोई कहता था—यह प्राण के किनारे तक आकर टूट जानेवाली आत्मा की वह ललकार है जिसकी प्रखरता काल के प्रवाह के साथ बढ़ती जाती है। जो जुड़-जुड़ कर टूटती है—टूट-टूट कर जुड़ती है। जिसके भीतर संपूर्ण जीवन की पिपासा और निराशा बोलती है। जिसके भीतर उठ-उठकर गिरनेवाले और गिर-गिर कर उठनेवाले अन्तर्दाह का निष्फल आत्ममरण घुटता रहता है।

—:*:—

ऐसी निष्ठुरता न दिखाओ ! इस प्रकार तुम मेरी ओर से विमुख हो जाओगे तो कौन सा शक्ति-सूत्र पकड़ मैं आगे बढ़ूँगी ? तुम विलायत जाओ—मैं मना नहीं करती। कर भी नहीं सकती। ईश्वर करे वहाँ देश का मुख उज्ज्वल करो। पर मेरे विवाह तक ठहरे रहो। क्या पात्र से छलक गई जल की बूँद की तरह मुझे भूमि पर बिलकुल सूख जाने दोगे ? तुम्हारे हृदय में मेरे लिये तनिक स्थान नहीं रह गया ? मेरे मन के स्वामी होकर इस अन्याय की प्रतिहिंसा का अनुभव नहीं करते तुम ? मैं तो तुम्हारी दासी हूँ—युग-युग से तुम्हारे चरणों की सेविका। मेरा पाप—मेरा अपराध यह है मैं दासी होकर अपने शरीर पर अपना अधिकार समझती हूँ। पर यहाँ भी मुझे केवल तुम्हारी महानता का बोध है। वर्ना यह शरीर क्या ऐसे असंख्य शरीर तुम्हारी पूजा में अर्पित हैं। मेरी शुचिता में कोई व्यवधान न पड़ेगा। देवता का भोग लगने के बाद ही संसार प्रसाद पाता है।'

भैया तमतमा कर खड़े हो गये। डिब्बे में हमी दो रह गये थे। साथ के यात्री कहाँ उतर गये हम लोग अपने भावावेग में ध्यान न दे पाये। भैया की आँखो से अप्रतिहत आकर्षण की किरणें फूट रही थीं। वह आकर्षण जो संसार में जो कुछ पवित्र, सुन्दर, शिव और सत्य है—देवत्व का प्रेरक और अमरत्व का दाता है उसके स्थायित्व का मूल है। जो केवल उसे बनाये ही नहीं रखता, उसे चलाता भी है। जो सृष्टि के सौन्दर्य की विराटता और परिव्याप्ति का चालक है। उनके गुलाबी गालों पर सूर्य-चन्द्र तारागण का सम्मिलित प्रकाश खेल रहा था। मेरे मस्तक पर जल की लहर जैसा शीतल पीयूषवर्षी चुम्बन अंकित करते हुए बोले—'पागल हो गई है आज ! प्रेम में शरीर की दरकार नहीं रहती। इतने दिनों तक तुझको लेकर एक स्वप्न बुनता रहा। उस को आज जिन्दगी के सबसे गहरे गड्ढे में दफ़ना दिया। मेरे ऊपर जो बीतेगी भोग लूँगा। तू जहाँ रहे सुखी रहे। मैं समझता हूँ तेरी व्यथा को। कितनी बड़ी पीड़ा तेरी अल्हड़ छाती में सिल की तरह जमी है।'

मैंने भैया के दोनों हाथ गले में मालाकार डालते हुए उनके घुटनों से अपना मस्तक छुआते कहा —'तुम न समझोगे तो कौन समझेगा ? मेरी कौन सी पुकार है जिसे तुम नहीं सुन पाते ? मेरी कौन सी वेदना है जो तुमसे अविदित है ? पर बताओ मेरे विवाह में रहोगे न ? बिना तुम्हारे चरणों की धूल लिये मैं इतने बड़े अनजान बेपहचान देश को कैसे जा सकूँगी ?'

'नहीं मंजु ! अब मैं अपने को धोखा नहीं दे सकता। मैं कितना दुर्बल हूँ आज जान गया। मैं तुम्हें आशीर्वाद देने का अधिकारी नहीं। मेरे आशीर्वाद से तुम्हारा अकल्याण होगा।'

मैं बैठी न रह सकी। उठकर खड़ी हो गई और पैरों पर सिर रखकर बोली—'तुम्हारे आशीर्वाद से मेरा अकल्याण होगा तो हो जाय। मैं उसका लोभ नहीं छोड़ सकती। मेरा बड़ा से बड़ा अकल्याण हो सकता था हो गया। अब तुम्हें काहे का संकोच भैया ! तुम्हारे अभिशाप को जब अपने लिये कल्याणकारी मानती हूँ तब तुम्हारा आशीर्वाद ! वह तो मुझे विश्व-विजयिनी बना देगा ! मेरे जीवन के चँदोवे को सलमे-सितारों से गूँथ देगा। तुम्हें कैसे लगा दुर्बल हो। तुम बल और शक्ति की खान हो—सामर्थ्य के सिन्धु हो। दूर-दूर से प्राणों की अंजली लेकर आनेवाली मुझसी क्षुद्र सरिताओं में वही धारासार प्लावन प्रवाहित कर देते हो। तुम्हारी इस महानता के सहारे सत्यानाश बचाने के लिये कितने दुःख की राह पैदल चल, प्रेम की महिमा को ठुकरा, आत्मा के सबसे बड़े आग्रह को चूरचूर कर जीवन का विराम-स्थल पाने जा रही हूँ। विश्वास है मन के अन्दर जिस दिन तुमको पुकारूँगी तुम रुक न सकोगे। मेरी गोहार पर दौड़कर आवोगे—मुझे बचावोगे। जिसे अन्तरात्मा ने शैशव से एकाग्र मन से चाहा हो और आज भी जिसके प्रति अपनेपन की सीमा न हो उसका अशीर्वाद मंगल कवच है"

इसके बाद भैया से रास्ते भर मैं लड़ती-झगड़ती-अपनी फरियादें पेश करती चली गई। वे किसी प्रकार मेरे विवाह में उपस्थित रहने को तैयार

जो किया वह कौन एक गरीब पड़ोसी की अकिंचन लड़की के लिये करता है ? कितना रुपया मेरे ऊपर उनका खर्च हो गया होगा। मेरी सहेलियाँ मेरा खर्च देखकर कभी-कभी हैरान हो जाती थीं— जो मैं उन सबके ऊपर कर देती थी। वही भैया आज कितने दुखी हैं! काश! मैं उनके चरणों की दासी बन सकती! पर मेरे सामने अपनी अस्वस्थ पीले शरीरवाली चार बहनों की समस्या थी। उनका क्या होगा ? मैं आज जात-पाँत तोड़ कर भैया से शादी कर लूँ पर! कहाँ जाकर खत्म होगी मेरे दरिद्र और असहाय परिवार की कष्ट-गाथा। सहसा भैया ने आँखें खोल कर कहा—

'तू जाग रही है मंजु! सोती नहीं ? मैं शायद सो गया था।'

'शायद नहीं निश्चित। तुम्हें न सोते देर लगती है न जागते।'

भैया ने गहरी दृष्टि से देखकर कहा—'ठीक कहती है तू! तूने मेरी परिभाषा ठीक बता दी। सचमुच मुझमें और उस प्राणी में कोई भेद नहीं जो मिनटों में सो जाता है—मिनटों में जाग उठता है।'

'नहीं नहीं भैया! मैंने सत्य कहा था। मज़ाक नहीं है यह। तुम हर बात में मज़ाक सोच लेते हो। पानी तो न चाहिये ?'

मैं सो गई पर भैया लगता है रात भर न सो सके। चार बजे के लगभग मेरी आँख खुल गई। मैंने देखा—बैठे हुये सिगरेट पी रहे हैं। मुख पर कठिन पीड़ा की भयावनी छाया थी। मुझे जागते देखकर फौरन मेरे पास आये मेरे पैर पर अपना सिर रखकर बोले— 'मंजु! तू मुझे माफ़ कर दे बहन! मैं बड़ा पापी हूँ। जो बात मुझे फाँसी के तख्ते पर भी जुबान पर न लानी चाहिये थी वह आज मैंने तुझसे की। मुझको अपने पर अभिमान था। आज वासना के एक ही हमले से चूर-चूर हो गया। भगवान किसी का दर्प कायम नहीं रखते। मुझे गर्व था किसी बात में लिपट नहीं सकता। आज मैं नत हो गया। मुझे हृदय से क्षमा न करेगी तो मेरी आत्मा मंत्रबद्ध सर्प की तरह फुफकार करती रहेगी।'

मैं झपट कर खड़ी हो गई। क्या सपना देख रही हूँ। यह तो वही सौन्दर्य-मंडित मुख है—वही निर्दोष मस्तक है जिसे देख-देखकर यौवन के उषकाल से रीझती आई हूँ। जिनके प्रति मेरी श्रद्धा का आर-पार नहीं है वह मेरे पैर पर सिर टेक रहे हैं। मैं फूट-फूटकर रोने लगी। उनके कन्धे से लिपट गई। उनकी मुद्रा वैसी ही अपरिवर्त और शून्य थी·····शून्य·····शून्य। बोले—'नहीं, यों मुझे शान्ति न मिलेगी। तू मुझे शक्ति दे। भगवान से मुझे माफ़ करने की—बल देने की दुआयें दे। जीवन में यह पहला और अन्तिम अपराध हो। आगे से कभी मैं इस तरह जानवर की सतह पर न उतर आऊँ। तुझे मैंने एक प्रकार से गोद में खिलाया है। तेरे प्रति ऐसी विषाक्त भावना! अधःपतन की किन लहरों में मैं बह निकला। मुझे नर्क में भी स्थान न मिलेगा। मेरे लिये एक अलग रौरव बनेगा मंजु! मेरी बहन! मुझे माफ़ कर!

आज मेरे भैया नहीं हैं। दुनियां छोड़कर वे किसी अज्ञात स्वप्न को अपनी दीप्ति द्वारा खींच बुलाने के लिये न जाने किस देवलोक को चले गये। मरते समय अपने देश की मिट्टी, आकाश, भूमि, दिवा, रात्रि, प्रकाश, अन्धकार कुछ न देख सके। दूर—बहुत दूर विदेश में उनकी अकाल मृत्यु हुई। आज मेरे निकट केवल उनकी याद है जो मेरे अतृप्त मन और तन पर—मेरे भस्मीभूत प्राण पर कभी-कभी झंझावात बनकर डोला करती है। जानती हूँ जीवन में उन्हें दुबारा न देख सकूँगी। वे उस लोक को गये हैं जहाँ से कभी कोई लौटकर नहीं आया। पर एक बार—केवल एक बार उन्हें देखना चाहती हूँ। उन्हें भैया कह कर पुकारना चाहती हूँ। फिर मुझे सदा के लिये संसार से विदा हो जाना पड़े तो हँसते-हँसते हो जाऊँगी। आज उनके न होने पर भी उनके परिवार का स्नेह मेरे प्रति वैसा ही परिपूर्ण और अपरिमेय है। मृत्यु के दो महीने पहले उन्होंने घर को जो पत्र लिखा था उसमें मेरे प्रति स्नेह-उद्गार थे। अपनी माता, भाई और भाभी से मेरी खोज-खबर लेते रहने का—मुझे

छोटी बहन—घर की लड़की समझने का जो मर्मभेदी आग्रह था वह जैसे अक्षर-अक्षर सजीव और साकार हो उठा है। मृत भाई की यह याचना दोनो बड़े भाइयों, भाभियो और विधवा माँ के लिये पुनीत कर्तव्य की ज्वाला बन गई है। मैं उनके लिये सगी बहन की तरह प्रिय और वत्सल हो उठी हूँ। पर मेरे लिये जो भगवान से बड़ा था—जो सबसे बढ़कर सत्य था, सबसे बढ़कर सुन्दर था, सबसे बढ़कर मधुर था वह नहीं रह गया। जिस समय लन्दन के सिविल अस्पताल में मरणोन्मुख पड़े उनके हृदय की दशा और अतृप्त प्राण के सन्ताप की कल्पना करती हूँ उस समय मेरे हृदय का स्पंदन रुकने लगता है। प्राण के काया छोड़ते समय जो भयानक शारीरिक यन्त्रणा होती है वह मुझे डसने लगती है। अन्तिम समय एक बार टकटकी लगाकर उन्हें जी भर देख लेती तो शायद यह विकलता—यह हाहाकारी उत्तेजना न होती। पर फिर मैं अभागिन कैसी? संसार में उन्होंने मुझे मनुष्य जान अपनाया। सारी बाधाओं की उपेक्षा कर अपना बलिष्ट हृदय अर्पित किया। इस सर्वस्व समर्पण की मनुहार भरी गूँज एक बार—केवल एक बार उनके अधरों पर लहराई थी। इसके बाद वे बदल गये थे। मेरी ओर भर आँख देखने में भी उन्हें संकोच लगता था। अधिकाधिक आत्मनिष्ठ और जीवन-लीन होते जाते थे। वर्षों उनके निधन को हो चुके। मेरे प्रति विधाता के मन की सारी कलुषित भावनायें जो उनके जीवित रहते उनके भयसे दबी रहती थीं आज अपनी कुरूपता मेरे जीवन पर पूरे वेग से बरसा रही हैं। जैसे सुसज्जित कक्ष में दीपक जलने पर जो अन्धकार भय से आलमारियों और परदों के पीछे छिप जाता है वही दीपक के हट जाने पर प्रकाश के भय से मुक्ति पा पूरे वेग से बाहर निकल आता है। अपने जीवन के अन्धकार की प्रत्येक गति-विधि से परिचित हूँ क्योंकि मेरे जीवन का आलोक-स्तम्भ ढह गया है। मेरी कामना का दीपक बुझ गया। सारे सौख्य और सौन्दर्य की बाती बढ़ चुकी है। भैया का वियोग—उनका मौन, कातर, निष्प्रभ, उदास, सूनापन प्राण का चिर अवरोध बन गया

है। उनके मरने के बाद कई बार लखनऊ गई। बड़े भइया भाभी मुझे देखने आये। तरह-तरह के उपहार दे गये। घर पर आने-दो चार दिन अपने साथ रहने की मिन्नतें कर गये। मैं अब कौन अभिमान लेकर—कौन सा खंडित अहं लेकर वहाँ जाऊँ? लगता है इस उफनते आवेग को लेकर उस बँगले में घुस न सकूँगी। दरवाजे पर ही बेहोश होकर चौखट से टकराती रहूँगी। वह शान्त, गंभीर, आत्मनिमग्न मूर्ति अब वहाँ नहीं है। जिसने एक प्रकार से छाती से लगा कर मुझे इतना बड़ा किया। जो मेरे लिये समस्त आत्मीयों से बड़ा था—जो दुख में सान्त्वना और विपत्ति में आश्रय का प्राण से बड़ा सहारा था।

मैं बहक गई। मेरे सामने भैया हाथ जोड़े खड़े थे। ब्राह्म मुहूर्त की पावन घड़ियों में गाड़ी पूरे वेग से चली जा रही थी। मैंने किसी प्रकार अपने अदम्य आवेग को रोक कर—रुलाई को ठहरा कर कहा—'तुमको माफ़ करने की क्षमता मुझ में नहीं। भगवान का कोई इतना महान् अवतार नहीं हुआ जो तुम्हारा विचार कर सके। जो आजन्म शुद्ध, सत्य, परहित साधु हैं उनको मैं छोटी बहन हूँ। मेरी सारी चंचलता जाती रही है। तुम इस प्रकार बार-बार हाथ जोड़कर मेरा लोक-परलोक न बिगाड़ो। मैं तुमसे अवाध्य नहीं। मुझे आदेश दो। उस आदेश को पालन करने का बल दो। हृदय का भीतरी ठहराव दो। मैं अडिग, अकंपित जीवन-पथ पर चलती जाऊँ। यह गति ही सत्य है—इसका अन्यथा असत्य और मिथ्या। तुमने मुझे क्या कह दिया? ऐसी तीक्ष्ण वेदना सहन कर रहे हो। मैं शपथपूर्वक कहती हूँ। मेरे मन में कोई अभियोग नहीं। तुम्हारे प्रति जिस दिन ऐसी वैसी बात मन में आवेगी उस दिन मुझे जीवित न पावोगे। तुमसे शरम के साथ कहने की या छिपाकर रखने की बात मेरे पास न कभी थी—न कभी होगी। मेरा मन पूर्णरूप से शान्त है। क्या तुम्हें पहचानती नहीं! मुझे अपने रूप को लेकर कोई मिथ्या अभिमान नहीं। अपने व्यक्तित्व को लेकर कोई मुगालता नहीं। यह मेरे दुर्भाग्य को देखकर तुम्हारी करुणा

थी। मुझ गिरी हुई को उठाने के लिये तुम खुद गिरने को तत्पर हो गये। गिरे हुए को उठाने के लिये कभी इतना न झुकना चाहिये। मैं अन्तःकरण से तुम्हारी हूँ। आजीवन तुम्हारी रहूँगी। दुनियाँ की कोई शक्ति मेरे मन, आत्मा को तुमसे विलग नहीं कर सकती। तुम्हीं कहा करते हो—आत्मा निर्मित होकर भी अपने आकार के भीतर नहीं बँधती। वह प्रसरणशील है—बढ़ती जाती है। आलोक के प्रसार की गति उसके सम्मुख हेय है। मैं उसी सामर्थ्य और विभा के साथ तुम्हारी हूँ। तुमने मेरे भीतर अपनी विराट आत्मा की अविनाशी साँस फूँक दी है। वह मुझे कभी विचलित न होने देगी। तुम्हारी क्षुद्र रचना होते हुए भी मैं तुम्हारी सृष्टि हूँ। सृष्टि कभी स्रष्टा से विलग नहीं होती। तुमसे पृथक मैं कहाँ? मुझको अपने से भिन्न कर देखना छोड़ दो भैया! इतने ऊँचे जहाँ तक मेरी वंदना, प्रणाम नहीं पहुँचता। तुम्हें मैं क्षमा करूँगी। तुम्हें मैं माफी दूँ? भिखारिन राजराजेश्वर के अपराध का विचार करे! लहर समुद्र का दंड विधान करे! असंभव है भैया! मैं तुम्हारे पैर पड़ती हूँ। आज ही नहीं आजीवन एक शब्द न कहना। मुझसे तुम्हारा माफी माँगना मेरी याचना का मज़ाक उड़ाना है। इस बात को कभी मुख से न निकालना। मुझे घोर पीड़ा होगी। मुझे कभी तुम दुखी देखना न चाहोगे यह विश्वास मेरा संबल है। तनिक अपने दुख की थाह पाने दो!'

जीवन में यह पहला दिन था जब बड़ी देर तक—सूर्य की लालिमा आकाश में फूटने तक मैं भैया के चरणों पर सिर रक्खे प्रणाम करती रही। लगता था जितनी बार उनके पैर की धूल छूती हूँ उतनी बार नई होकर—अधिक प्राणवान होकर उठ खड़ी होती हूँ।

भैया ने फिर एक शब्द न कहा। रास्ते में हमने बहुत कम बात की। मैं भी अन्तर की आँधी में अपनी शादी में सम्मिलित होने का इसरार उनसे करना भूल गई। मुझे लगता था उनका अभिमान मेरे आँसुओं में बह जायगा। ऐसी अनहोनी घटना हो नहीं

सकती। भैया खुद हारकर मुझे जिताते रहे हैं। मैंने कैरम और पिंग-पौंग में बीसियों बार देखा है। वे जान बूझ कर मुझसे हार जाते थे। वही भैया क्या इतने कठोर हो जाँयगे कि जीवन के इस महत्त्वपूर्ण खेल में मुझे हराकर आप विजय के अहं की पूर्ति करें! नहीं! अपने भैया को मैं हड्डी-हड्डी, मज्जा-मज्जा, पोर-पोर, खन्ड-खन्ड तक जानती हूँ। मेरे विवाह में अवश्य रहेंगे। मैं उनकी आँख में भ्रातृत्व की मंगल-आकांक्षा के—विमल स्नेह के दो बूँद देखकर अपने नये घर जाऊँगी। उनका स्निग्ध, कोमल और प्रीति के माधुर्य से मंडित प्रतिरूप छाती में बिठाये जब मैं भगवान् से अपने कल्याण की प्रार्थना करूँगी तब मेरी विनती और आतुर, और विकल, और भी उत्सर्गमयी हो जायगी.....

बनारस स्टेशन पर उतर कर हम लोग प्लेटफार्म पर खड़े हुए। एक भद्र पुरुष लपकते हुए आये। भैया के कंधों पर दोनों हाथ रखकर सामने मुस्कराने लगे। उनको देखकर और अप्रत्याशित रूप में पाकर भैया का प्रत्येक अवयव हँसने लगा। उनके मन की मुग्धता चाँदनी बनकर चेहरे पर खिल उठी। बोले—'अरे आप! आप यहाँ कहाँ महाराज!'

'एक कवि सम्मेलन में आया था। कालेज में परीक्षायें चल रही हैं। आने की इच्छा बिल्कुल न थी। कवि सम्मेलन में जाते जाते ऊब गया हूँ। प्रोफेसर शर्मा मेरे अभिन्न मित्र हैं। उनका आग्रह था। तुम यहाँ कैसे?'

'मेरी छोटी बहन मंजरी है इन्टर देने आई है। इन्हें प्रणाम करो मंजु! हाथ जोड़ कर नमस्ते नहीं। पैर पर सिर रख कर प्रणाम। यही प्रकाश हैं जिनके विषय में तुमसे घण्टों बात होती हैं। इनकी रचनाओं से मेरी आत्मा तृप्त हो जाती है।'

मैं उनके पैरों पर सिर रखने झुकी थी कि उन्होंने संकुचित और परेशान हो मेरी पीठ पकड़ कर उठा लिया। सिर पर हाथ फेर कर जैसे मुझे मन ही मन आशीर्वाद दिया। मैं हट कर भैया के पास आ फिर खड़ी हो गई। अब ध्यान से उन्हें देखा। दुबले, पतले, पीले

सुकुमार, अत्यन्त वत्सल प्रकृति के जान पड़े। चेहरे पर विषाद की पीतिमा और वर्ण की गौरता के मेल से विचित्र आकर्षण उत्पन्न हो गया था। कृश होते हुये भी शरीर से लावण्य छलका पड़ता था। अवस्था लगभग तीस वर्ष होगी। कुछ कुछ धँसी आँखों में एक भेदक तीक्ष्णता थी जो मर्म में पैठ जाने की शक्ति रखती थी। जाने कितना साहित्य इन पुतलियों के नीचे उतर गया होगा! पूरे मुख पर गहरी वेदना की जल्द न दिखाई देने वाली छाया थी जो उनके कवित्वपूर्ण मुख को और मृदुता प्रदान करती थी। बीच-बीच में आँखों से प्रचण्ड आत्म-विश्वास की दीप्ति निकलती थी। उनमें एक सजीव जिज्ञासा—एक उत्कट सप्रश्नता—एक 'इन्टरोगेशन' था जो पुकार-पुकार कर कहता था—मैं जानना चाहता हूँ। मैं ज्यादा जानना चाहता हूँ। मैं चंचल और अधीर हूँ। मैं विस्मय और कौतूहल का प्यासा हूँ। शायद मानव की यह मौलिक जिज्ञासा विश्व को चलाती है। उसका यह भूखा असंतोष संसार को गति देता है। आदर से मैं सहम गई। उनकी विद्युत-तरंगपूर्ण आँखों की ओर अधिक न देख सकी।

'मंजु! तुझे इनके सामने शरमाने की जरूरत नहीं। ये मेरे बड़े भाई हैं और तेरे भी। तेरा सौभाग्य है यहाँ मिल गये। मैं मिलता रहता हूँ। तुझे यह अवसर कहाँ मिलता? तू जानती है मैं इनकी कितनी भक्ति करता हूँ। अधुनिक साहित्य के महाप्राण नायक हैं। आज इन्हें हिन्दी-भाषी हिन्दुस्तान जानता है। वह दिन जल्द आयेगा जब इन्हें संसार जानेगा।'

'चाँद! तुम्हारा चेहरा इतना उतरा क्यों है। लगता है 'इमोशनल क्राइसेस' से निकल कर आ रहे हो। चलो चाय पियें! सामान पड़ा रहने दो। चलो मंजु!

'आप सीधे नागपुर जाँयगे? एक दिन के लिए लखनऊ चलिए। यूनिवर्सिटी में आनन्द की लहर आ जायगी।'

न भाई ! समय नहीं ! प्रयाग में मेरे एक रिस्तेदार हैं। उनके लड़के की शादी मई में होने जा रही है। उनके यहाँ जाना है। पिताजी ने कहा है। संभव है हम लोग विवाह में न आ सकें। एक दिन प्रयाग—वहाँ से सीधे नागपुर।'

चाय पीते समय भैया और उनमें बराबर बात होती रही। मैं कुछ न बोली। बीच-बीच में वे मेरी ओर कोमल, प्यारी लगने वाली दृष्टि से देख लेते थे। उनकी चाल-ढाल और बात में दुर्दमनीय आकर्षण था। भैया ने एक बार बतलाया था जब वे लखनऊ में पढ़ते थे तो उनके चरित्र को लेकर बड़ी चर्चायें चला करती थीं। पर वे दृढ़ और निर्दोष व्यक्ति हैं। मुझे विश्वास होने लगा—किसी स्त्री या पुरुष के लिये इस व्यक्ति को देख कर एक दैवी विस्मय, एक हुलास अपने भीतर न अनुभव करना असंभव है। ऐसे ही होते होंगे वे जिनके पीछे लोग बड़ी-बड़ी संख्याओं में मंत्रमुग्ध चलते हैं। कभी कहीं कोई विराम नहीं माँगते।

चाय पीकर जब उठने को हुये तो मैंने कहा—'आप की कविता सुनने की प्रबल इच्छा है। फिर कभी दर्शन का सुयोग पा सकूँगी या नहीं कौन जाने ! भैया के मुँह से सैकड़ों बार सुनी हैं। कवि की स्वर-लहरी की मिठास दूसरी ही होती है। आप हम लोगों के साथ चलें। आज रुक जाँय। मेरे लिये यह सब धृष्टता है। पर भैया के नाते कह सकती हूँ।

'जरूर! तुम जो चाँद से कह सकती हो वह सब मुझसे कह सकती हो। कविता की जैसी तीक्ष्ण रसानुभूति और मार्मिक भावुकता इनमें है वैसी मैंने बड़े-बड़े आलोचकों में नहीं देखी। तुम इनकी बहन होने के कारण वैसी ही काव्यमर्मज्ञा होगी। तुम्हें कविता सुनाने में मुझे खुशी होगी। खेद यह है तुम लोगों के साथ अधिक न रुक सकूँगा।'

मैं अपनी प्रशंसा सुनकर लज्जा से लाल हो गई। भैया के प्रकाश में मैं जितनी उजली, आभामय दिखती हूँ। मैं उनकी बहन हूँ। मुझे

काव्य-रसिका होना ही चाहिए ! नहीं—काव्यमर्मज्ञ अर्थात् पारखी और गुण दोष का विवेचक। कितना बड़ा सम्मान कवि ने मुझे दे डाला—इतने से परिचय में।

उठ कर हम लोग बाहर निकले। बड़े भैया की मोटर लेने आई थी। हम लोग उनके बँगले पर आये। रास्ते भर भैया से उनकी बात होती रही। भैया उन्हें पाकर सब कुछ भूल गये थे। मैं मुग्ध-मन से उनका प्रभावोत्पादक विश्लेषण सुन रही थी। अधिकतर बातचीत सामाजिक जीवन की लेकर थी। भैया ने कहा—'प्रकाश ! मंजु बिना कविता सुने तुम्हें आने न देगी। देखने में गिलहरी जैसी है। किसी विषय पर बात करो ! तुम्हें मालूम होगा कितनी पढ़ी-लिखी और 'थाट-फुल' है। तुम्हारी बोसियों कवितायें इसे याद है। तुम्हारी कहानियों को लेकर अक्सर मुझसे बात किया करती है। मैं तुम पर श्रद्धा रखता हूँ। जहाँ श्रद्धा होती है वहाँ आलोचना की गुंजाइश कहाँ ?'

'यह गलत है चाँद ! अन्ध अश्रद्धा की भाँति अन्ध श्रद्धा भी खतरनाक है। बिना तर्क और बुद्धि की कसौटी पर कसे किसी वस्तु को स्वीकार न करना चाहिए। यही सृष्टि का रहस्य है। मानता हूँ बिना श्रद्धा के मानव की दृष्टि अंतरमुखी नहीं होती। तब तक वह जीवन की अनिर्वचनीय तन्मयता से वंचित रहती है। पर अपने भीतर सब कुछ नहीं देखा जा सकता। बाहर ही जीवन की ज्ञानमय पूर्णता मिलती है। वह शब्द, भाव, प्रणाली के द्वारा नहीं सामाजिक संबंध के सूत्र पर गतिशील होती है। अत्यधिक आन्तरिकता मानव के इन संबंध सूत्रों को छिन्न-भिन्न कर देती है। वह जितना अधिक स्वान्त को स्नेह करने लगता है उतना ही बाह्य से घृणा। ऐसी श्रद्धा या पूज्य बुद्धि किस काम की जो घृणा को जन्म दे। हमारे देश में प्रेम को स्थान कहाँ ? हम सब घृणा के बल पर जीते हैं। शायद यहाँ की जलवायु का प्रभाव है। दूसरी बात मेरी समझ में नहीं आती। अपने सामाजिक जीवन, राजनैतिक जीवन, आर्थिक जीवन सब में हम एक दूसरे से घृणा करते हैं। अमीर गरीबों से घृणा करते हैं

और गरीब अमीरों से। पतिव्रता वेश्या से घृणा करती है। वेश्या पतिव्रता से। छात्र अध्यापक से घृणा करते हैं। अध्यापक छात्र से। सरकार जनता से नफ़रत करती है। जनता सरकार से। मरीज़ डाक्टर से घृणा करते हैं। प्यार शायद करते हैं तो नर्सों को। में कह नहीं सकता। मेडिकल कालेज के हाल तुम अधिक बता सकते हो।'

भैया जोर से हँस पड़े। मुझे बड़ा कौतुक लगा। मैंने कहा—'क्या आप जीवन से घृणा को बिल्कुल निकाल देना चाहते हैं। बहुत सी बातें ऐसी हैं जिनके लिए एक तीव्र घृणा का भाव होना ही चाहिए। वरना मानव की संस्कार-शीलता में कमी रह जायगी। इस विदेशी आततायी सरकार को लीजिए। जब तक हमारे मन में उसके प्रति भयानक, मारात्मक घृणा का भाव न होगा जब तक हम उसे कैसे नष्ट करेंगे? उसका नाश प्रेम से नहीं घृणा से होगा। जैसे शरीर के लिए 'कास्टिक' और 'एसिड' ज़रूरी हैं वैसे स्वभाव के स्वास्थ्य के लिए तीखी प्रतिहिंसात्मक घृणा।

भैया ने कहा—'मंजु ठीक कहती है प्रकाश! आदिम काल से लेकर आज तक मनुष्य अपने से बड़ी निर्दयता की शक्तियों के विरुद्ध विद्रोह करता रहा है। बुद्ध, मुहम्मद, ईसा, सम्राट् चार्ल्स का शिरोच्छेदन, फ्रांस के गिलोटीन, 'कम्यून' अक्टूबर की लाल क्रान्ति, मेड्रिड की सिविल वार! यह तूफान, यह प्लावन, यह उल्कापात दुर्दमनीय होता है। कौन इसे रोकेगा? कौन इसका मार्ग अवरोध करेगा। गोलियों, टैंकों बमों से तुम इसको भून डालो। टुकड़े-टुकड़े कर डालो। यह फिर जुड़ जायगा। मानव की आत्मा का ज्वालामुखी है यह। उसके अहं का बल है। पर यह आया कहाँ से! इसके मूल में वही प्रबुद्ध घृणा है जो अन्याय से लड़ना और न्याय की रक्षा करना सिखलाती है। मानता हूँ हमारा देश घृणा का देश है। इसका कारण इसकी आबहवा नहीं—इसकी भयानक गरीबी बेकारी, आर्थिक शोषण, पार्थिव रंकता है। नर्सों के अलावा भी अन्य स्थान हैं जहाँ प्रेम की स्निग्धता बिखरी रहती है। प्रेम सामूहिक उपलब्धि

नहीं वैयक्तिक परिपूर्णता और आत्म-प्रतीति है। जाने दो इन बातों को! चलो उतरो!'

दरवाजे पर भैया की माँ और भाभी खड़ी हम लोगों का रास्ता देख रही थीं। भैया ने पहले से कार भेजने को लिख लिया था। प्रकाश को वहाँ सब लोग पहचानते थे। भाभी ने देखते ही कहा—'आइये कवि जी! स्वागत है! आप इन लोगों के साथ कहाँ? लखनऊ से आ रहे हैं क्या?'

'जी नहीं! यहीं एक काम से आया था। दोपहर को जा रहा हूँ। चाँद स्टेशन से पकड़ लाया। आप आनन्दपूर्वक हैं? बच्चे और भाई साहब भी?'

'बेटी! रास्ते में तकलीफ़ तो नहीं हुई?'—भैया की बूढ़ी माँ ने मेरी ओर मुड़कर कहा।

'तकलीफ़ कैसी माँ! भैया साथ थे। कल लौट जाने को कह रहे हैं। मैं कहती हूँ माँ के पास एक हफ्ते रह लो। कहते हैं पढ़ना है। इतना पढ़ते रहते हैं—अभी कुछ बाकी है! आप इन्हें नहीं जानतीं माँ?'

'नहीं बेटी! पहले कभी देखा नहीं।'

'ये हैं प्रकाश बाबू। बहुत बड़े लेखक और कवि। भैया के खास दोस्त हैं। नागपूर में प्रोफेसर हैं। हम लोगों को कविता सुनायेंगे। सुनना माँ!'

'जरूर सुनूँगी बेटी! चाँद भीतर चल। यहाँ क्या खड़ा है। बहू! चाय-पानी का प्रबन्ध करो।'

हम लोग आकर ड्राइङ्ग रूम में बैठे। बड़े भैया किसी से मिलने गए थे। चाँद भैया ने कहा—'प्रकाश! खाना खाकर एक बजे जाना। गाड़ी दो बजे जाती है। शर्माजी ने तुम्हें क्यों इतने जल्द स्टेशन जाने दिया? क्या इलाहाबाद वाली ट्रेन के लिए आये थे।'

'हाँ! सोचता हूँ अब प्रयाग न ठहरूँगा। सीधे नागपूर जाऊँगा।'

'चाय पीने के बाद सब लोग कविता सुनने बैठे। उन्होंने दो तीन कवितायें सुनाईं। कविताओं के सौंदर्य और मार्मिकता का कहना क्या! सब लोग झूम पड़े। भाभी ने उच्छ्वासपूर्ण कंठ से कहा—'आज मंजु आई है इसलिए कवि आये हैं। दो दिन से बनारस में है। हमारे यहाँ आते न! मैंने सुन रखा है कवि कमसिन लड़कियों का बड़ा ख्याल रखते हैं।'

'कमसिन और सिन-रसीदा दोनों का भाभी जी! आप क्यों अपने को भूल रही हैं? यह लोग बच्ची है। आप जीवन की गाठें सुलझा चुकी हैं। कवियों की भूख, प्यास कहीं अच्छी तरह समझती हैं।'

'भैया जोर से हँस पड़े। बोले—'सँभालो भाभी! यह चाँद नहीं है। तुम हँसी मज़ाक करोगी तो हया की बदली में छिप जायगा। यह प्रकाश है—प्रखर और ज्वलन्त। किसी कमरे में कहीं भागोगी बराबर पीछा करेगा।'

मुझे हँसी में आनन्द आ रहा था। मैंने आग्रहपूर्वक कहा—'और सुना दीजिए। जी भरा नहीं। जी दर्जनों सुनने पर न भरेगा। आप एक और सुना दीजिए!'

'कौन सुनाऊँ?'

मैंने कहा—'भैया! कौन सी सुनोगे?'

'तू बता। सुनेगी तू—चुनूँ मैं! बोल जल्दी। कवि का 'मूड' निकल जायगा तो मुश्किल में पड़ जायगी।

मैंने कहा—'सुनाइये—'मैं तुम्हारी प्यास का प्रतिबिंब बनकर रह गई!' उन्होने सुनाना शुरू किया। गले में विशेष माधुर्य नहीं। कलावान के अलंकरण नहीं। गायक जैसा स्वरों पर अधिकार, आरोह, अवरोह का विन्यास नहीं पर सुनने वाले मंत्रमुग्ध, स्तब्ध, एक-प्राण क्यों हो जाते हैं? भावों की लहरें उठती हैं उन्हें कोई क्या करे? अंगूर के बन में बजती बेला की घनत्वभरी स्वरराशि प्राण में एक आर्द्रता, एक वाष्पता जगा देती है। भीतर-भीतर एक अचीन्ही आकुलता—एक

अविदित ऊष्मा जाग उठती है। वहाँ बैठे हुये सब लोगों के निश्वास उनकी कंठ-ध्वनि के इङ्गित का अनुसरण कर रहे थे। करुणा की अदमनीय विकलता हृदय में जाने किस अनुपेक्षणीय अनुनय का उद्रेक कर रही थी। भाभी के चेहरे पर पसीनें की बूँदे दीपदंडों की असंख्य ज्वालाओं की भाँति काँप रही थीं। उनसे एक उज्ज्वल प्रकाश अपलक, अवाक, अवदात होकर छन रहा था। मेरी दशा विचित्र थीं। आत्म-विस्मृत कर देने वाले मधुर शैथिल्य से मेरी आत्मा भर गई थी। सारी मर्मान्तक वेदना, उद्विग्नता, हृदय के पंखों को फड़फड़ाने वाली पीड़ा, चिन्ता, उग्र क्लान्ति न जाने कहाँ विलीन हो गई थी। जैसे सहचर को खोज में उत्साहित उमंगिति मराली ने राजहंस का ऋतुकालीन आह्वान सुना हो। भावावेग के कारण वहाँ बैठ न सकी। कमरे से बाहर निकल कर फौरन दूसरी ओर चली गई।

उन्होंने और कविता नहीं सुनाई। भाभी और माँ उठकर अपने काम से चली गईं। खाना तैयार होने में देर थी। भैया माँ के पूजन के कमरे की ओर चले गए थे। पन्द्रह-बीस मिनट के बाद मैं प्रकृतिस्थ हो चुप चाप आकर सोफे पर बैठ गईं। वे नीची दृष्टि किये न जाने क्या सोच रहे थे। मुझे देखते ही शान्त स्वर में बोले--'आपकी परीक्षा कल से है? चाँद आपकी बड़ी तारीफ कर रहा था। आपको यूनिवर्सिटी में 'पोजीशन लानी चाहिए!"

मैंने विनय से अभिभूत हो कहा--'भैया यों ही तारीफ कर दिया करते हैं। मुझे आप कह कर शर्मिन्दा न करिये। आपसे मैं कितनी छोटी हूँ। भैया के नाते आपको मुझे इस प्रकार संबोधित न करना चाहिए।'

उनके चेहरे पर कौतुकभरी मुस्कान फूट आई। हँसी-मज़ाक में, आमोद अल्हाद में, लाड़ प्यार में, निविड़ घनिष्टता में सब जगह यह हँसी! इस प्रकार बिना धीमी चोट तक किसी को पहुँचाये ममता को शराबी चाँदनी बिखरा देने वाली यह हँसी! उस मूर्ति को फिर भूल

नहीं सकी। आज भी उसको देखने के लिए आँखें मीचने की ज़रूरत नहीं पड़ती। खुली आँखों से ही उठते-बैठते वह मुझे दिखाई पड़ती है।'

'अच्छी बात है। तुम कहूँगा। यह कोई महत्व की बात नहीं।'

'आपके निकट न हो—मेरे निकट है और रहेगी। आप दो घण्टे बाद चले जाँयगे। आपकी प्रेरणाप्रद उपस्थिति में बीते ये कुछ घण्टे मेरे लिए गौरव और अभिमान के स्थायी भाव बन जाँयगे वर्षों से भैया के मुख से आपकी कीर्ति सुनती रही हूँ! मन ही मन आपके प्रति गहरी भक्ति पुञ्जीभूत हो गई। भैया से मैंने बीसियों बार पूछा होगा। वे मुझे नहीं बतला पाये। आप बतलाइये—कैसे ये कवितायें आप लिखते हैं? कहाँ से उड़-उड़कर ये सजीव सपने आपकी आँखों में मँडराते हैं? केवल कविता नहीं आपकी कोई रचना पढ़कर मन में कहाँ का आह्वान जाग उठता है? भावना अपने उदास सजल नेत्र खोल कर मुग्ध मन की चाँदनी में किस अचीन्हें संसार को अर्द्ध-निमीलित नयनों से देखने लगती है? जीवन की सारी संकीर्णताओं से मुक्ति मिल जाती है। एक अलौकिक परिव्याप्ति के बोध से गतिशील जीवन एकाएक ठिठककर रुक जाता है। न जानती थी आज के पहले—संसार में कोई चीज है जो कविता के छंद-छंद में इस प्रकार विद्धता से कसक सकती है! कविता पढ़ते समय किसी के चेहरे पर ऐसे अदृष्टपूर्व भावों की पारदर्शिता लहरा उठती मैंने न जाना था।'

उन्होंने झुकते हुए कहा—'जाने दो! इन बातों का उत्तर मेरे पास नहीं। मैंने कभी अपने साहित्य को इतना महत्व नहीं दिया। तुम लोगों को मेरी कवितायें भाती हैं। संभवतः इसलिये कि लेखक के भावों में प्रेरकता है। इससे अधिक मेरा कृतित्व नहीं। हिन्दी में मेरे जैसे दरजनों लेखक और कवि हैं। आप उनकी रचनायें पढ़ेंगी तो आपको यही सन्तोष मिलेगा। चाँद को इसलिए पसन्द आती हैं कि उसमें 'फील' करने की संवेदना मेरी जैसी है। आखिर नर नारी के नश्वर शरीर का

आश्रय लेकर ही सृष्टि का—जीवन का—मानवता का अविनश्वर सत्य प्रतिफलित होता है ! मैंने नारी को कभी वैसे नहीं देखा जैसे वह स्वयं अपना 'मेकअप' करने के बाद शृङ्गार-कक्ष के दर्पण में अपने को प्रतिबिम्बित पाती है। इसलिये मैं उसके व्याकुल प्राण का अवरुद्ध आर्तनाद सुन पाता हूँ। नारी के अधिकारों और मानवीय प्रयोजनों से मेरा सजीव सम्बन्ध है। मैं उसको समाज की बेल से फल को मिलाये रखने वाली टहनी मानता हूँ। टहनी के टूटने से फल खेत में गिर कर सड़ता रहेगा—बढ़ेगा नहीं।'

भैया माँ से बात कर आ गये थे। बोले—'प्रकाश ! बराबर मंजु मुझसे यह प्रश्न पूछा करती है। इस का उत्तर मैं नहीं दे पाता। और जो पूछती है—किसी न किसी प्रकार बता देता हूँ। यहाँ मौन हो जाता हूँ। प्रश्न 'चाइल्डिश' है। तुम कैसे इतनी चोट करने वाली रचनायें लिख लेते हो। मैंने एक बार मज़ाक किया था—'मंजु ! कैसे तू इतनी सुस्वादु, खाने के बाद भी घंटों याद रहने वाली तरकारियाँ बना लेती है ? इतनी लज़ीज़ दाल और पराठे तैयार कर लेती है। कोई सवाल है यह ! तुमसे पूछे बगैर इससे रहा न गया होगा। किसी और विषय पर बात की होती !'

भैया पहले जैसे अभी न हो पाये थे। इसके प्राण के पीछे लगा मेरे जीवन का द्वन्द्व साथ चल रहा था। उनकी बात और स्वयं को बहलाने वाली गतिविधि से यह जान पड़ता था। उनके रूप और सादगी के आकर्षण से प्रोज्वल सौजन्य के भीतर मेरी आत्मरक्षा की संकुचित सतर्कता का दारुण विरोध ढका न रह पाता था। उनकी आशंका अवसाद और त्रास से चुटीली हो गई थी। एक अपरिसीम रहस्यमयी शक्ति के प्रति मुझ क्षुद्र मानवी का आत्मसमर्पण उनके भीतर तरंगायित आत्मीयता की धार को और उग्र कर देता था। मुझसे यह सब कैसे छिप सकता था ? स्त्री की आँख और बुद्धि इन मामलों में तीक्ष्ण होती है। अपने भीतर के पारस्परिक विरोध के कारण उसका

अहसास अत्यन्त गतिशील होता है। अभिशाप की दारुणता वह दूर से देखते ही पहचान लेती है। जब-जब उसकी शक्तियों के साथ कोई खिलवाड़ करने लगता है तब-तब वह स्वयं स्थिर रह कर भी अपने प्रभाव से दूसरी वस्तुओं को गतिवान कर देती है। यही उसका नारीत्व है।

मैंने कहा—'भैया! खाना बनाना और साहित्य रचना को एक में न मिलाओ। भगवान और कुम्हार में प्रतिद्वन्द्विता चल निकलेगी। मैंने सहज भाव से 'पूछा' था। आप बता रहे थे। तुमने विचार का सिलसिला तोड़ दिया।'

'तुम जोड़ दो मंजु!' भैया ने चौमासे की धूप जैसी स्निग्धता से कहा—'प्रकाश! तुम जो कह रहे थे कहो न! मैं समझता हूँ तुम्हारे साहित्य का मूल स्वर है आत्मदाह जो विश्वबोध की सिल्ली पर निरन्तर पैना होता चला गया है। हमारे यहाँ एक मुश्किल है। लेखक और कवि अतिवादी होते है। बहिर्मुख हुए तो इतने हो जाँयगे कि व्यक्ति की सत्ता और शक्ति से ही इन्कार करने लगेंगे। युगयुग से मानव को परिचालित करती आई उन व्यापकतम, सूक्ष्मातिसूक्ष्म संस्कार-तरंगों को वे भूल जाते हैं जिन्हे हमने विकास, क्रम की लम्बी क्रिया में अपने रक्त, माँस मज्जा के अन्दर प्राप्त किया है। जिनको खोकर इन्सान भिखारी बन जाता है। जिन्हें रक्षित रख वह मानव की संज्ञा पाता है। यदि अन्तर्मुख हुए तो अपने अहंग्रस्त व्यक्तित्व को—निष्फल आत्मपीड़न से प्रतिक्षण प्रवंचित अपने स्वान्त को ही अपनी गति का केन्द्र बना लेते हैं। उसी को लेकर अपने को बड़ा मानकर न केवल अपने को वरन् सारी दुनिया को ठगते रहते हैं। ये सब प्रश्न के केवल एक पहलू हैं। किसी एक के प्रति असंतुलित मोह प्रकट करना झूठी भावुकता है। ऐसी झूठी भावुकता का एक उदाहरण दूँ। लखनऊ में एक सज्जन हैं। अपनी गुजराती वैष्णवता और अहिंसा के लिये प्रसिद्ध है। कवितायें लिखते हैं—लेख, प्रवचन सब कुछ। किताब की बड़ी दूकान है। मतलब खाने-पीने की ओर से औसत साहित्यिक की अपेक्षा कहीं अधिक निश्चिन्त हैं।

गत वर्ष उनकी पत्नी का देहान्त हो गया। आठ दिन का नवजात शिशु छोड़कर 'सेप्टिक' में चल बसी। सुना है बेचारे अपनी पत्नी को बहुत प्यार करते थे। पर उसकी मृत्यु के चार महीने के भीतर उन्होंने ताज़ा विवाह किया। बच्चे को बहनें और भाभियाँ पालती थीं। वे नई बहू रूपी जीवन-चक्र की धुरी पर घूम रहे थे। विधाता को उनका सुख मंजूर न था। बच्चा आठ दस महीने का होकर मर गया। कोई महत्त्व की घटना न थी। पर उनके राष्ट्रीय मित्रों ने यह समाचार एक स्थानीय अखबार में छपा दिया। बेचारे दुख से अभिभूत थे। आठ दस दिन तक दूकान न खोली। एक दिन व्यवहारवादी पिता ने समझाया तब जैन साहित्यिक को धीरज बँधा! दूकान खुलने लगी। मुसीबत का मारा मैं एक दिन सम्वेदना प्रकट करने पहुँच गया। उनकी आँखें छलछला उठीं। बोले—'कपूर! मुझे बच्चे के मरने का ग़म नहीं। पर 'उसकी' एक स्मृति थी जो चली गई। अपनी निशानी छोड़ गयी थी। उसने वापस ले ली। यही मुझे दुख है। वर्ना आठ-दस महीने के बच्चे के लिये ऐसा मोह न होता। 'उसकी' (पहली पत्नी की) स्मृति जाती रही। मैं भूल गया—उनके शोक में सम्वेदना प्रकट करने आया हूँ। यह भयानक आत्म-विडम्बना देखकर मेरे रोम-रोम से नफ़रत की चिनगारियाँ निकलने लगीं। बोला—'आप उस सौभाग्यशालिनी की स्मृति के चले जाने पर विलाप कर रहे हैं जिसके मरने के साल दो साल बाद तक आपसे प्रतीक्षा न की गई। अपनी पाशविक वासना की पूर्ति की आवश्यकता के कारण जिसके मरने के दो तीन महीने के भीतर आपको एक पन्द्रह वर्ष की कुमारिका लानी ही पड़ी। कुछ तो शर्म करो भाई! क्यों अपने को इस आदिम सरलता के साथ छल रहे हो? क्यों अपनी आत्मा को धोखा देते हो? उसकी स्मृति का आदर और अपनत्व तुम्हारे मन में होता तो उसके मरने के बाद नया विवाह न करते। अपनी कामुकता का नया भोगस्थल ढूँढ़ लाने की ऐसी पशुत्वपूर्ण शीघ्रता तुम्हें न होती! झूठी बात कह कर अपने को विकृत न करो। तुम साहित्यिक हो—माना

पर ऐसी झूठी भावुकता तुम्हें शोभा नहीं देती। यही झूठी भावुकता और आत्मवाद हमारे साहित्य में उफना रहा है! एक ओर गाँधीवादियों की 'हिपोक्रेसी' है दूसरी ओर तथाकथित मार्क्सवादियों और साम्यवादियों का एक ही 'पैटर्न' लेकर चलने वाला निरसवादी जो साहित्य-सृजन को केवल अपने दल के उद्देश्य की पूर्ति का साधन मानता है। फिर जीवन की प्राणवानता और सामाजिक आन्दोलनों का प्रवहवान कर्मरस कहाँ मिले? जो मिलता है, उसमें लगता है—जीवन यातो सिनेमा के सस्ते अखबारों में छपने वाला अर्ध-अश्लील, स्थूल, शृङ्गारोत्तेजक विज्ञापन है या कार्नेवाल-का जुआ। जो तनिक ऊँचे स्तर के लेखक होते हैं वे जीवन को अधिक से अधिक एक उपन्यास चित्रित कर देते हैं। क्या जीवन—एक पराधीन देश का जीवन यही है?

मैं ऊब कर उनकी ओर देखने लगी। अपनी रचनाओं में जीवन का बौद्धिक शक्ति से पूर्ण संघर्षशील रूप लेकर वे चलते हैं। फिर भी सारी क्रिया मानवीय आराधना की दीप्ति से उजागर रहती है। उनकी कृतियों में जीवन का सस्ता, ओछा, प्रदर्शनशील, 'पीकाक' रूप नहीं मिलता जो लगभग सब वस्तुवादी और कलावादी लेखकों में पाया जाता है। भैया के उत्तर में वे क्या कहेंगे—मैं सुनना चाहती थी। उन्होंने चाँद भैया की बात का समर्थन करते हुए कहा— 'ठीक कहते हो चाँद! पर इतना ही नहीं। और बड़ी-बड़ी मनोवैज्ञानिक गुत्थियाँ हैं जो साहित्य की धारा के मूल में अवरोध बनी पड़ी हैं। वे हमारी सांस्कृतिक जागरुकता की शक्तियों से प्रतिक्षण टक्कर लेती हैं। यही कारण है हमारे यहाँ नित्य, ध्रुव आत्मा के सामने पार्थिव जीवन को कोई महत्त्व नहीं दिया जाता। यह हमारा जातिगत संस्कार है जिसे सदियों की पराधीनता ने और गहरा कर दिया है। मैं अपनी रचनाओं में जीवन से इन्कार नहीं करता। जीवन नदी का प्रवाह है जो हर क्षण नया होता है। मैं जीवन को सदा नया बनते रहने का क्रम मानता हूँ। मैं जीवन के निरन्तर उच्चतर रूप में जाते रहने की संभावना को ही संसार में ध्रुव मानता हूँ। यदि

जीवन में विद्यापति की राधिका के प्रेम की तरह नित नित नूतन होने की क्षमता न होती तो मानव-प्रगति के मार्ग बन्द हो गये होते। मनुष्य के सुधार और परिष्कार की कोई रूपरेखा न रहती। हमारे सारे सुकर्म, सुविचार, सुवचन और आदर्शोद्रेक के प्रयत्न निष्फल होते। चिरन्तन, शाश्वत, नित्य, ध्रुव जीवन पर उनका कोई प्रभाव न पड़ता। जो जीवन को नित्य और ध्रुव मानेगा वह उसे बदलने की चेष्टा क्यों करने लगा? इस मिथ्या भावना से केवल अकर्मण्यता फैलती है। मानव सिर्फ भाग्यवादी—अकर्मण्यतावादी बनता है। इस जीवन-दर्शन को लेकर चलने वाला साहित्य जीवन के बराबर उच्च होते हुए रूप को कहाँ देख सकता है? दुनियाँ को वर्तमान स्थिति से अच्छी स्थिति में पहुँचाने का क्रियावाद उसमें कैसे आयगा?'

'तुम आत्मा का अस्तित्व नहीं मानते। तभी तुम्हारे आलोचक तुम्हें नास्तिक कहते हैं। मेरा तुमसे मतभेद है प्रकाश! जो आत्मा को नहीं मानता वह व्यक्ति की विशाल जीवनी-शक्ति से इन्कार करता है। मैं आत्मा को शरीर से अलग जरूर मानता हूँ। तिल तिल कर शारीरिक परिताप सहने से—अवाँछनीय दमन और निग्रह से मनुष्य का शरीर निष्पाप हो जाता है। पर आत्मा निष्पाप नहीं होती। किसी प्रकार के अभाव की प्रताड़ना सहने से जीवन की शुद्धि नहीं होती। आत्मा की ज्योति नहीं बढ़ती। इन साधनाओं और स्वआरोपित कठोरताओं का जीवन पर कभी—कोई प्रभाव नहीं पड़ता। आत्मा पर प्रभाव डालते हैं हमारे विचार, मन का संयम। राग, द्वेष, मोह को कम करने के लिये—उनके कारणों को दूर करने की चेष्टा। तभी प्रस्तरीभूत जीवन के भीतर से चैतन्य की धारा फूटती है। उस निरुपम आलोक-शिखा का उद्गम मानव के भीतर होता है जिसे वेदों में 'चैत्य पुरुष' के नाम से पुकारा गया है। इसी उदात्त क्रिया को श्रीअरविंद ने 'साइकिकाइजेशन' कहा है। पर तुम से सब कहना व्यर्थ है। तुम्हारी कवितायें पढ़कर लगता है—तुम पहले आत्मा का अस्तित्व मानते थे। वरना प्रेम की

ऐसी तन्मय निविड़ता—उद्दाम परिपूर्णता तुम्हारे काव्य में कहाँ से आई ? आज तुम केवल स्मृतियों के गायक हो। क्रिया से दूर केवल क्रियाभास में तुम ऐसी मोहक चमक कहाँ से उत्पन्न कर देते हो ? मैं तुम्हें कल्पनावादी नहीं, पदार्थवादी और यथार्थवादी समझता हूँ। बाद में किसी कारणवश अवश्य तुम्हारी आत्मिक उपलब्धि की आकाँक्षा नहीं पूर्ण हुई। तुम्हारी आत्मा का चेतनाधार खंडित हो गया। इस तरह के धक्के जीवन में लगते हैं। मन की सारी आस्था और एकनिष्ठता जाती रहती है। भयानक संशय जीवन में भर जाता है। तुम्हारी रचनायें पढ़ने से एक सदेह 'शेक'—एक साकार 'फ्रस्टेशन' का अनुभूति होती है। लगता है इस व्यक्ति के ऊपर कभी इतना बड़ा पहाड़ गिर चुका है, जिसकी अवचेतन आशंका—जिसकी अत्यंत प्रिय लगने वाली याद आज भी हाहाकार करती है। मंजु ! देखो बहन ! खाने में कितनी देर है ? भाभी से पूछो जाकर। प्रकाश को जाना है।'

मैं लौट कर अपने साथ थालियाँ लगवाती लाई। भैया और वे भोजन करने लगे। मुझसे आग्रह किया गया। मैंने कहा—'आप लोग खाइए। मैं बाद में माँजी, भाभी के साथ.....'

भैया मेरे स्वभाव से परिचित थे। उन्होंने अधिक आग्रह न किया। पर वे बोले—'मंजु ! तुम हम लोगों के साथ क्यों नहीं खाती ? टेबिल कुर्सी पर खाने में तुम्हें संकोच हो रहा है, यह मैं नहीं मानता। पर....' —कहते-कहते वे न जाने क्या सोचकर जोर से हँस पड़े।

मैंने चिढ़ कर कहा—'हम लोग साहब नहीं- भारतीय हैं। हमारे घरों की एक मर्यादा है। भाभी और माँ के साथ भोजन न कर मैं यहाँ आप लोगों के साथ भोजन करूँगी तो कितना अशोभन दिखेगा। आप पश्चिमी ढंग पर सब कुछ चाहते हैं। हम लोग आत्मीयता और अमर्यादा का भेद जानती हैं।'—कहते-कहते मेरा कंठ-स्वर तिक्त हो गया। जो व्यक्ति ईश्वर और आत्मा को नहीं मानता वह चाहे जितना मधुर कवि हो—

जैसे मीठे गीतों का गायक हो—मेरे अभिन्न भैया का जितना बड़ा आराध्य क्यों न हो, मुझे उसकी ओर से परितृप्ति नहीं होती। एक बार चाँद भैया ने मुझसे कहा था—जो व्यक्ति ईश्वर की सत्ता पर विश्वास नहीं करता उसके सामने कभी अच्छे-बुरे का द्वैत नहीं उठता। वह बड़ा से बड़ा पातक कर सकता है। कैसी भी कितनी बड़ी मक्खी निगल सकता है। ईश्वर का अस्तित्व यदि नहीं है तो भी मानवता के कल्याण और मंगल के लिए ईश्वरता की कल्पना अति आवश्यक है। उसके भय से—उसकी वास्तविक या काल्पनिक सत्ता के अहसास से मानव करणीय और अकरणीय का विभेद कर पाता है। उसका विवेक जाग्रत रहता है। इतर कोई इतनी बड़ी और प्रभावशालिनी शक्ति नही जो मानव को कुमार्ग की ओर आसानी से न जाने दे। भैया के शब्द मुझे याद हो गये थे। मन ही मन अपने ईश्वर-भीरु, धर्म-प्राण गम्भीर भाई की ओर तल्लीन होती गई थी। आज उनके मुँह पर यह कवि इतने कुरूप विद्रूप के साथ आत्मा परमात्मा पर अविश्वास प्रकट कर रहे हैं। भैया—आस्तिकता की ऊदवत्ती से सुरभि-विकीरक भैया इतनी आसानी से टाल रहे हैं! पर मैं बोलूँगी। सरलता से इन्हें न छोड़ूँगी।

मैंने कहा—'जीवन की प्रवृत्ति की प्रबलता और सत्य की असंदिग्धता को स्वीकार करने के लिए आत्मा और परमात्मा का अस्वीकरण आवश्यक है। आपकी बातचीत से जैसा मैं समझी हूँ यह ज्ञात होता है। मैं एक बात पूछना चाहती हूँ। पूछूँ भैया?'

भैया बोले—'जरूर पूछ। मेरी अनुमति की क्या आवश्यकता?

'पहले मैं प्रोफेसर साहब से (पहली बार मैंने उन्हें इस नाम से पुकारा) पूछना चाहूँगी कि मैंने उनके विचारों को गलत तो नहीं समझा।'

उन्होंने उत्साहित करनेवाली दृष्टि से मेरी ओर देखकर कहा—'मान लिया मेरी मान्यता ऐसी है तब.....तब.....तुम्हें क्या आपत्ति है?'

'दुख की भ्रान्ति में—जीवन-भीरुता की आत्म-प्रवञ्चना में-संकट की धड़कन भरी माया में—सुख के बंधनों की मिथ्यानुभूति में मानव किस अवलम्ब को लेकर चले ? आप जैसा बलवान, स्वच्छन्द मानव नहीं वरन् औसत जन-मानव। महात्मा गाँधी से एक महाशय ने कहा था—आपकी राजनीतिक संघर्ष की रूपरेखा में ईश्वराराधना और अस्तिकता पर इतना आग्रह क्यों ? आपके चलाये आन्दोलन में भाग लेने के लिए ईश्वर पर विश्वास और नियमित प्रार्थना पर क्यों इतना जोर दिया जाता है ? उन्होंने उत्तर दिया—ईश्वर पर विश्वास सत्याग्रह की पहली शर्त है। वरना अपने से हजारों गुना बड़ी पशु-शक्ति और हिंसा की ताड़ना—अत्याचार—शारीरिक निर्यातन और दंड-विधान मानव किस बल पर भोगेगा ? कैसे वह प्रतिक्षण अनय के अनल में पिघलते मनोबल को कायम रक्खेगा ? अपने साहस और बल को अक्षुण्य रखने वाला कौन साधन उसके पास होगा ? मैं भी आपसे यह पूछती हूँ। केवल सत्याग्रह और राजनैतिक आन्दोलन में नहीं, साधारण दैनिक जीवन में मानव के—विशेष कर नारी के प्रतिक्षण टूटते मनोबल को किसकी अनुभूति दृढ़ रक्खेगी ? आस्तिकता और ईश्वर के—आत्मा के अस्तित्व को लेकर मैं किताबी, शास्त्रीय बहस नहीं करना चाहती। केवल सामाजिक व्यवहारवाद और मानवीय कल्याणवाद को लेकर चल रही हूँ।'

उन्होंने प्रशंसा-भरी दृष्टि से मेरी ओर देखा। यह दुबली-पतली अर्ध मूर्ख लगने वाली लड़की जो इस बड़ी उम्र में इंटर की परीक्षा देने चली है, यहाँ तक सोच और पूछ सकती है ! संभव है उनके शिक्षक अहं को ठेस भी लगी हो। उन्होंने प्रकट नहीं किया। अपने मनोभावों पर उन्हें असाधारण अधिकार है यह मैंने कुछ मिनट तक देखने के बाद जान लिया था। बोले—'गाँधी-जी का नाम लेकर मुझे आतंकित न करो मंजु ! मेरे हृदय में उनके लिए अत्यधिक आदर है। पर उनके विचारों के लिए नहीं। मैं उनकी अविचल दृढ़ता का क़ायल हूँ। विश्वास का प्रश्न दूसरा है। मानव के

विश्वास के आधार वायवीय, कल्पित, आकाशीय और अशरीरी न होकर मानवीय और सामाजिक हैं। क्यों न उस सत्ता के विरुद्ध हम विद्रोह करें, जो अपने न्यस्त स्वार्थों की रक्षा के लिए न जाने कब से चली आ रही एक असत्य अन्यायी व्यवस्था पर विश्वास निर्धारित करने का आदेश देती है ? जो सामाजिक असंगतियों के बीच--वैषम्य की क्रुद्ध थपेड़ों के बीच अपने मन में उठ्ठलती घृणा और प्रतिहिंसा के लिए मार्ग न देख एक अलख, अगोचर, अनुभूति-शून्य, ठुकी-पिटी अवास्तविकता के पीछे आश्रय ढूँढती है। रह गई सत्याग्रही के मनोबल की बात! वह यदि समाज की विद्रोहमुखी प्रगति पर विश्वास करे—जन-शक्ति की ज्वाला और ऊर्ध्वमुखी ज्योति-शिखा पर यकीन लाये तो कभी हतोत्साह नहीं हो सकता। उस दशा में मैं उसे नास्तिक न मान कर आस्तिक मानूँगा। जीवन को नित्य, ध्रुव, ईश्वरीय सत्ता द्वारा परिचालित मानकर जो परिवर्तनशीलता की राह बंद कर देते हैं, उनके लिए जीवन—सामाजिक जीवन का मानना न मानना बराबर है। उन्हें मैं पलायनवादी कहूँगा। पलायनवाद का ही दूसरा नाम नास्तिकता है। एक असत्य को मानने पर बीसियों मिथ्याओं को पालना पड़ता है। इसके बाद आवागमन, जन्म का अपराध और कर्म फल। समाज के 'स्टेटस' को कायम रखना तब अनिवार्य हो जाता है। धर्म और ईश्वरता में यही कठिनाई है मंजु! परलोक को सुधारने-सँवारने की चाहे तुम जितनी चेष्टा करो। इस संसार को तुमने अधिक मानवीय, साम्यवादी, सबके सुख, सुविधापूर्ण बनाने का यत्न किया—विद्रोह और क्रान्ति के द्वारा—तो धर्म की आँखें लाल-पीली होने लगती हैं। ईश्वरता के बाजुओं में हलचल मच जाती है।'

मैंने कहा—'आप दो चीजों को भ्रम से मिला रहे हैं। दोनों अलग-अलग हैं। सामूहिक क्रान्ति और व्यक्तिगत मानवीय परिपूर्ति में बड़ी दूर तक कोई सम्बन्ध नहीं। आप दोनों की हदें क्यों मिला देते हैं? दोनों का स्वतंत्र क्षेत्र है। वह कौन सा विश्वास था जिसने ईसा को शूली पर चढ़ने की प्रेरणा दी?'

'ऐसे उदाहरण मैं भी दे दूँगा। कौन सी विद्रोह की अंतशिखा थी जिसने नास्तिक सुकरात को ज़हर का प्याला पीने के लिए सहर्ष तत्पर कर दिया। यह असाधारण मानवों के उदाहरण हैं। इनको लेकर हम साधारण मानवता के लिये कोई नियम नहीं बना सकते। नास्तिकता कभी अनैतिकता और अत्याचार के समर्थन की अनुमति नहीं देती। वह मानव के सारे 'इलूशन्स' को दूर कर उसे यथार्थ की शिला-भूमि पर ला खड़ा कर देती है। मानव के सामने जो है—प्रतिक्षण घटित होता रहता है वह स्वयं अपने में क्या इतना पूर्ण नहीं जो उसे पूर्णता की अनुभूति के लिए युगों के चर्वित-चर्वण में भटकना पड़े?'

भैया अब तक चुप थे। प्रकाश से उनके मन का मेल इस मामले में न मिलता था। बोले—'प्रकाश! जब तक मानव के भीतर तुम्हारे द्वारा कल्पित चारित्रिक देवत्व का अवतरण नहीं होता तब तक उसके सामने कुछ न कुछ सत्य के प्रति प्रेरक और असत्य, अधर्म, अकर्त्तव्य के प्रति अवरोधक भावना चाहिए। तुम्हारे ऊँचे आदर्शवाद को लेकर इस विराट सृष्टि और मानवता में नहीं चला जा सकता। मानव का लक्ष्य अस्वीकरण नहीं, अंगीकरण है। विचार की बिजली की यह क्षणता उसे चकनाचूर कर देगी। कब तक इतने अस्वीकारों के बीच हम बढ़ सकेंगे? ज्ञान के इतने प्रचण्ड आडम्बर के बीच, आचरण की ऐसी निष्फल दरिद्रता लेकर चलने का नाम क्या आदमी बनना है? इन सब बातों की वैचारिक परिणति कहाँ जाकर होगी? तुमने कभी सोचा है? पग-पग पर समाज की, उसके हितों की दुहाई देकर भी क्या तुम इस बौधिक अराजकता के कुपरिणाम से उसको रक्षा कर पावोगे? एक झूठे असंतोष का बोझ सिर पर लाद कर चलना विद्रोह और क्रान्ति नहीं!'

प्रकाश ने कहा—'यहीं तक आकर बात नहीं खत्म होती। तुम जिसे मेरा आदर्शवाद समझते हो उसे मैं जीवन की आरम्भिक यथार्थता मानता हूँ। फिर तो वैराग्य, मुक्ति, साधना, तपस्या, निवृत्ति, निग्रह की जाने

कितनी शाखाएँ प्रशाखायें आकर खड़ी हो जाँयगी। ईश्वरता पर मैं कभी विश्वास नहीं जमा पाया। सभ्यता के आदिम काल में मनुष्य जब क्रमशः विकसित हो रहा था तब तेज़ आँधी या मूसलाधार वर्षा देखकर डर जाता था। प्रकृति की शक्तियों को देवी-देवता मान कर पूजा करता था। उस वैदिक देवताओं के काल में भयभीत मानव ने अपनी आशंकाओं, भयों और भविष्य की भयप्रद कुरूप संभावनाओं के बीच एक सुखद विराम-स्थल ढूँढ़ निकाला। उसने ईश्वर को विराट सर्वशक्तिशालिनी सत्ता की कल्पना की जो अपने सामने न किसी की सुनती है—न सुनने देती है। बाद में यह ईश्वरता शासकों और सामाजिक व्यवस्था के स्वार्थी ठेकेदारों द्वारा शोषण को कायम रखने में--अपने हितों की किलेबंदी में इस्तेमाल होने लगी। ईश्वर समस्त सामाजिक असौख्य, असंगति, असमता, अवज्ञा का रक्षक बना दिया गया। मानवीय भय के मध्य अन्तर-वैभागिक देवताओं के साथ जिसका जन्म हुआ वह कालान्तर में गलत सामाजिकता को कायम रखने का प्रतीक बन गया। ईश्वरता के बिना भी मानव समाज सदाचारी, धर्म-प्राण, अपरिग्रही बन सकता है। मैं समझता हूँ यह उपलब्धि अधिक स्थायी और स्वाभाविक होगी। यह एक ऐसी क्रिया होगी जिसकी जड़ें जीवन-भूमि में और गहरी जाँयगी। ईश्वर को लेकर मानव जाति के इतिहास में कितना नर-संहार और रक्तपात नहीं हुआ! वह भी जमाना इतिहास ने देखा है जब ईश्वर पर विश्वास करना मानव के अस्तित्व की पहली शर्त थी। उसे तभी जीवित रहने दिया जाता था जब वह अपने इस विश्वास की घोषणा कर देता था। आज हम अज्ञान और धर्मान्धता के उस काले युग को पार कर आये हैं। पर उसके अव-शेष, खुमार-ग्रस्त, संस्कार अभी बाकी हैं। क्यों न हम उन्हें दफ़ना दें? थोड़े बहुत आँसू गिरा कर ही सही। सामाजिक न्याय की पुकार है यह!

भैया ने कहा—'तर्क का तूफ़ान उठाना एक बात है। प्रताड़ित, पीड़ित होकर भी विवेक को जीवित रखना--मनुष्यत्व के अवलम्ब को न छोड़ना बिल्कुल दूसरी। ईश्वरता और खोई आस्तिकता ही आज के

मनुष्यत्व खो रहे मनुज को मनुष्य बना सकेगी! मानता हूँ जीवन से तुम्हें मोह है। तुम व्यक्तिगत जीवन को पार कर समष्टि-जीवन की ओर भी बढ़ रहे हो। पर उसके परे जो दिव्य सौंदर्य्य का लोक है—जो अमरता की मनुहार भरी आशा और चिरपूर्ति की आकाँक्षा है वह तुम्हें नहीं दिखाई देती। तुम स्थूल के प्रति असंतुलित मोह के कारण कुंठित हो। ईश्वराराधना उस लोक को ही नहीं इस जीवन के दैनिक व्यापारो को भी इष्ट-अनिष्ट, सुन्दर-असुन्दर, वाँछनीय-अवाँछनीय में भेद करना सिखाती है। तुम भले उसे असामाजिक और व्यक्तिवादी भावना कहो। मैं ऐसा नहीं मानता। युगों की संचित संस्कारशीलता को मैं आसानी से नहीं छोड़ सकता। इतने बड़े कवि होते हुए भी तुम कल्पना नहीं कर सकते—मानव समाज में सभ्यता के उदय काल से लेकर आज तक यह ईश्वरभीरुता न होती तो क्या होता! मानव के मन में अपने से असंख्य गुना बड़ी इस दैवी शक्ति का भय और संभ्रम न होता तो आज हम कहाँ होते! हमारा जीवन कितना बर्बर और वेगैरत न बन 'चुका होता। मंजु! हाथ धुला! नौकर कहाँ चले गये?'

मैं हाथ धुलाने लगी। घड़ी की ओर देखकर हाथ धोते हुए वे बोले—'ठीक है। ऐसी बातें बहस से तय नहीं होतीं। वे चिंतन और अनुभूति, आत्य-विश्लेषण और मनन से हल होती हैं। आध्यात्मिक सौंदर्य्य और परिपूर्णता की जिस चेतना को लेकर तुम जीवन और जगत में बढ़ते हो उसमें मुझे असुन्दर और कुरूप के वहिष्कार की भावना मिलती है। पर मैं परिष्कार की क्रिया चाहता हूँ। यही सामाजिक नीतिदर्शन और मानव-नैतिकता की प्रेरणा है। यह वहिष्कार की वृत्ति आगे चलकर उस मारात्मक घृणा का रूप ले लेती है, जो जीवन को खा जाती है। इसलिए जिस स्थल पर तुम अभाव की अनुभूति करते हो वहाँ मैं संतोष और परिणाम के निश्चय पर पहुँच जाता हूँ। यही अंतर एक रूढ़िवादी और

विवेचनवादी में होता है। जहाँ तुम्हें असंगति दिखेगी वहाँ मैं तुलनात्मक परिस्थिति और उनकी स्थूल वास्तविकता को देखता हूँ। दूसरे शब्दों में उसे मैं प्रकृति की सचेतन, महाप्राण क्रिया मानता हूँ। जीवन की कामना ने मुझे सौंदर्य की खोज और चाह की ओर प्रेरित किया है। यह सौंदर्य्य मुझे अपने पर खड़े मानव की जीवन-गति में मिलता है। किन्हीं अर्धज्ञात, अर्धअज्ञात, अर्धसत्य, अर्धस्वप्न जैसे विश्वासों के क्रियाकर्म में उलझे मानव में नहीं। अपनी परिस्थितियों के विरुद्ध प्रश्न और शंका का—तर्क और विद्रोह का अधिकार ही मानव का विवेक है। उसका यह जीवन-सिद्ध अधिकार है। इसका दमन मैं बड़ी से बड़ी शक्ति के द्वारा भी गवारा नहीं कर सकता। वही जीवन का अभेदोन्मुख आकर्षण है। तुम प्रचलित अर्थ में मुझे नास्तिक कह लो। पर मैं संसार के किसी भी व्यक्ति की अपेक्षा अधिक आस्तिक हूँ। मेरे पास एक दृष्टिकोण है, एक सिद्धांत है। एक विश्वास है जो मेरा व्यक्तित्व है। नास्तिक वास्तव में वे हैं जो अपने सामाजिक अहं को दुनियाँ की ठुकी पिटी व्यवस्था की छाती पर स्थापित नहीं कर पाते। घिसे-घिसाये नियमों के अनुसार चलना आसान है। दुनियाँ ऐसे मनुष्यों का आदर भी खूब करती है जो नियमानुसार चलते हैं। पर आसान होने के लिए या आदर की योग्यता के लिये जीवन बाध्य नहीं। जीवन प्रयोजनातीत है ऐसा तो मैं नहीं मानता पर वह इन सब बातों से परे है। वह नियमों में नहीं बँधता। वह यशोलिप्सा से ऊँचा है। चाहिए तो यह कि नियमों का पालन करने के पहले उनकी मूल सामाजिक प्रेरणाओं को समझा जाय। तब जीवन की अखंडित क्रिया आगे बढ़े। ईश्वरता इनके समझने में बाधक होती है। वह मनुष्य को एक टाइप बना देती है। एक प्रतिलिपि मात्र! कोटि २ 'कार्बन कापीज़' हम देख रहे हैं। मैं मानव की उठी; ऊँची, गर्दन और अभिमानी चितवन देखना चाहता हूँ। मेरे यह स्वप्न जैसे विचार तुम्हें छूँछे और आदर्शवादी लगते होंगे—कोरे काल्पनिक। पर यह असंभव नहीं। वरना पतितों, असहायों को समानता की दृष्टि से देखा ही न जा सकता। गिरे हुओं को

उठाने के लिए सच्चाई और दृढ़ता के साथ लड़ सकना मानव के लिए असंभव हो जाता। एक व्यापक, पारदर्शी प्रेम के बिना यह संघर्ष असंभव है।'

भैया कार के लिए कहने बाहर चले गये। पान खाते हुए वे मुझसे बोले—'तुमसे मिलकर बड़ी खुशी हुई। भविष्य में मिलकर और होगी। अपने विचार पूरी तौर पर तुम्हारे सामने रख न पाया। लोग दुनियाँ को और जीवन को धोखा कहते हैं। यह चारो ओर फैला हुआ ढेर-ढेर दुःख, दैन्य, दरिद्रता, पीड़ा, रोग, मौत, तृष्णा, अतृप्ति, असंतोष और विद्रोह सब धोखा है उनके लिए ? सत्य है केवल राम का नाम और विश्वात्मा की कल्पना से मिलनेवाली पारलौकिक एकात्मशक्ति जिसकी एक झलक तक उन्हें कभी नहीं मिल पाती। पर मैं पूछता हूँ यह सब क्या धोखा है ? यह सारी उलझनें, विरोध और वैपरीत्य क्या मिथ्या है ? क्या धोखे में इतनी शक्ति हो सकती है ? क्या मिथ्या को लेकर जीवन का रेगिस्तानी सिलसिला चलता है ? तब यह ध्रुव निश्चय की शान्ति, यह विश्वास के लिए बलिदान करने का प्रज्वलित आनन्द कहाँ से आता है ? मनुष्य के भीतर वर्षों की दबी शक्ति उसकी बुद्धि के सहारे ही अपनी गहराई खोजकर निकलती है। संसार में ऐसा कुछ नहीं जिसे तुम पूर्ण अचूक मानो जिसे लेकर जीने का सहारा ढूँढ़ लो। केवल तुम्हारी बुद्धि तुम्हारी साथिन है और रहेगी·····।'

"पर कभी-कभी वह चुप हो जाती है। उसकी सारी शक्ति जवाब दे देती है। तब अन्य आधार न हों तो जीवन के कमरे में काजल जैसा अँधेरा छा जाय।'

'क्या इससे तुम्हें बुद्धि की ईमानदारी का पता नहीं लगता ? जहाँ वह नहीं पहुँच पाती—जो बात वह नहीं जानती वहाँ चुप रहती है। पर गलत उत्तर नहीं देती। क्या यह उसकी निरपेक्षता और आत्मनिर्भरताका परिचायक नहीं ? यहाँ से तुम लखनऊ लौट जाओगी ? पढ़ने की ओर से शिथिल

न पढ़ना ! केवल परीक्षा पास करना पढ़ना नहीं। तुम्हारी बुद्धि तीक्ष्ण होनी ही चाहिये। चाँद प्रतिभाशाली लड़का है। उसकी बहन कैसे साधारण हो सकती है ? लखनऊ आऊँगा तब तुमसे मिलूँगा'—कहते हुए वे बाहर पोर्टिको की ओर चले। पीछे मैं चली। चाँद की बहन होने का गौरव कितना विशाल है! क्या उसकी सीमा नहीं ? उनके व्यक्तित्व की ज्योत्सना में मैं कितनी भरी पूरी मालूम पड़ती हूँ। जैसे महामहिम हिम-किरीटि नगपति के प्रशान्त चरणों के नीचे लहराती हुई पहाड़ी झील ! अभिमानभरी प्रसन्नता से मैं ओत-प्रोत हो गई। भूल गई भीमकाय भविष्य के भीतरी खोखलेपन को। भूल गई मैं दीन दरिद्र पिता की पुत्री होने के कितने बड़े अपराध में पकड़ी गई हूँ। दण्ड की प्रतीक्षा में हूँ। कैसे प्रतिभाशाली भाई की बहन हूँ ! जीवन की कितनी बड़ी सिद्धि और संपूर्ति है ! पर औरों की दृष्टि में मैं उनके प्रकाश में जैसी बड़ी हो जाती हूँ, अपनी दृष्टि में उतनी सी तुच्छ और अकिंचन लगने लगती हूँ। इस-लिए नहीं कि क्या कष्ट उठाने—क्या खोने जा रही हूँ। इसलिए कि मैं उन्हें कितना दुख दे रही हूँ। कैसी कठोर चोट उन्हें पहुँचाने जा रही हूँ। मैं कहाँ जा रही हूँ ? मेरा महत्व कहाँ है ? विफलता की, वंचना की—क्रुद्ध विद्रोह की किस झपट में बिखरा जा रहा है ? मैं सब भूल गई। वायु में उड़ती धूल में खिंचते जाने वाली रेखा मैं एक नैसर्गिक ऊर्ध्व-गामी सत्प्रेरणा से भर गई। कितने होनहार भाई की बहन हूँ ! जैसे सूखे हुए नर्गिस के गुच्छे में फिर से नये अंकुर और कोपल निकल आई हों।

वे भाभी और माँ को प्रणाम कर बाहर निकल आये। मोटर तैयार खड़ी थी। भैया के साथ बैठ गये। भैया ने कहा—'चलेगी मंजु ! तू भी। अतिथि को पहुँचाने चलेगी स्टेशन तक ! भारतीयता का कड़ा दम भरा करती है।'

मन में इच्छा थी पर उतनी ही बड़ी एक विरोधी अनिच्छा उग आई थी। मुझे उनके साथ अधिक रहना घुटन जैसा मालूम

पड़ेगा। वह बराबर ईश्वर और धर्म के विरोध में बात करेंगे। मैं उत्तर न दे सकने की तिलमिलाहट में साकार कुन्ठा बनी भैया का मुँह ताकूँगी। मैं न जाऊँगी! माँ और भाभी खाने के लिए प्रतीक्षा कर रही हैं। मुझे स्टेशन जाने से यहाँ रहना ज्यादा आवश्यक है। मैंने कहा 'आप पहुँचा आइये! आप गये तो मैं गई। मुझे माँ ने बुलाया था। मोटर तक पहुँचा आऊँ—ऐसा कहकर चली आई। मैंने हाथ जोड़ कर मस्तक झुका कर अभिवादन किया। उन्होंने हँसते हुए कहा--'इन्हें खाना खाना है। चाँद! तकलीफ न दो। कविता सुनने की ऐसी फ़ीस इनसे न दिलाओ। अच्छा मंजु! विदा! मेरी किसी बात ने तुम्हें पीड़ा पहुँचाई हो तो माफ करना बहन। कभी फिर मिलूँगा। तब शायद अधिक प्रसन्नता की छाप डाल सकूँ। जाओ! धूप में न खड़ी रहो। भीतर जाओ! चाँद चलो अब।

'तू नहीं चलेगी।'--भैया ने शरारतभरी दीप्ति के कंपन का तार अपनी आँखों से छोड़ते हुए कहा—'क्या जोर की भूख लगी है? बिना खाए घंटे भर नहीं रह सकती?'

'दो बज रहा है भाई साहब।' मैंने चिढ़कर कहा—'क्या भूख लगने का समय नहीं? मुझको लौटते समय अकेले न आना पड़े यह चाहते हो। आप जाइये। क्यों देर कर रहे हैं?—कहते हुए एक बार फिर हाथ जोड़कर मैं घूम पड़ी।

मोटर चली गई। मैं सोचती हुई कमरे के भीतर आई--उनकी किस किस बात ने मुझे पीड़ा पहुंचाई है बहुत सोचने पर भी कोई बात न मिलती थी। उनकी ईश्वर, धर्म, आत्मा सम्बन्धी आलोचना उस समय मुझे बुरी लगी थी। खाना खाकर और भाभी व अम्मा के पास अधिक न बैठ, पढ़ने का बहाना कर जब भैया के कमरे में आकर बैठी तब उनकी बातें उतनी असह्य न लग रही थीं जैसे उनकी उपस्थिति में। खाना खाते वक्त भाभी ने चुटकी ली—'मंजु! तुम कवि के साथ स्टेशन नहीं गई! क्यों? मैं समझी गई होगी।'

'भैया ने कहा था पर मैं गई नहीं भाभी !'

'अच्छा हुआ।'—भाभी ने दार्शनिक मुद्रा बनाकर कहा—'कहीं उन पर रीझ तू गाड़ी पर बैठ कर चली जाती तो क्या होता ? हमें दूसरी मंजु कहाँ मिलती ?'

मैंने हँसी रोक कर कहा—'क्या तुम बड़े भैया के साथ ऐसे ही भाग कर चली आई थी ?'

'मेरी बात छोड़ो। पुराने समय की हूँ। तुम नई नवेली क्वारी बारी तितली रानी हो। रास्ता न मालूम हो फिर भी उड़ोगी !'

'तुम गोया बड़े भैया से ब्याह कर आने के पहले क्वारी वारी न थीं! अपनी ओर देखो जरा। मैं इस तरह रास्ता चलते लोगों के साथ चल देती हूँ ? सुनती हो माँ ! भाभी की बातें। तुम कुछ नहीं कहतीं। भैया यहाँ होते तो तुम्हे जवाब देते। कविजी होते तो.....'

'कवि यहाँ होते तब तू जवाब देती। वे यहाँ नहीं हैं इसलिए चुप रह कर तू उनके विरह का सम्मान कर रही है।'

'देखो माँ ! मैं अपनी थाली लेकर भाग जाऊँगी।'

'जाने दे बहू ! बेचारी का कल से इम्तहान है।

'नहीं माँ ! ऊपर से ऐसा ज़ाहिर करती है। भीतर से खुशी होती होगी इसे। तुम्हें पता नहीं ! चाँद बता रहा था—मई में इसकी शादी होने जा रही है। शादी के बाद यह हम लोगों को याद करेगी ? वहाँ जाकर पति की गलबहियों में भाई भाभियों को कौन याद करता है ?'

माँ ने स्नेह से मेरी ओर देखकर कहा—'भगवान की दया से अच्छा घर वर मिल गया है बहू ! माँ बाप का इकलौता लड़का—इन्टर में पढ़ रहा है। पिता की डेढ़-दो लाख की सम्पत्ति का मालिक होगा। और क्या चाहिये ? तू नहीं जानती। मैं कनौजियों की रीत-रवाज जानती हूँ। इसके विवाह के लिए—अच्छा घर वर मिलने के लिये कम से कम आठ

हज़ार रुपये चाहिए। दुबे जी (मेरे पिता) के पास पैसा नहीं है। इतनी छोटी आमदनी—लम्बी गृहस्थी का खर्चा। पर भगवान् सबके मुँह की लाली रखता है। हमारी मंजरी को देखकर बुड्ढा ऐसा रीझा कि बिना एक पैसा लिए लड़के का व्याह करने को तैयार हो गया। ऐसी रूपवती, गुणवती लड़का के लिए कौन ससुर न इच्छुक होगा? बेटी मंजु! लड़का सेकेण्ड इयर में है?'

मैंने संकुचित होकर कहा—'फर्स्ट इयर में माँ! उनके साथ के लोग एम० ए० पास कर चुके हैं। वे पढ़ने लिखने में मन नहीं लगाते।'

'होगा बेटी! उसे नौकरी करने की जरूरत नहीं। चलते बनेगा तो भगवान् का दिया घर में खाने को बहुत है। एक काम करना बेटी! तू अब आगे मत पढ़ना।'

'मैं पढ़ूंगी माँ! मैंने अपने ससुर से कह दिया है। भैया की यही राय है। मुझे कम से कम बी० ए० बी० टी० करना है। आदमी को अपने पैर पर खड़े हो जाने लायक बनना चाहिए।'

'नहीं बेटी! पत्नी को हमेशा पति से हर बात में छोटा होना चाहिए। तुझे नौकरी करनी है क्या? इतना रुपया तुम लोग पीढ़ियों तक चलाओगे—यदि चाल चलन ठीक रहा। तुम मेरा कहना मानना। वे तुम्हें रोकें और आगे पढ़ने के लिये मना करे तो तुम ज़िद न करना। किसी को कभी तुम्हारी तरफ से शिकायत न हो कि तुम कहना नहीं मानती। अपने मन की हो।'

माँ ने फिर कहा नहीं! सच कहूँ बेटी! मुझे तेरी चिन्ता थी। चाँद को भी थी। कभी कुछ कहता न था। तू जहाँ रहे सुख से रहे और फले फूले!

'हमें याद करे चाहे न करे'—भाभी ने कहा। मैं मन ही मन सिहर उठी। चाँद भैया के मन की हालत अगर इन लोगों को

मालूम होती तो इतनी आसानी से ऐसा न सोचती-समझतीं। किसी के मौन को कौन परख पाया है? मन की बात कौन जान पाया है? मैंने कहा—'सब तुम लोगों का आशीर्वाद है माँ! बाबू और अम्मा को मेरी फिक्र में नींद न आती थी। अब वे निश्चिन्त हो जायँगे। तुम लोगों के उपकारों और अपनेपन को भूल सकूँगी भाभी! ऐसा क्यों सोचती हो? मुझे अकृतज्ञ समझती हो?'

'नहीं, रानी! दुनिया का चलन है—उम्र का तक़ाज़ा है यह!'

———

:३:

खाना समाप्त कर मैं भैया के कमरे में चली आई। पड़ी-पड़ी यह सब और अपने अनजाने किन्तु निश्चित भविष्य को देख रही थी। कैसे यह पहाड़ जैसा विकराल जीवन बीतेगा। रह-रहकर मेरे मन में शंका और भय की प्लावनी तरगें उठने लगती थीं। सुबह से कवि की उपस्थिति में जितना कुछ भूल गई थी, वह सब आँख के सामने तरह-तरह के वेश और आकार धारण कर घूमने लगा। भैया की ओर से मैं निश्चिन्त थी। अब वे एक शब्द न कहेंगे। हर प्रकार से मुझे प्रफुल्लित देखने की चेष्टा करेंगे। पर माँ की बात-चीत से मेरी रुद्ध वेदना जाग उठी। रह-रहकर सारे शरीर में घहरा उठती थी। एक अविजानित उदासी चारों ओर बैसाख की इस खाँव-खाँव करती दोपहरी में तन-मन की निष्क्रियता बढ़ाती हुई छाई जा रही थी। रह-रहकर कवि की बातें याद आ रही थीं। एक विच्छिन्न ज्वाला मेरे रक्त में दौड़ रही थी। जलती हुई दौड़ती थी—दौड़ती हुई जलती थी। भैया अभी तक न लौटे थे। ज्यों-ज्यों उनके लौटने में देर लगती थी, त्यों-त्यों मैं अधीर

होती थी। कवि की आँखों की वह निश्चयात्मक ज्योति, वह स्थिरता की दीप्ति-शिखा, उनके शब्दों के पीछे चलने-वाला जीवन, किसी पुनीत स्मृति की व्याकुलता का वेग मुझे अब उनके चले जाने के बाद अभिभूत कर रहा था। उनके सामने मैं मन ही मन विरक्ति से अधीर हो रही थी। उनकी विदाई के बाद एक अपरिचित-सी प्राणों की अपहचानी-सी आकर्षण की आँच मुझे लाल किये दे रही थी। मुझे मालूम पड़ा—मैं पानी चाहती हूँ। मुझे आकंठ गीली कर देने वाली सजलता—तरलता चाहिए। मैं सुलग उठी हूँ। मैंने उठकर कमरे में रक्खी सुराही से जी भर पानी पिया। तीन-चार गिलास पी लेने के बाद भी मुझे तृप्ति न हो रही थी। इस अतृप्ति में—प्यास में एक स्वाद लग रहा था। मैं मन ही मन उस स्वाद से डर रही थी। उस स्वाद में विश्वास की गहराई नहीं अविश्वास का लावा था। भले यह इस समय मक्खन जैसा मुलायम लग रहा हो। किसी क्षण उत्तप्त होकर खूनी, विदारक रूप धारण कर सकता था। जिस अभिमान को लेकर मैं भाग्य के साथ समझौता करने जा रही थी, वह अब पिघल रहा था—इसी लावे की बढ़ती ऊष्मा में।

भैया लौटकर आ गये। कम्पाउन्डर में कार का हार्न सुनाई दिया। मैं सोफे पर सँभल कर बैठ गई। अस्त-व्यस्त पड़ी थी—अब मैंने अपने को समेट लिया। भैया ने भीतर आकर कहा—'चले गए प्रकाश। रास्ते भर मेरी जान खा गया तेरी तारीफ़ करते-करते मुझसे कोई अगर तेरी तारीफ़ करता है तो मुझे लगता है। मेरे साथ अन्यथा हो रहा है। जैसे तेरी तारीफ करने का अधिकार मुझे और केवल मुझे हो। खूब आदमी है। उसकी प्रकट कोमलता और कमनीयता में भी एक कठोरता छिपी है। जैसे फूलों से ढँकी कठोर शिला।'

मैंने कहा—'दूसरे मेरी तारीफ करते हैं तो तुम्हें असमंजस क्यों लगता है? लग भी सकता है। वह एक प्रकार से तुम्हारी तारीफ होती

है। अपनी तारीफ अपने मुँह पर सुनना कभी भद्र लोग गवारा नहीं करते। यही बात है! या और कुछ?'

'हो सकता है मेरे अवचेतन मन में यह बात रहती हो। मुझे लगता है जैसे क्रन्दन के उच्छ्वास से उमड़ कर मेरा हृदय बाहर निकल आयगा। मेरा रोम-रोम दुश्चिन्ता से काँपने लगता है। तेरी प्रशंसा अब मुझे सहन नहीं। क्या कहा जाय! अपना-अपना भय है। मैं अब बहुत जल्द डर जाता हूँ। पहले की सारी निर्भयता और साहस जाता रहा है।'

'तुम्हीं ने इतना प्रशंसनीय बना दिया है। तुम्हारी किरणों के आल-बाल में मैं इतनी ज्योतिर्मय हो जाती हूँ.....'

'यही रोना है मंजु! जो हो गया वह अब अघटित नहीं हो सकता! जो इतना आगे बढ़ चुका है उसे पीछे लौटाया नहीं जा सकता।'

मैंने बात बदलने की चेष्टा करते हुए कहा—'भैया! वे कैसी बातें कर रहे थे। मुझे बड़ी दुविधा उनकी बातें सुनने में लग रही थी। तुम समझते हो ऐसी बातों से अनाचार और उच्छृङ्खलता को बल नहीं मिलता। तुम उनकी बातों का जवाब नहीं दे रहे थे। उनके सामने तुम अपने को कितना शान्त, अचंचल अनुभव करते थे! जिस आत्म-निर्भरता को लेकर वह बार-बार गर्व प्रकट कर रहे थे, वह क्या विकृत अहं का प्रतीक नहीं? जैसे यह जीवन और यह संसार ही सत्य है। जो पाना है इसी के भीतर पाया जा सकता है। इसके पार जो दृष्टि नहीं जाती वह क्या नश्वर, अस्थायी नहीं। क्या जीव से पृथक आत्मा का अस्तित्व नहीं? क्या समस्त आत्माओं का पुञ्जीभूत प्रकाश, एक अलौकिक, दैवी परिव्याप्ति की पूर्णता का बोध, दुखी मानव को शान्ति नहीं देता? कम से कम हमारे देश और संस्कृति का दर्शन यह नहीं। हो—तो मैं जानती नहीं। मैं यह जानती हूँ कि जन्म-जन्म के पुन्य संचित होते रहते हैं। मनुष्य की विचार और अनुभव की शक्ति केवल स्थूल शरीर

और जीवन की क्रिया तक सीमित नहीं। जिनके इस लोक के जीवन में संतोष नहीं होता उनके हृदय में भी परलोक और पुनर्जन्म की भावना, आशा और विश्वास जाग्रत करती रहती है। इस प्रकार का भोगवाद हमें कहाँ ले जायगा? कोई शराबी नशे में ऐसी बात करे तो समझ में आता है। होश-हवास में ऐसी बातें इतने बड़े कवि, लेखक द्वारा? क्या शरीर से प्राप्त सुख की भाँति आत्मा से प्राप्त सुख भी नश्वर और क्षण-स्थायी है? भैया! प्रकाश शराब तो नहीं पीते! संभव है आज नहीं कल की पी मदिरा के ख़ुमार में ऐसी असंगत बातें कर गये हो।'

भैया ने प्रशंसा-भरी दृष्टि से मेरी ओर देखा। मैं जीवन के विधान और धर्म की विशाल संगति भली भाँति समझ रही हूँ। बोले—'मैं जानता हूँ वह दृढ़ चरित्र का व्यक्ति है। शराब वगैरह कोई व्यसन उसे नहीं। पर लगता है उसका हृदय द्रोही हो गया है। जन्मजात क्रान्तिकारी है वह! रास्ते में कह रहा था—लोग पग-पग पर प्रेम की अमरता की दुहाई देते हैं। मैं स्वयं अपनी कविता में उसकी रट लगाये रहता हूँ। यह अमरता क्या है—अपरिवर्तन ही न! अपरिवर्तन क्या मृत्यु और जड़ता नहीं? संसार में कौन सी वस्तु एक सत्य, एक रंग, एक छवि, एक रस, एक गंध, एक प्राण, रहती है। लोग त्याग की दुहाई देते हैं। पर त्याग क्या है? भोग के लिए आवश्यक इच्छा और बल का अभाव ही तो त्याग है। मैंने कहा—तब तुम्हारे सारे काव्य-संस्कार झूठे साबित हो जायँगे। प्रेम की एकनिष्ठता तुम्हारे काव्य-रस का प्राण है। बोला—मैं कविता लिखते समय सो जाता हूँ। मेरी बुद्धि और आत्म-निरीक्षक की सारी शक्ति सो जाती है। पर यह एक-निष्ठता या अमरता अपने में सत्य नहीं। सत्य है केवल मनुष्य की प्रेम करने की परम्परा। आज से दो हज़ार वर्ष पहले मनुष्य प्रेम करता था। आज प्रेम करता है। आगे भी बराबर करता रहेगा। वस्तुतः यह प्रेम की परम्परा ही उसकी अमरता है। प्रेम एक नशा है। जिसने जीवन में एक बार प्रेम किया है—जो उसकी लज़्ज़त पा चुका है वह प्रेम किये

बिना और बार-बार प्रेम किये बिना रह नहीं सकता। परलोक की अमरता और युग-युग की सार्थकता की बात न सोचकर केवल इह-लोक की कामना, उत्तेजना और सार्थकता की बात सोचना चाहिए। यही वास्तविक सुख है।'

मैं भीतर-भीतर रोष और अनौचित्य की वर्जना से—एक जुगुप्सा-जनक घृणा से फूल उठी। तब मेरा सारा जीवन झूठा, बेमानी है। अपने अविकसित जीवन की विकसित उपलब्धि—इस सम्पूर्ण बीस वर्ष के जीवन की जाग्रत संपूर्ति को झूठ कैसे मान लूँ? मैंने क्रुद्ध होकर कहा—'तुम चुपचाप सुनते रहे? तुमने उन्हें मुँह-तोड़ जवाब नहीं दिया? तुम भी उनकी बातों से प्रभावित हो वैसा सोचने लगे हो! ऐसे ही लोग जीवन को अपवाद बना देते हैं। जीवन की पुनीततम शक्तियों का उपहास करते हैं। केवल किताबी पढ़ाई और प्रोफेसरी करने से आत्मानुभूति नहीं होती। वे प्रेम में त्याग को नहीं मानते!

'अभी मुमकिन है न जानते हों। एक दिन जान जायँगे—त्याग प्रेम का वास्तविक प्रकाश है। शेष सब कालिमा की कुण्ठा है या प्रकाशा-भास। इस त्याग का कर्ता और कर्म दोनों युग-युग के लिए पवित्र और अवदात हो जाते हैं। उनके लिए प्रेम एक भोग्य क्रिया से इतर कुछ नहीं। उनकी दृष्टि एकात्मता और निष्ठा को बूझ नहीं सकती। तुमने कहा नहीं भैया!—प्रेम नशा नहीं जीवनव्यापी चैतन्य है। आत्मा की आत्मा में परिणति और परिवेष्टन है। तुम भी उनकी तरह सोचने लगे!.....बोलो!.....बोलो न?'

'मुझे क्या आँधी का पत्ता समझती है? यह तो व्यक्तिगत विचार है। अपनी-अपनी दृष्टि और मान्यता है। उनके सामने प्रेम और आसक्ति का यही रूप होगा। इसमें लड़ने, तकरार करने की क्या बात है? एक बात तुझे बता दूँ। उसे भी बता चुका हूँ। बताते-बताते ट्रेन चल दी। मानव की यह अपने को छलने की क्रिया है। जब मन और आत्मा अतृप्त रहती है तब ऐसी ही जीवन का विद्रूप उड़ानेवाली बातें सूझती

हैं। जीवन को बैठकर सोचना एक बात है—बराबर सोचते जाना और सोचते रहना एक चीज़ है। वियोग की उज्ज्वलता—त्याग की मौलिकता के भीतर से उसे ज्यो का त्यों बिना एक खरोच लगे निकाल ले जाना बिल्कुल दूसरी। मुझे लगता है प्रकाश के भीतर एक प्रज्वलित अन्तर्विरोध है। वह उसके मन और बुद्धि में संगति नहीं बैठने देता। उसकी कविता एक ओर चलती है ; चिन्ता दूसरी ओर। यह भी सोचता हूँ यदि उसमें यह आत्मविग्रह न होता—यदि यह अन्तर्संघर्ष न होता तो वह इतना मार्मिक कवि न होता। मुझे उसकी बात पर करुणा अधिक आती है, रोष कम।'

'नहीं! यह बुद्धि का अहंकार है। पर क्या मूल्य है इस अभिमान का जो हमारी युग-युग की स्वार्जित निधियों का तिरस्कार करता हो। क्या समस्त वैष्णव-साधना और कृष्ण-काव्य की आत्म-परिपूर्णता मिथ्या है! क्या भारतीय साहित्य और आदर्शवाद की युगों से चली आ रही शिवता, सुन्दरता, झूठी है? जीवन में प्रेम और भोग ही इति है? प्राण के सूक्ष्मातिसूक्ष्म संवेदनों का—आत्मा के आत्मा के प्रति जीवन-व्यापी आह्वान और अवदान का कोई मूल्य नहीं? यह सारी की सारी जीवन की रंकता और निस्सारता है?, क्या मानव-मानव का सम्बन्ध केवल इन्हीं मांसल आधारों को लेकर है? नहीं, नहीं! उससे दूर, उससे अलग, उससे अलिप्त जो बचता है—वही सुन्दर है। शेष कुरूप और असत्य। यह पश्चिम की दृष्टि है जो अपने आवेगों और वासनाओं से धुँधली हो चुकी है। हमारे यहाँ की तल्लीनता और तन्मयता में—आत्म-समर्पण की चिर-प्रवाहित प्रेममयी तृष्णा में इन दुर्नीतियों के लिए स्थान नहीं। यह उन देशों के लिए ठीक है जहाँ सप्ताह में तीन बार विवाह और तलाक़ होते हैं। हमारा देश, सतियों और बलिदान की ज्वलनशील मूर्तियों का देश है। वे कवि हैं—अत्यन्त उच्चकोटि के कवि हैं। मैं मानती हूँ। पर इस प्रकार प्रेम की गरिमा और प्राणद स्वरों का अस्तित्व अस्वीकार करने का उन्हें अधिकार नहीं। यहाँ जन्म-जन्म तक पत्नी

पति के चरणों में अर्पित होने की भावना लेकर मरती-जीती है। यहाँ दो आत्माओं के खंडित प्राणों में, इस जन्म में न सही अगले जन्म में—जन्म-जन्मान्तर—में पूर्ण होने की—अखंड, बनने की प्राणवान आकांक्षा जागती रहती है। प्रेम कोई फैशन नहीं है जो पाँच-पाँच, दस-दस वर्ष के बाद बदलता रहे। वह एक सार्वभौमिक, लोकोत्तर, प्रसरणशीलता है। इसी को लेकर भारतीय नारी का वैभव-बोध चलता है। बड़े से बड़े अभावों और दाहों के बीच वह अपने को अपराजेय और अविजेय पाती है। यही उसकी शक्ति की ज्वाला है।'

भैया मेरी ओर अविचल दृष्टि से देख रहे थे। उनकी आँखों में भावुक विह्वलता की कान्ति उद्दीप्त हो उठी थी। बोले—'क्या पुरुष को तू इस सम्बन्ध में नारी से भिन्न मानती है। उसके भीतर भी यह आग्नेय अन्तर्शिखा होती है। भोग का भी जीवन में स्थान है। पर उसे धुरी बना कर उसके चारो ओर प्रेम घूम नहीं सकता। पुरुष भी एकनिष्ठ प्रेम के प्रति उतना ही कृतज्ञ, अनुरक्त और आश्रित होता है। स्नेह की यज्ञ-शिखा में पड़कर उसकी ममता नारी की भाँति वत्सल और सुखापेक्षी हो जाती है। मगर दूसरों के विचार के लिए छूट देनी होगी। अपनी-अपनी अनुभूति के प्रकाशन का अधिकार सबको है—चाहे वह जितनी तीव्र हो। मैं प्रेम को उसी रूप में देखता हूँ जैसे तू देखती है। उसमें स्पर्धा और प्रतिद्वन्दिता, क्षीणता और कामुकता के लिए स्थान नहीं। इसी आत्मविसर्ज्ञ बाँध के कारण मेरे जीवन में विरक्ति और अवसाद का स्थान न रहेगा। प्रेम को विवेक से घट कर मानना चाहिए। तभी उसमें साधना के रंग निखरते हैं। प्रेम को नशा मानने वाले यह भूल जाते हैं कि नशे में विवशता और अज्ञान होता है। प्रेम में एक पुन्यायन जागरुकता अखण्ड आधी रात की ज्योतिष्मती आत्मा की भाँति जागती रहती है। कौन उसकी समता करेगा?'

एक सप्ताह के बाद परीक्षा समाप्त हो गई। मैं भैया के आने की प्रतीक्षा करने लगी। अपने कथनानुसार वे दूसरे दिन चले गये थे। मेरे कहने सुनने पर मेरी परीक्षा समाप्त होते ही आकर मुझे अपने साथ ले जाने का वायदा कर गये थे। मेरे परचे आशातीत रूप से अच्छे हुए थे। सत्य यह है कि मेरी योग्यता इन्टर की परीक्षा से कहीं आगे थी। भैया ने ऐसी-ऐसी, इतनी बातें मेरे दिमाग में ठूँस दी थीं जिनके सामने ये साधारण किताबें मुझे हेय लगती थीं। आखरी परचा करके आई तो पैर जमीन पर नहीं पड़ रहे थे। खुशी में फूली-फूली भाभी और माँ के कमरों में घूमती फिरती थी। लोग मेरे उल्लास को समझते थे। पर ग़लत समझते थे। सोचते थे—मैं भावी जीवन की सुखद कल्पना में डूबा-उतराया करती हूँ। वे न जानते थे मेरे मन का सुख कितना बड़ा है। पर अन्तर्यामी बिना कहे-सुने मन की बात जानते हैं। उन्हें मालूम है मेरे सुख और सौख्य का स्रोत कहाँ है। कहाँ से मुझे उजागर कर देने वाला आन्तरिक परिपूर्णता का लहरा आता है। दूसरे दिन दस बजे भैया आ गये। मेरा एक परचा देखकर गये थे। उनके आते ही चाय पीने की फ़ुर्सत न दे सारे परचे मैंने एक एक कर दिखाये। भविष्य की कल्पना की सारी शून्यता भूल कर—सारी प्रतारणाओं की इस शुभ्र मिलन-जल के प्रवाह में विसर्जित कर मैं मनुहार के अभिमान से भरी ऊँची चितवन ले उनकी ओर देखने लगी।

भैया ने मेरी पीठ ठोकते हुए कहा—'शाबास! तू जरूर पोज़ीशन लायगी। मैं समझता था तुझे बात करना आता है। देखता हूँ परचे करना भी जानता है। भाभी! तुमने मंजु को इनाम दिया?'

'इसे बड़ा इनाम मिलने जा रहा है बाबू! मैं क्या दे सकती हूँ? परचे इसके ऐसे किये हैं आज-कल सीधे मुँह बात नहीं करती। तुम आ गए हो तो कुछ धीरज बँध जायगा। एक बात बताऊँ चाँद! इसे

कुछ दिन के लिए कविजी के पास भेज दो। वहाँ रह आयगी तो नम्रता, सुशीलता, सीख लेगी। कितने शालीन हैं बेचारे !'

मैंने मुँह चिढ़ाते हुए कहा—'जी हाँ ! एक वे और एक आप ! और सब लोग उद्दंड ठहरे ! तुम जाओ भाभी ! मेरा कहना मानो। बदल जाओगी। तुम्हारी कविताएँ और तस्वीरें अखबारों में निकलने लगेंगी। लोग पढ़ेंगे, देखेंगे और सिर धुनेंगे।'

भैया ने कहा—'क्या समझीं भाभी ? जवाब देने में पीछे न हटेगी। इसने इम्तहान में अपने जौहर दिखलाए हैं। मंजु ! रुकना नहीं है। परसों मेरे पेपर्स शुरू हो जायँगे। कल सुबह की गाड़ी से चल देंगे।'

मैंने कहा—माँ चलेगी। कल कह रही थीं। तुमने मुझे इनाम नहीं दिया ? भाभी से कह रहे थे। खुद देने की नहीं सोचते ?'

'क्या लेगी ? शाम को चलकर खरीद दूँगा। बहुत मँहगा न होना चाहिए। तुझे मालूम है—'एकानोमी' का जमाना है।'

मैंने कहा—'जाने दो। अभी परीक्षाफल निकला नहीं। तब ले लूँगी।'

'मेरा इनाम अभी लेना होगा।'—कहती-कहती भाभी ने निकट आकर मेरी ठोड़ी चूम ली और हृदय से लगा लिया।

भैया ने कहा—'यह कोई इनाम है ? तुम बड़े सस्ते छूट गईं। मत मानना मंजु ! ये सब बच्चों को बहलाने के तरीके हैं। क्या तू बच्ची है ? दुलारने से मान जायगी ? अपना हक न छोड़ना ! भाभी ! अच्छी साड़ी दो लाकर। क्या मज़ाक कर रही हो !'

'जो देना होगा दे लूँगी चाँद ! तुम्हारी सिफ़ारिश की जरूरत नहीं। तुम जो उसे देते हो उसमें मैं सलाह देने नहीं आती। चल मंजु ! मेरे कमरे में'—कहती हुई वे मुझे अपने शयनकक्ष में ले गईं। एक अत्यन्त सुन्दर अँगूठी उन्होंने मुझे भेंट की। उसमें बड़े कलापूर्ण ढंग के भिन्न-भिन्न रत्नों की कणिकाओं को सजाकर पूर्णिमा का चाँद बनाया गया था। भाभी बड़े भैया के साथ बड़े दिन में बम्बई गई थीं। चाँद भैया के लिए यह अँगूठी लाई थीं। जाने क्या सोचकर उन्होंने मुझे भेंट

कर दिया। मैंने संकोच से कहा—'तुम जिनके लिए लाई हो उन को दो। मैं इसकी अधिकारिणी नहीं।' वे न मानीं। बलात् उन्होंने उसे मेरी उँगली में पहना दिया। मैं संकोच के कारण भैया के पास न लौट कर माँ के कमरे में चली गई। बैठी रामायण पढ़ रही थीं। सिर का एक-एक बाल सफेद था। मुख पर एक जीवन्त आलोक, एक प्रतिक्षण धड़कता, दीप्तिवाहिनी साँसे लेता हुआ पुन्य-प्रताप था जो देखते बनता था। मैंने कहा—'माँ! भैया कल सुबह चलेंगे। तुम तैयारी कर लो?'

'तैयारी मुझे क्या करनी है? एक बेटे के घर से दूसरे के घर जा रही हूँ। तुझे ढेर भर किताब कपड़े बाँधने हैं।'

शाम को मेरे हाथ में वह पूर्णिमा के थाली जैसे चाँद की आभा बिखराती हुई अँगूठी देखकर भैया ने कहा—'मेरी अँगूठी तूने झाड़ दी। भाभी मेरे लिए खरीद कर लाई थीं। कम से कम कहती ऐसा थीं। इसीलिए दोपहर को अलग कमरे में चलने का फ़रमान हुआ था!'

मैंने हँसते हुए कहा—'चाँद को चाँद की क्या जरूरत? यह तो चकोरी की साध है—उसकी अधार-शिखा है यह! तुम इसे लेकर क्या करोगे? भाभी ने कुछ समझ कर तुम्हें न दे मुझे दिया है। तुम लोगे?'

'खूब रही! भाभी तुम्हें कोई चीज दें? मैं उसे तुमसे छीन लूँ! यह तुम्हारी हो चुकी। भले इसका प्रतीक तुम्हारा न हो पाया हो।'

मेरा मन विषण्य हो गया। एक अनहोना भारीपन फिर मेरे चेहरे पर घिर आया। भैया ने उसे ताड़ कर कहा—'केवल वाह्य दृष्टि से। भीतरी दुनिया में इस प्रकार का अलगाव चलता नहीं। वहाँ जो संग है—जो अभिन्नता है—जो कैवल्य है वह निरुपम है। यों बात-बात में दुख नहीं किया जाता।'

मैं पहले जैसी हो गई। शाम को हम लोग, यहाँ तक कि माँ भी सिनेमा देखने गयीं। मुझे जल्द से जल्द अपने घर लौटकर भाई-

बहनों से मिलने की उत्कण्ठा थी। उसकी प्रसन्नता में मुझे चारों ओर भरा-भरा लगता था। शाम की सब लोगों के साथ खाना खाया। बीच-बीच में भाभी और बड़े भैया का विनोद और हास्य! भाभी का मेरे ऊपर फब्तियाँ कसना—बड़े भैया का भाभी को उत्तर, प्रत्युत्तर। भाभी द्वारा मुझे वह अँगूठी का उपहार और उसे लेकर चाँद भैया की उपालंभ भरी छाया—उलाहने-भरी स्नेह-वर्षा—सबने मिलकर उस रात को मुझे सोने न दिया। सुबह पाँच बजे गाड़ी चलती थी। आज उस मधुर सत्य की याद इतने अमधुर ढंग से आती है कि सारा अस्तित्व अवरुद्ध रुलाई से भर जाता है। मैं खुलकर रो भी नहीं सकती। वह रात—वह सपने-भरी रात अब तक मेरे साथ-साथ घूमती है। मेरे रोते हुए प्रतिदानों को और रुलाती हुई—स्वयं भी रोती-रोती जैसे कहती है—तू झूठी है। तेरे भीतर सत्य का तेज सहन करने की शक्ति नहीं। तूने किस मुँह से उसको ठुकराया जिसको लेकर तू आठ वर्ष की अवस्था से स्वप्न बुनती रही। तनने की उम्र के आते साथ ही तू जिस पर झुकती आई। आज जिसकी मर्मान्तक पीड़ा-भरी याद में तेरी आँख से दो बूँद जल भी नहीं निकलता! पर मैं जल कहाँ से लाऊँ? मैं तो ऊसर हूँ—साकार जलता, उबलता ऊसर! मैं झूठी हूँ? बिल्कुल झूठी, अविश्वसनीय? सचमुच मैं सदेह झूठ—साकार मिथ्या बन कर अपने निष्फल जीवन के चारों ओर मँडराती रहूँगी। सिनेमा से बाहर निकल कर मोटर पर बैठते समय चाँद भैया ने कहा—'मंजु! आज मैं चुपचाप घर पर बैठना चाहता था। तेरे कहने से चला आया। तुझे ज़िद न करनी चाहिए।'

'क्यों? मैं बड़ी हो गई हूँ? इसलिए या और कोई बात है। बताओ—क्यों मुझे ज़िद न करनी चाहिए? मेरी ज़िद क्या हर जगह-हर घड़ी, हर व्यक्ति से होती है? वह तुम्हीं तक सीमित है। क्यों उसे देश निकाला दे रहे हो? यह ज़िद मेरी मुक्ति है। प्राण की अति सत्य ज्वाला! देदीप्यमान और कितनी अच्छी लगने वाली.....कितनी भाने-वाली।' रात भर पड़ी मैं सोचती रही। नींद क्यों नहीं आती?

बराबर अपनी उँगली पर चमकती उस रत्नकणी अँगूठी को देखती थी। वह निष्कम्प शमा जैसी अपना प्रकाश फेंक रही थी। इसे देखते-देखते सो जाऊँ—ऐसा भी नहीं हो रहा। कभी पीड़ा से इतनी घिर जाती हूँ कि आनन्द मेरा अपरिचित हो जाता है। कभी आनन्द की ऐसी बहिया आ जाती है--ऐसी घुलती हुई दिव्य दिप्ति—ऐसा पागल ज्वार प्राण पर बरसने लगता है कि मैं अपने में अँट नहीं पाती। इस समय इन दोनों में कोई नहीं। केवल शिशिरकालीन फीकी चाँदनी जैसी स्तब्ध प्रतिध्वनि--शब्दहीन-स्वरहीन-आवेगहीन सिर से पैर तक छाई हुई है। उसके पार क्या है--नहीं जानती। बाहर निशीथ का अनन्त अन्धकार! मेरे भीतर असमय ही जीवन छिनने की वेदना का मुर्झायापन। मुझे अपना जीवन प्यारा नहीं जो उसे मैं हँसते-हँसते बिना खेद के लुटाने जा रही हूँ? क्या मैं मरने जा रही हूँ? क्या मैं अपने जीवन को प्यार नहीं करती? क्या मैं जीवन और मरण के बीच अपने को सतत ग्रसनेवाली काली छाया बनने जा रही हूँ? कोई और लड़की होती तो अपना भाग्य सराहती। अपने को धन्य मानती। क्यों मैं अपने को वैसी वरदानित नहीं समझ पाती? क्यो यह निष्प्रयोजन द्वन्द्व मेरे भीतर चल रहा है.....चलता जाता है? कैसी-कैसी अचीन्ही उलझनों को उठा लाता है। मैं जो पा गई हूँ मेरे लिये क्या उतना पर्याप्त नहीं? कौन-सी छलना की नींव है, जिस पर खड़ी होकर मैं और पाना चाहती हूँ? कौन सी वह भूख है जो इस प्रकार अतृप्त हो होकर प्राण के भीतर आ फँसती है? उसे कैसे भूलूँ—कैसे उससे त्राण पाऊँ? कब तक के लिये.....कैसे?

सब लोग सो गये हैं। मैं जाग रही हूँ। कल्पना कमरे के द्वार तक जाती है—फिर लौट आती है। सिर पटकती, विवश, पंख फड़फड़ाती रहती है। उठ-उठ कर नहीं उठती--गिर-गिर कर नहीं गिरती। लौट-लौट कर यथार्थता में—जीवन के प्रत्यक्ष में आती है। कमरे के भीतर फँसी चिड़िया-सी उलझती है। क्यो भैया के कमरे की ओर जाने का

साहस उसे नहीं होता। पहले ऐसी कोई रोक-टोक न थी। पहले उसके सामने पराजय का ऐसा नया-नया क्षोभ, आत्म-अस्वीकृति की ऐसी विवशता न थी। आज उसे क्या हो गया है.....आज मुझे क्या हो गया है.....आज दुनियाँ को क्या हो गया है? आज भैया को क्या हो गया है? कैसी ज्वलन्त स्थूलता मुझे घेरे है? मैं अपने में बन्दिनी बन बैठी हूँ। यह कैसा असंतोष है? अपने प्रति यह कैसा अनबूझ विद्रोह है जो प्रकट होकर भी बढ़ता है--दबाने से फैलता है--गला पकड़ कर मरोड़ने से भी बढ़ता है.....बढ़ता है.....बढ़ता ही जाता है। यह कैसा अंकुश है? मार्ग खोजने के लिए प्रेरित तो करता है पर स्वयं मार्ग बन्द कर देता है। कहीं छुटकारा नहीं--कहीं मुक्ति नहीं—कोई गति नहीं। सामने है केवल जंजीरों में जकड़ा - बन्धन में फड़फड़ाता, विशाल, आततायी जीवन। उससे रक्षा होना असंभव है। यदि वह विवाह न करे! केवल ऐसे पढ़ती रहे—पढ़ती रहे और नौकरी करे। माता-पिता की सहायता करे.....जीवन को परिवार के सुख के लिए उत्सर्ग कर दे। प्रबल विरोध होगा इस मत का। माता-पिता काहे को मानने लगे! बड़ी सन्तान के प्रति उसके पिता की जो ममता है क्या वह जानती नहीं? कौन सुनेगा उसकी? यह भी जीवन के साथ एक प्रयोग होगा। सफल हो सकता है--असफल भी। कौन उसे इतनी स्वाधीनता देगा? उसमें बल है वह ले सके? कहाँ है उस रहस्यलोक की चाभी जिससे वह उसे खोल सके? नींद नहीं आ रही है। तन-मन दोनों उमड़ रहे हैं। पहचानी पुकार है यह--जो रोम-रोम में रमी है। जैसे इस आवाज पर फट पड़ूँगी। पर यह फटकने का नहीं--विस्फोट का नहीं—सुलगने का आह्वान है। तिल-तिल अपने को स्वाहा कर परिवार और समाज की जड़े सींचने का आदेश है। वह कौन है जो यह आदेश दे रहा है? कौन है वह जो जीवन की कामना और मृत्यु का ज्ञान दोनों को साथ-साथ उछालता यह आवाज दे रहा है? भ्रम यह है नहीं। भ्रम के आँख नहीं होती--कान नहीं होते--अनुभव करनेवाली

हृदय की नली नहीं होती। यह तो सामने खड़ा है--कानों को अपनी पिघलते सीसे जैसी आवाज़ से भरे दे रहा है। हृदय को असह्य आल्हाद से फुलाये दे रहा है।

सुबह गाड़ी पर जब हम लोग बैठ गये, तो बड़े भैया ने कहा--'चाँद! तेरा स्वास्थ्य आज-कल अच्छा नहीं। पिछली बार भी मैंने गौर किया था। लगता है तेरे भीतर परेशानी रहती है। तू उठते-बैठते क्या सोचा करता है?'

'कुछ नहीं भैया! परसों से परीक्षा है। उसी का भूत होगा जिसे तुम देख रहे हो। वास्तव में वह भी नहीं है। बढ़िया तैयारी है मेरी।'

'संभव है मेरा भ्रम हो। माँ तुम्हारे साथ जा रही हैं। वे देखें सुनेंगी।'—गाड़ी चलते समय चाँद भैया और मैंने उन्हें प्रणाम किया। माँ ने कहा—'छुट्टियाँ होते ही तुम बहू को लेकर लखनऊ आ जाना। ज्यादा न रुकना।'

'मैं खुद सोचता था। अब तुम्हारी आज्ञा है। माननी होगी। चाँद इम्तहान में लग जायगा। मंजु! तुम लखनऊ पहुँचते ही पत्र लिख देना।'

गाड़ी बढ़ रही थी। मैंने खिड़की के बाहर हाथ जोड़कर कहा—'अच्छा।'

पौ फटने वाली थी। हवा में एक सुहावनी ठंडक थी। आकाश की फीकी नीलिमा में इधर-उधर दस-पाँच सितारे डबडबा रहे थे। थोड़ी देर में चारों ओर उजाला फैल जायगा। सृष्टि का अनवरत क्रम फिर चल निकलेगा। चारों ओर छाया हुआ रात का अँधेरा सौंदर्य-गह्वरों और कन्दराओं में जाकर छिप जायगा। जो बचेगा, वह एक नाम-हीन अपरिमेय दिशा में जाकर लीन हो जायगा। मुझे आज की रात का ज्वलन्त उल्लास और विषाद कभी फिर मिलेगा? माँ सामने के बर्थ पर लेट गईं। चादर से मुँह ढँक कर सोने का उपक्रम करने लगीं। भैया खिड़की से बाहर मुँह निकाले पीछे छूटती हुई विश्वनाथपुरी देख रहे हैं। पर मैं क्या देखूँ? डिब्बे में दो तीन मुसाफ़िर हैं। सब सोये

हुए हैं। मुझे याद आ गया। जब वाराणसी आ रही थी तब इसी बेला में, ऊषा की ऐसी ही अनुराग-रंजित लालिमा की घड़ियों में भैया ने अपना मर्मभेदी आग्रह प्रकट किया था। आज मैं लौटकर उनके साथ जा रही हूँ। क्षण में युग-युग बीत जाते हैं। पर कुछ क्षण ऐसे होते हैं जो युग-युग तक वैसे ही स्निग्ध, स्फूर्तिप्रद बने रहते हैं। मैं बैठी यह सब सोच रही थी। गाड़ी की गति की लय समतल हो रही थी। बाहर दूर-दूर तक जंगल और गाँव—गाँव और जंगल। बीच-बीच में फर्लांगों तक खड़े वृक्षों की कतारें। भैया ने भीतर की ओर मुँह फेर कर कहा—'माँ! तुम फिर सो गईं! क्या सोच रही है मंजु! शाम को घर पहुँच जायगी.....क्या सोच रही है? बोल न?' मैं कितनी बातें सोच रही थी.....कहाँ-कहाँ से सोच रही थी यह बताना सहल न था। चुपचाप उनकी आँखों में अपनी चितवन स्थिर कर देखती रही।

'आँखें इतनी लाल क्यों हैं? घर लौटने की खुशी में रात भर नींद नहीं आई? लगता तो ऐसा है मैं गहरी नींद सोया। भाभी अगर न जगातीं तो गाड़ी छूट जाती। भाभी-भैया को पूरी फिक्र थी! देख! ऊपर का बर्थ खाली पड़ा है। मैं बिस्तर बिछाये देता हूँ। तू खिड़की पर पैर रखकर चढ़ जा और सो ले। वर्ना सिर दर्द करेगा।'

'सो लूँगी। जल्दी क्या है? तुम न सोओगे?'

'मैं अब न सोऊँगा। देख मेरे सूटकेस में दो किताबें रक्खी हैं, उन्हें निकाल दे। सिगरेट के पैकेट भी कहीं पड़े होंगे, एक निकाल लेना। पढ़ूँगा घन्टे दो घन्टे। तू इम्तहान दे आई। मुझे अभी दो-दो देने हैं। जाड़ा मालूम पड़े, तो रैपर निकाल ले।'

मैंने किताबें और सिगरेट लाकर दे दी। भैया ने लेते हुए मेरी कलाई पकड़ कर कहा—'तेरा हाथ क्यों गर्म है? 'फ़ीवर' तो नहीं है? तबियत में भारीपन है क्या? मुँह क्यों इतना सूखा-सूखा है?'

मैं हँस पड़ी। बच्चों की तरह मेरा ख्याल रखते हैं। मैंने कहा—'मेरी तबियत ठीक है, सो जाऊँगी तो और ठीक हो जायगी।'

'पर, रात को सोई क्यों नहीं ? किसने जागने को कहा था। पढ़ना भी न था कि एक बहाना बना सके। ज़रूर तू चिन्ताकुल थी; पर उससे लाभ क्या ? ईश्वर की मर्जी में जो होता है, वह होता है। भगवान सदैव जो करता है, अच्छा करता है। इस तरह अपने मन को संताप न दिया कर।'

यह भी कोई अपने मन की बात है ? यहाँ भी इन्सान का क्या अपना वश होता है ? क्या इच्छा होने पर आदमी आसानी से सो सकता है ? लेकिन भैया के भगवान् का विचार कर, मन ही मन उनकी मंगल-मयी मूर्ति का ध्यान कर मुझे बड़ा बल मिला। किनारा-सा मिल गया। बोली—'नींद नहीं आई। कोशिश मैंने बहुतेरी की। सो न सकी। ऊपर के बर्थ में तुम न चले जाओ। मैं यहीं लेटूँगी। ऊपर चढ़ने की कसरत मुझसे न होगी।'

'क्या हुआ ? चढ़ जाना।'—कहते-कहते भैया ने मुझे उठाकर खड़ा कर दिया और मेरा हाथ ऊँचा कर बर्थ की चेन पकड़ा दी। मुझे यह उछल-कूद करने में संकोच लग रहा था। भैया ने बैठकर कहा—'एक पैर खिड़की पर—दूसरा मेरे कंधे पर। जल्दी कर।'

मैंने कहा—'तुम्हारे कंधेपर रक्खूँगी तो सीधे स्वर्गलोक पहुँच जाऊँगी। मुझसे यह न होगा। किसी न किसी प्रकार चढ़ जाऊँगी; पर उतरूँगी कैसे ? डिब्बे के लोग क्या कहेंगे तब ? अच्छी उलझन में डाल रहे हो !'

भैया ऊपर चढ़ गये। वहाँ से अपने हाथ बढ़ा मेरे दोनों कंधे पकड़ आसानी से मुझे ऊपर खींच लिया जैसे मैं पाँच-छः वर्ष की बच्ची होऊँ। नीचे उतर कर बोले—चुपचाप सो जा। मैं नीचे लेट कर पढ़ता हूँ।'

माँ की झपकी खुल गई, बोलीं—'क्या है चाँद ! मंजु कहाँ गई ?'

'ऊपर लेटी है माँ ! रात को एक मिनट नहीं सोई। ऊपर जाने में आनाकानी कर रही थी। मैंने चढ़ा दिया। अब आराम कर रही है।

पड़ेगा। वह बराबर ईश्वर और धर्म के विरोध में बात करेंगे। मैं उत्तर न दे सकने की तिलमिलाहट में साकार कुन्ठा बनी भैया का मुँह ताकूँगी। मैं न जाऊँगी! माँ और भाभी खाने के लिए प्रतीक्षा कर रही हैं। मुझे स्टेशन जाने से यहाँ रहना ज्यादा आवश्यक है। मैंने कहा 'आप पहुँचा आइये! आप गये तो मैं गई। मुझे माँ ने बुलाया था। मोटर तक पहुँचा आऊँ—ऐसा कहकर चली आई। मैंने हाथ जोड़ कर मस्तक झुका कर अभिवादन किया। उन्होंने हँसते हुए कहा--'इन्हें खाना खाना है। चाँद! तकलीफ न दो। कविता सुनने की ऐसी फ़ीस इनसे न दिलाओ। अच्छा मंजु! विदा! मेरी किसी बात ने तुम्हें पीड़ा पहुँचाई हो तो माफ करना बहन। कभी फिर मिलूँगा। तब शायद अधिक प्रसन्नता को छाप डाल सकूँ। जाओ! धूप में न खड़ी रहो। भीतर जाओ! चाँद चलो अब।

'तू नहीं चलेगी।'--भैया ने शरारतभरी दीप्ति के कंपन का तार अपनी आँखों से छोड़ते हुए कहा—'क्या जोर की भूख लगी है? बिना खाए घंटे भर नहीं रह सकती?'

'दो बज रहा है भाई साहब।' मैंने चिढ़कर कहा—'क्या भूख लगने का समय नहीं? मुझको लौटते समय अकेले न आना पड़े यह चाहते हो। आप जाइये। क्यों देर कर रहे हैं?—कहते हुए एक बार फिर हाथ जोड़कर मैं घूम पड़ी।

मोटर चली गई। मैं सोचती हुई कमरे के भीतर आई--उनकी किस किस बात ने मुझे पीड़ा पहुँचाई है बहुत सोचने पर भी कोई बात न मिलती थी। उनकी ईश्वर, धर्म, आत्मा सम्बन्धी आलोचना उस समय मुझे बुरी लगी थी। खाना खाकर और भाभी व अम्मा के पास अधिक न बैठ, पढ़ने का बहाना कर जब भैया के कमरे में आकर बैठी तब उनकी बातें उतनी असह्य न लग रही थीं जैसे उनकी उपस्थिति में। खाना खाते वक्त भाभी ने चुटकी ली—'मंजु! तुम कवि के साथ स्टेशन नहीं गई! क्यों? मैं समझी गई होगी।'

'भैया ने कहा था पर मैं गई नहीं भाभी !'

'अच्छा हुआ।'—भाभी ने दार्शनिक मुद्रा बनाकर कहा—'कहीं उन पर रीझ तू गाड़ी पर बैठ कर चली जाती तो क्या होता ? हमें दूसरी मंजु कहाँ मिलती ?'

मैंने हँसी रोक कर कहा—'क्या तुम बड़े भैया के साथ ऐसे ही भाग कर चली आई थी ?'

'मेरी बात छोड़ो। पुराने समय की हूँ। तुम नई नवेली क्वारी बारी तितली रानी हो। रास्ता न मालूम हो फिर भी उड़ोगी !'

'तुम गोया बड़े भैया से ब्याह कर आने के पहले क्वारी वारी न थीं ! अपनी ओर देखो जरा। मैं इस तरह रास्ता चलते लोगों के साथ चल देती हूँ ? सुनती हो माँ ! भाभी की बातें। तुम कुछ नहीं कहतीं। भैया यहाँ होते तो तुम्हें जवाब देते। कविजी होते तो.....'

'कवि यहाँ होते तब तू जवाब देती। वे यहाँ नहीं हैं इसलिए चुप रह कर तू उनके विरह का सम्मान कर रही है।'

'देखो माँ ! मैं अपनी थाली लेकर भाग जाऊँगी।'

'जाने दे बहू ! बेचारी का कल से इम्तहान है।

'नहीं माँ ! ऊपर से ऐसा ज़ाहिर करती है। भीतर से खुशी होती होगी इसे। तुम्हें पता नहीं ! चाँद बता रहा था—मई में इसकी शादी होने जा रही है। शादी के बाद यह हम लोगों को याद करेगी ? वहाँ जाकर पति की गलबहियों में भाई भाभियों को कौन याद करता है ?'

माँ ने स्नेह से मेरी ओर देखकर कहा—'भगवान की दया से अच्छा घर वर मिल गया है बहू ! माँ बाप का इकलौता लड़का—इन्टर में पढ़ रहा है। पिता की डेढ़-दो लाख की सम्पत्ति का मालिक होगा। और क्या चाहिये ? तू नहीं जानती। मैं कनौजियों की रीत-रवाज जानती हूँ। इसके विवाह के लिए—अच्छा घर वर मिलने के लिये कम से कम आठ

हज़ार रुपये चाहिए। दुबे जी (मेरे पिता) के पास पैसा नहीं है। इतनी छोटी आमदनी—लम्बी गृहस्थी का खर्चा। पर भगवान् सबके मुँह की लाली रखता है। हमारी मंजरी को देखकर बुड्ढा ऐसा रीझा कि बिना एक पैसा लिए लड़के का व्याह करने को तैयार हो गया। ऐसी रूपवती, गुणवती लड़का के लिए कौन ससुर न इच्छुक होगा? बेटी मंजु! लड़का सेकेण्ड इयर में है?'

मैंने संकुचित होकर कहा—'फर्स्ट इयर में माँ! उनके साथ के लोग एम० ए० पास कर चुके हैं। वे पढ़ने लिखने में मन नहीं लगाते।'

'होगा बेटी! उसे नौकरी करने की जरूरत नहीं। चलते बनेगा तो भगवान् का दिया घर में खाने को बहुत है। एक काम करना बेटी! तू अब आगे मत पढ़ना।'

'मैं पढ़ूंगी माँ! मैंने अपने ससुर से कह दिया है। भैया की यही राय है। मुझे कम से कम बी० ए० बी० टी० करना है। आदमी को अपने पैर पर खड़े हो जाने लायक बनना चाहिए।'

'नहीं बेटी! पत्नी को हमेशा पति से हर बात में छोटा होना चाहिए। तुझे नौकरी करनी है क्या? इतना रुपया तुम लोग पीढ़ियों तक चलाओगे—यदि चाल चलन ठीक रहा। तुम मेरा कहना मानना। वे तुम्हें रोकें और आगे पढ़ने के लिये मना करे तो तुम ज़िद न करना। किसी को कभी तुम्हारी तरफ से शिकायत न हो कि तुम कहना नहीं मानती। अपने मन की हो।'

माँ ने फिर कहा नहीं! सच कहूँ बेटी! मुझे तेरी चिन्ता थी। चाँद को भी थी। कभी कुछ कहता न था। तू जहाँ रहे सुख से रहे और फले फूले!

'हमें याद करे चाहे न करे'—भाभी ने कहा। मैं मन ही मन सिहर उठी। चाँद भैया के मन की हालत अगर इन लोगों को

मालूम होती तो इतनी आसानी से ऐसा न सोचती-समझतीं। किसी के मौन को कौन परख पाया है? मन की बात कौन जान पाया है? मैंने कहा—'सब तुम लोगों का आशीर्वाद है माँ! बाबू और अम्मा को मेरी फिक्र में नींद न आती थी। अब वे निश्चिन्त हो जायँगे। तुम लोगों के उपकारों और अपनेपन को भूल सकूँगी भाभी! ऐसा क्यों सोचती हो? मुझे अकृतज्ञ समझती हो?'

'नहीं, रानी! दुनिया का चलन है—उम्र का तक़ाज़ा है यह!'

———

****

:३:

खाना समाप्त कर मैं भैया के कमरे में चली आई। पड़ी-पड़ी यह सब और अपने अनजाने किन्तु निश्चित भविष्य को देख रही थी। कैसे यह पहाड़ जैसा विकराल जीवन बीतेगा। रह-रहकर मेरे मन में शंका और भय की प्लावनी तरगें उठने लगती थीं। सुबह से कवि की उपस्थिति में जितना कुछ भूल गई थी, वह सब आँख के सामने तरह-तरह के वेश और आकार धारण कर घूमने लगा। भैया की ओर से मैं निश्चिन्त थी। अब वे एक शब्द न कहेंगे। हर प्रकार से मुझे प्रफुल्लित देखने की चेष्टा करेंगे। पर माँ की बात-चीत से मेरी रुद्ध वेदना जाग उठी। रह-रहकर सारे शरीर में घहरा उठती थी। एक अविजानित उदासी चारों ओर बैसाख की इस खाँव-खाँव करती दोपहरी में तन-मन की निष्क्रियता बढ़ाती हुई छाई जा रही थी। रह-रहकर कवि की बातें याद आ रही थीं। एक विच्छिन्न ज्वाला मेरे रक्त में दौड़ रही थी। जलती हुई दौड़ती थी—दौड़ती हुई जलती थी। भैया अभी तक न लौटे थे। ज्यों-ज्यों उनके लौटने में देर लगती थी, त्यों-त्यों मैं अधीर

होती थी। कवि की आँखों की वह निश्चयात्मक ज्योति, वह स्थिरता की दीप्ति-शिखा, उनके शब्दों के पीछे चलने-वाला जीवन, किसी पुनीत स्मृति की व्याकुलता का वेग मुझे अब उनके चले जाने के बाद अभिभूत कर रहा था। उनके सामने मैं मन ही मन विरक्ति से अधीर हो रही थी। उनकी विदाई के बाद एक अपरिचित-सी प्राणों की अपहचानी-सी आकर्षण की आँच मुझे लाल किये दे रही थी। मुझे मालूम पड़ा—मैं पानी चाहती हूँ। मुझे आकंठ गीली कर देने वाली सजलता—तरलता चाहिए। मैं सुलग उठी हूँ। मैंने उठकर कमरे में रक्खी सुराही से जी भर पानी पिया। तीन-चार गिलास पी लेने के बाद भी मुझे तृप्ति न हो रही थी। इस अतृप्ति में—प्यास में एक स्वाद लग रहा था। मैं मन ही मन उस स्वाद से डर रही थी। उस स्वाद में विश्वास की गहराई नहीं अविश्वास का लावा था। भले यह इस समय मक्खन जैसा मुलायम लग रहा हो। किसी क्षण उत्तप्त होकर खूनी, विदारक रूप धारण कर सकता था। जिस अभिमान को लेकर मैं भाग्य के साथ समझौता करने जा रही थी, वह अब पिघल रहा था—इसी लावे की बढ़ती ऊष्मा में।

भैया लौटकर आ गये। कम्पाउन्डर में कार का हार्न सुनाई दिया। मैं सोफे पर सँभल कर बैठ गई। अस्त-व्यस्त पड़ी थी—अब मैंने अपने को समेट लिया। भैया ने भीतर आकर कहा—'चले गए प्रकाश। रास्ते भर मेरी जान खा गया तेरी तारीफ़ करते-करते मुझसे कोई अगर तेरी तारीफ़ करता है तो मुझे लगता है। मेरे साथ अन्यथा हो रहा है। जैसे तेरी तारीफ करने का अधिकार मुझे और केवल मुझे हो। खूब आदमी है। उसकी प्रकट कोमलता और कमनीयता में भी एक कठोरता छिपी है। जैसे फूलों से ढँकी कठोर शिला।'

मैंने कहा—'दूसरे मेरी तारीफ करते हैं तो तुम्हें असमंजस क्यों लगता है? लग भी सकता है। वह एक प्रकार से तुम्हारी तारीफ होती

है। अपनी तारीफ अपने मुँह पर सुनना कभी भद्र लोग गवारा नहीं करते। यही बात है! या और कुछ?'

'हो सकता है मेरे अवचेतन मन में यह बात रहती हो। मुझे लगता है जैसे क्रन्दन के उच्छ्वास से उमड़ कर मेरा हृदय बाहर निकल आयगा। मेरा रोम-रोम दुश्चिन्ता से काँपने लगता है। तेरी प्रशंसा अब मुझे सहन नहीं। क्या कहा जाय! अपना-अपना भय है। मैं अब बहुत जल्द डर जाता हूँ। पहले की सारी निर्भयता और साहस जाता रहा है।'

'तुम्हीं ने इतना प्रशंसनीय बना दिया है। तुम्हारी किरणों के आल-बाल में मैं इतनी ज्योतिर्मय हो जाती हूँ.....'

'यही रोना है मंजु! जो हो गया वह अब अघटित नहीं हो सकता! जो इतना आगे बढ़ चुका है उसे पीछे लौटाया नहीं जा सकता।'

मैंने बात बदलने की चेष्टा करते हुए कहा—'भैया! वे कैसी बातें कर रहे थे। मुझे बड़ी दुविधा उनकी बातें सुनने में लग रही थी। तुम समझते हो ऐसी बातों से अनाचार और उच्छृङ्खलता को बल नहीं मिलता। तुम उनकी बातों का जवाब नहीं दे रहे थे। उनके सामने तुम अपने को कितना शान्त, अचंचल अनुभव करते थे! जिस आत्म-निर्भरता को लेकर वह बार-बार गर्व प्रकट कर रहे थे, वह क्या विकृत अहं का प्रतीक नहीं? जैसे यह जीवन और यह संसार ही सत्य है। जो पाना है इसी के भीतर पाया जा सकता है। इसके पार जो दृष्टि नहीं जाती वह क्या नश्वर, अस्थायी नहीं। क्या जीव से पृथक आत्मा का अस्तित्व नहीं? क्या समस्त आत्माओं का पुञ्जीभूत प्रकाश, एक अलौकिक, दैवी परिव्याप्ति की पूर्णता का बोध, दुखी मानव को शान्ति नहीं देता? कम से कम हमारे देश और संस्कृति का दर्शन यह नहीं। हो—तो मैं जानती नहीं। मैं यह जानती हूँ कि जन्म-जन्म के पुन्य संचित होते रहते हैं। मनुष्य की विचार और अनुभव की शक्ति केवल स्थूल शरीर

और जीवन की क्रिया तक सीमित नहीं। जिनके इस लोक के जीवन में संतोष नहीं होता उनके हृदय में भी परलोक और पुनर्जन्म की भावना, आशा और विश्वास जाग्रत करती रहती है। इस प्रकार का भोगवाद हमें कहाँ ले जायगा? कोई शराबी नशे में ऐसी बात करे तो समझ में आता है। होश-हवास में ऐसी बातें इतने बड़े कवि, लेखक द्वारा? क्या शरीर से प्राप्त सुख की भाँति आत्मा से प्राप्त सुख भी नश्वर और क्षण-स्थायी है? भैया! प्रकाश शराब तो नहीं पीते! संभव है आज नहीं कल की पी मदिरा के ख़ुमार में ऐसी असंगत बातें कर गये हो।'

भैया ने प्रशंसा-भरी दृष्टि से मेरी ओर देखा। मैं जीवन के विधान और धर्म की विशाल संगति भली भाँति समझ रही हूँ। बोले—'मैं जानता हूँ वह दृढ़ चरित्र का व्यक्ति है। शराब वगैरह कोई व्यसन उसे नहीं। पर लगता है उसका हृदय द्रोही हो गया है। जन्मजात क्रान्तिकारी है वह! रास्ते में कह रहा था—लोग पग-पग पर प्रेम की अमरता की दुहाई देते हैं। मैं स्वयं अपनी कविता में उसकी रट लगाये रहता हूँ। यह अमरता क्या है—अपरिवर्तन ही न! अपरिवर्तन क्या मृत्यु और जड़ता नहीं? संसार में कौन सी वस्तु एक सत्य, एक रंग, एक छवि, एक रस, एक गंध, एक प्राण, रहती है। लोग त्याग की दुहाई देते हैं। पर त्याग क्या है? भोग के लिए आवश्यक इच्छा और बल का अभाव ही तो त्याग है। मैंने कहा—तब तुम्हारे सारे काव्य-संस्कार झूठे साबित हो जायँगे। प्रेम की एकनिष्ठता तुम्हारे काव्य-रस का प्राण है। बोला—मैं कविता लिखते समय सो जाता हूँ। मेरी बुद्धि और आत्म-निरीक्षक की सारी शक्ति सो जाती है। पर यह एक-निष्ठता या अमरता अपने में सत्य नहीं। सत्य है केवल मनुष्य की प्रेम करने की परम्परा। आज से दो हज़ार वर्ष पहले मनुष्य प्रेम करता था। आज प्रेम करता है। आगे भी बराबर करता रहेगा। वस्तुतः यह प्रेम की परम्परा ही उसकी अमरता है। प्रेम एक नशा है। जिसने जीवन में एक बार प्रेम किया है—जो उसकी लज़्ज़त पा चुका है वह प्रेम किये

बिना और बार-बार प्रेम किये बिना रह नहीं सकता। परलोक की अमरता और युग-युग की सार्थकता की बात न सोचकर केवल इह-लोक की कामना, उत्तेजना और सार्थकता की बात सोचना चाहिए। यही वास्तविक सुख है।'

मैं भीतर-भीतर रोष और अनौचित्य की वर्जना से—एक जुगुप्सा-जनक घृणा से फूल उठी। तब मेरा सारा जीवन झूठा, बेमानी है। अपने अविकसित जीवन की विकसित उपलब्धि—इस सम्पूर्ण बीस वर्ष के जीवन की जाग्रत संपूर्ति को झूठ कैसे मान लूँ? मैंने क्रुद्ध होकर कहा—'तुम चुपचाप सुनते रहे? तुमने उन्हें मुँह-तोड़ जवाब नहीं दिया? तुम भी उनकी बातों से प्रभावित हो वैसा सोचने लगे हो! ऐसे ही लोग जीवन को अपवाद बना देते हैं। जीवन की पुनीततम शक्तियों का उपहास करते हैं। केवल किताबी पढ़ाई और प्रोफेसरी करने से आत्मानुभूति नहीं होती। वे प्रेम में त्याग को नहीं मानते!

'अभी मुमकिन है न जानते हों। एक दिन जान जायँगे—त्याग प्रेम का वास्तविक प्रकाश है। शेष सब कालिमा की कुएठा है या प्रकाशा-भास। इस त्याग का कर्ता और कर्म दोनों युग-युग के लिए पवित्र और अवदात हो जाते हैं। उनके लिए प्रेम एक भोग्य क्रिया से इतर कुछ नहीं। उनकी दृष्टि एकात्मता और निष्ठा को बूझ नहीं सकती। तुमने कहा नहीं भैया!—प्रेम नशा नहीं जीवनव्यापी चैतन्य है। आत्मा की आत्मा में परिणति और परिवेष्ठन है। तुम भी उनकी तरह सोचने लगे!.....बोलो!.....बोलो न?'

'मुझे क्या आँधी का पत्ता समझती है? यह तो व्यक्तिगत विचार है। अपनी-अपनी दृष्टि और मान्यता है। उनके सामने प्रेम और आसक्ति का यही रूप होगा। इसमें लड़ने, तकरार करने की क्या बात है? एक बात तुझे बता दूँ। उसे भी बता चुका हूँ। बताते-बताते ट्रेन चल दी। मानव की यह अपने को छलने की क्रिया है। जब मन और आत्मा अतृप्त रहती है तब ऐसी ही जीवन का विद्रूप उड़ानेवाली बातें सूझती

हैं। जीवन को बैठकर सोचना एक बात है—बराबर सोचते जाना और सोचते रहना एक चीज़ है। वियोग की उज्ज्वलता—त्याग की मौलिकता के भीतर से उसे ज्यो का त्यों बिना एक खरोच लगे निकाल ले जाना बिल्कुल दूसरी। मुझे लगता है प्रकाश के भीतर एक प्रज्वलित अन्तर्विरोध है। वह उसके मन और बुद्धि में संगति नहीं बैठने देता। उसकी कविता एक ओर चलती है; चिन्ता दूसरी ओर। यह भी सोचता हूँ यदि उसमें यह आत्मविग्रह न होता—यदि यह अन्तर्संघर्ष न होता तो वह इतना मार्मिक कवि न होता। मुझे उसकी बात पर करुणा अधिक आती है, रोष कम।'

'नहीं! यह बुद्धि का अहंकार है। पर क्या मूल्य है इस अभिमान का जो हमारी युग-युग की स्वार्जित निधियों का तिरस्कार करता हो। क्या समस्त वैष्णव-साधना और कृष्ण-काव्य की आत्म-परिपूर्णता मिथ्या है! क्या भारतीय साहित्य और आदर्शवाद की युगों से चली आ रही शिवता, सुन्दरता, झूठी है? जीवन में प्रेम और भोग ही इति है? प्राण के सूक्ष्मातिसूक्ष्म संवेदनों का—आत्मा के आत्मा के प्रति जीवन-व्यापी आह्वान और अवदान का कोई मूल्य नहीं? यह सारी की सारी जीवन की रंकता और निस्सारता है?, क्या मानव-मानव का सम्बन्ध केवल इन्हीं मांसल आधारों को लेकर है? नहीं, नहीं! उससे दूर, उससे अलग, उससे अलिप्त जो बचता है—वही सुन्दर है। शेष कुरूप और असत्य। यह पश्चिम की दृष्टि है जो अपने आवेगों और वासनाओं से धुँधली हो चुकी है। हमारे यहाँ की तल्लीनता और तन्मयता में—आत्म-समर्पण की चिर-प्रवाहित प्रेममयी तृष्णा में इन दुर्नीतियों के लिए स्थान नहीं। यह उन देशों के लिए ठीक है जहाँ सप्ताह में तीन बार विवाह और तलाक़ होते हैं। हमारा देश, सतियों और बलिदान की ज्वलनशील मूर्तियों का देश है। वे कवि हैं—अत्यन्त उच्चकोटि के कवि हैं। मैं मानती हूँ। पर इस प्रकार प्रेम की गरिमा और प्राणद स्वरों का अस्तित्व अस्वीकार करने का उन्हें अधिकार नहीं। यहाँ जन्म-जन्म तक पत्नी

पति के चरणों में अर्पित होने की भावना लेकर मरती-जीती है। यहाँ दो आत्माओं के खंडित प्राणों में, इस जन्म में न सही अगले जन्म में—जन्म-जन्मान्तर—में पूर्ण होने की—अखंड, बनने की प्राणवान आकांक्षा जागती रहती है। प्रेम कोई फैशन नहीं है जो पाँच-पाँच, दस-दस वर्ष के बाद बदलता रहे। वह एक सार्वभौमिक, लोकोत्तर, प्रसरणशीलता है। इसी को लेकर भारतीय नारी का वैभव-बोध चलता है। बड़े से बड़े अभावों और दाहों के बीच वह अपने को अपराजेय और अविजेय पाती है। यही उसकी शक्ति की ज्वाला है।'

भैया मेरी ओर अविचल दृष्टि से देख रहे थे। उनकी आँखों में भावुक विह्वलता की कान्ति उद्दीप्त हो उठी थी। बोले—'क्या पुरुष को तू इस सम्बन्ध में नारी से भिन्न मानती है। उसके भीतर भी यह आग्नेय अन्तर्शिखा होती है। भोग का भी जीवन में स्थान है। पर उसे धुरी बना कर उसके चारो ओर प्रेम घूम नहीं सकता। पुरुष भी एकनिष्ठ प्रेम के प्रति उतना ही कृतज्ञ, अनुरक्त और आश्रित होता है। स्नेह की यज्ञ-शिखा में पड़कर उसकी ममता नारी की भाँति वत्सल और सुखापेक्षी हो जाती है। मगर दूसरों के विचार के लिए छूट देनी होगी। अपनी-अपनी अनुभूति के प्रकाशन का अधिकार सबको है—चाहे वह जितनी तीव्र हो। मैं प्रेम को उसी रूप में देखता हूँ जैसे तू देखती है। उसमें स्पर्धा और प्रतिद्वन्दिता, क्षीणता और कामुकता के लिए स्थान नहीं। इसी आत्मविसर्ज्ञ बाँध के कारण मेरे जीवन में विरक्ति और अवसाद का स्थान न रहेगा। प्रेम को विवेक से घट कर मानना चाहिए। तभी उसमें साधना के रंग निखरते हैं। प्रेम को नशा मानने वाले यह भूल जाते हैं कि नशे में विवशता और अज्ञान होता है। प्रेम में एक पुन्यायन जागरुकता अखण्ड आधी रात की ज्योतिष्मती आत्मा की भाँति जागती रहती है। कौन उसकी समता करेगा?'

एक सप्ताह के बाद परीक्षा समाप्त हो गई। मैं भैया के आने की प्रतीक्षा करने लगी। अपने कथनानुसार वे दूसरे दिन चले गये थे। मेरे कहने सुनने पर मेरी परीक्षा समाप्त होते ही आकर मुझे अपने साथ ले जाने का वायदा कर गये थे। मेरे परचे आशातीत रूप से अच्छे हुए थे। सत्य यह है कि मेरी योग्यता इन्टर की परीक्षा से कहीं आगे थी। भैया ने ऐसी-ऐसी, इतनी बातें मेरे दिमाग में ठूँस दी थीं जिनके सामने ये साधारण किताबें मुझे हेय लगती थीं। आखरी परचा करके आई तो पैर जमीन पर नहीं पड़ रहे थे। खुशी में फूली-फूली भाभी और माँ के कमरों में घूमती फिरती थी। लोग मेरे उल्लास को समझते थे। पर गलत समझते थे। सोचते थे—मैं भावी जीवन की सुखद कल्पना में डूबा-उतराया करती हूँ। वे न जानते थे मेरे मन का सुख कितना बड़ा है। पर अन्तर्यामी बिना कहे-सुने मन की बात जानते हैं। उन्हें मालूम है मेरे सुख और सौख्य का स्रोत कहाँ है। कहाँ से मुझे उजागर कर देने वाला आन्तरिक परिपूर्णता का लहरा आता है। दूसरे दिन दस बजे भैया आ गये। मेरा एक परचा देखकर गये थे। उनके आते ही चाय पीने की फुर्सत न दे सारे परचे मैंने एक एक कर दिखाये। भविष्य की कल्पना की सारी शून्यता भूल कर—सारी प्रतारणाओं की इस शुभ्र मिलन-जल के प्रवाह में विसर्जित कर मैं मनुहार के अभिमान से भरी ऊँची चितवन ले उनकी ओर देखने लगी।

भैया ने मेरी पीठ ठोकते हुए कहा—'शाबास! तू जरूर पोज़ीशन लायगी। मैं समझता था तुझे बात करना आता है। देखता हूँ परचे करना भी जानता है। भाभी! तुमने मंजु को इनाम दिया?'

'इसे बड़ा इनाम मिलने जा रहा है बाबू! मैं क्या दे सकती हूँ? परचे इसके ऐसे किये हैं आज-कल सीधे मुँह बात नहीं करती। तुम आ गए हो तो कुछ धीरज बँध जायगा। एक बात बताऊँ चाँद! इसे

कुछ दिन के लिए कविजी के पास भेज दो। वहाँ रह आयगी तो नम्रता, सुशीलता, सीख लेगी। कितने शालीन हैं बेचारे !'

मैंने मुँह चिढ़ाते हुए कहा—'जी हाँ ! एक वे और एक आप ! और सब लोग उद्दंड ठहरे ! तुम जाओ भाभी ! मेरा कहना मानो। बदल जाओगी। तुम्हारी कविताएँ और तस्वीरें अखबारों में निकलने लगेंगी। लोग पढ़ेंगे, देखेंगे और सिर धुनेंगे।'

भैया ने कहा—'क्या समझीं भाभी ? जवाब देने में पीछे न हटेगी। इसने इम्तहान में अपने जौहर दिखलाए हैं। मंजु ! रुकना नहीं है। परसों मेरे पेपर्स शुरू हो जायँगे। कल सुबह की गाड़ी से चल देंगे।'

मैंने कहा—'माँ चलेगी। कल कह रही थीं। तुमने मुझे इनाम नहीं दिया ? भाभी से कह रहे थे। खुद देने की नहीं सोचते ?'

'क्या लेगी ? शाम को चलकर खरीद दूँगा। बहुत मँहगा न होना चाहिए। तुझे मालूम है—'एकानोमी' का जमाना है।'

मैंने कहा—'जाने दो। अभी परीक्षाफल निकला नहीं। तब ले लूँगी।'

'मेरा इनाम अभी लेना होगा।'—कहती-कहती भाभी ने निकट आकर मेरी ठोड़ी चूम ली और हृदय से लगा लिया।

भैया ने कहा—'यह कोई इनाम है ? तुम बड़े सस्ते छूट गईं। मत मानना मंजु ! ये सब बच्चों को बहलाने के तरीके हैं। क्या तू बच्ची है ? दुलारने से मान जायगी ? अपना हक न छोड़ना ! भाभी ! अच्छी साड़ी दो लाकर। क्या मज़ाक कर रही हो !'

'जो देना होगा दे लूँगी चाँद ! तुम्हारी सिफ़ारिश की जरूरत नहीं। तुम जो उसे देते हो उसमें मैं सलाह देने नहीं आती। चल मंजु ! मेरे कमरे में'—कहती हुई वे मुझे अपने शयनकक्ष में ले गईं। एक अत्यन्त सुन्दर अँगूठी उन्होंने मुझे भेंट की। उसमें बड़े कलापूर्ण ढंग के भिन्न-भिन्न रत्नों की कणिकाओं को सजाकर पूर्णिमा का चाँद बनाया गया था। भाभी बड़े भैया के साथ बड़े दिन में बम्बई गई थीं। चाँद भैया के लिए यह अँगूठी लाई थीं। जाने क्या सोचकर उन्होंने मुझे भेंट

कर दिया। मैंने संकोच से कहा—'तुम जिनके लिए लाई हो उन को दो। मैं इसकी अधिकारिणी नहीं।' वे न मानीं। बलात् उन्होंने उसे मेरी उँगली में पहना दिया। मैं संकोच के कारण भैया के पास न लौट कर माँ के कमरे में चली गई। बैठी रामायण पढ़ रही थीं। सिर का एक-एक बाल सफेद था। मुख पर एक जीवन्त आलोक, एक प्रतिक्षण धड़कता, दीप्तिवाहिनी साँसे लेता हुआ पुन्य-प्रताप था जो देखते बनता था। मैंने कहा—'माँ! भैया कल सुबह चलेंगे। तुम तैयारी कर लो?'

'तैयारी मुझे क्या करनी है? एक बेटे के घर से दूसरे के घर जा रही हूँ। तुझे ढेर भर किताब कपड़े बाँधने हैं।'

शाम को मेरे हाथ में वह पूर्णिमा के थाली जैसे चाँद की आभा बिखराती हुई अँगूठी देखकर भैया ने कहा—'मेरी अँगूठी तूने झाड़ दी। भाभी मेरे लिए खरीद कर लाई थीं। कम से कम कहती ऐसा थीं। इसीलिए दोपहर को अलग कमरे में चलने का फ़रमान हुआ था!'

मैंने हँसते हुए कहा—'चाँद को चाँद की क्या जरूरत? यह तो चकोरी की साध है—उसकी अधार-शिखा है यह! तुम इसे लेकर क्या करोगे? भाभी ने कुछ समझ कर तुम्हें न दे मुझे दिया है। तुम लोगे?'

'खूब रही! भाभी तुम्हें कोई चीज दें? मैं उसे तुमसे छीन लूँ! यह तुम्हारी हो चुकी। भले इसका प्रतीक तुम्हारा न हो पाया हो।'

मेरा मन विषण्य हो गया। एक अनहोना भारीपन फिर मेरे चेहरे पर घिर आया। भैया ने उसे ताड़ कर कहा—'केवल वाह्य दृष्टि से। भीतरी दुनिया में इस प्रकार का अलगाव चलता नहीं। वहाँ जो संग है—जो अभिन्नता है—जो कैवल्य है वह निरुपम है। यों बात-बात में दुख नहीं किया जाता।'

मैं पहले जैसी हो गई। शाम को हम लोग, यहाँ तक कि माँ भी सिनेमा देखने गयीं। मुझे जल्द से जल्द अपने घर लौटकर भाई-

बहनों से मिलने की उत्कण्ठा थी। उसकी प्रसन्नता में मुझे चारों ओर भरा-भरा लगता था। शाम को सब लोगों के साथ खाना खाया। बीच-बीच में भाभी और बड़े भैया का विनोद और हास्य! भाभी का मेरे ऊपर फब्तियाँ कसना—बड़े भैया का भाभी को उत्तर, प्रत्युत्तर। भाभी द्वारा मुझे वह अँगूठी का उपहार और उसे लेकर चाँद भैया की उपालंभ भरी छाया—उलाहने-भरी स्नेह-वर्षा—सबने मिलकर उस रात को मुझे सोने न दिया। सुबह पाँच बजे गाड़ी चलती थी। आज उस मधुर सत्य की याद इतने अमधुर ढंग से आती है कि सारा अस्तित्व अवरुद्ध रुलाई से भर जाता है। मैं खुलकर रो भी नहीं सकती। वह रात—वह सपने-भरी रात अब तक मेरे साथ-साथ घूमती है। मेरे रोते हुए प्रतिदानों को और रुलाती हुई—स्वयं भी रोती-रोती जैसे कहती है—तू झूठी है। तेरे भीतर सत्य का तेज सहन करने की शक्ति नहीं। तूने किस मुँह से उसको ठुकराया जिसको लेकर तू आठ वर्ष की अवस्था से स्वप्न बुनती रही। तनने की उम्र के आते साथ ही तू जिस पर झुकती आई। आज जिसकी मर्मान्तक पीड़ा-भरी याद में तेरी आँख से दो बूँद जल भी नहीं निकलता! पर मैं जल कहाँ से लाऊँ? मैं तो ऊसर हूँ—साकार जलता, उबलता ऊसर! मैं झूठी हूँ? बिल्कुल झूठी, अविश्वसनीय? सचमुच मैं सदेह झूठ—साकार मिथ्या बन कर अपने निष्फल जीवन के चारों ओर मँडराती रहूँगी। सिनेमा से बाहर निकल कर मोटर पर बैठते समय चाँद भैया ने कहा—'मंजु! आज मैं चुपचाप घर पर बैठना चाहता था। तेरे कहने से चला आया। तुझे ज़िद न करनी चाहिए।'

'क्यों? मैं बड़ी हो गई हूँ? इसलिए या और कोई बात है। बताओ—क्यों मुझे ज़िद न करनी चाहिए? मेरी ज़िद क्या हर जगह-हर घड़ी, हर व्यक्ति से होती है? वह तुम्हीं तक सीमित है। क्यों उसे देश निकाला दे रहे हो? यह ज़िद मेरी मुक्ति है। प्राण की अति सह्य ज्वाला! देदीप्यमान और कितनी अच्छी लगने वाली.....कितनी भाने-वाली।' रात भर पड़ी मैं सोचती रही। नींद क्यों नहीं आती?

बराबर अपनी उँगली पर चमकती उस रत्नकणी अँगूठी को देखती थी। वह निष्कम्प शमा जैसी अपना प्रकाश फेंक रही थी। इसे देखते-देखते सो जाऊँ—ऐसा भी नहीं हो रहा। कभी पीड़ा से इतनी घिर जाती हूँ कि आनन्द मेरा अपरिचित हो जाता है। कभी आनन्द की ऐसी बहिया आ जाती है—ऐसी घुलती हुई दिव्य दिप्ति—ऐसा पागल ज्वार प्राण पर बरसने लगता है कि मैं अपने में अँट नहीं पाती। इस समय इन दोनों में कोई नहीं। केवल शिशिरकालीन फीकी चाँदनी जैसी स्तब्ध प्रतिध्वनि—शब्दहीन—स्वरहीन—आवेगहीन सिर से पैर तक छाई हुई है। उसके पार क्या है—नहीं जानती। बाहर निशीथ का अनन्त अन्धकार! मेरे भीतर असमय ही जीवन छिनने की वेदना का मुर्झायापन। मुझे अपना जीवन प्यारा नहीं जो उसे मैं हँसते-हँसते बिना खेद के लुटाने जा रही हूँ? क्या मैं मरने जा रही हूँ? क्या मैं अपने जीवन को प्यार नहीं करती? क्या मैं जीवन और मरण के बीच अपने को सतत ग्रसनेवाली काली छाया बनने जा रही हूँ? कोई और लड़की होती तो अपना भाग्य सराहती। अपने को धन्य मानती। क्यों मैं अपने को वैसी वरदानित नहीं समझ पाती? क्यों यह निष्प्रयोजन द्वन्द्व मेरे भीतर चल रहा है.....चलता जाता है? कैसी-कैसी अचीन्ही उलझनों को उठा लाता है। मैं जो पा गई हूँ मेरे लिये क्या उतना पर्याप्त नहीं? कौन-सी छलना की नींव है, जिस पर खड़ी होकर मैं और पाना चाहती हूँ? कौन सी वह भूख है जो इस प्रकार अतृप्त हो होकर प्राण के भीतर आ फँसती है? उसे कैसे भूलूँ—कैसे उससे त्राण पाऊँ? कब तक के लिये.....कैसे?

सब लोग सो गये हैं। मैं जाग रही हूँ। कल्पना कमरे के द्वार तक जाती है—फिर लौट आती है। सिर पटकती, विवश, पंख फड़फड़ाती रहती है। उठ-उठ कर नहीं उठती—गिर-गिर कर नहीं गिरती। लौट-लौट कर यथार्थता में—जीवन के प्रत्यक्ष में आती है। कमरे के भीतर फँसी चिड़िया-सी उलझती है। क्यो भैया के कमरे की ओर जाने का

साहस उसे नहीं होता। पहले ऐसी कोई रोक-टोक न थी। पहले उसके सामने पराजय का ऐसा नया-नया क्षोभ, आत्म-अस्वीकृति की ऐसी विवशता न थी। आज उसे क्या हो गया है.....आज मुझे क्या हो गया है.....आज दुनियाँ को क्या हो गया है? आज भैया को क्या हो गया है? कैसी ज्वलन्त स्थूलता मुझे घेरे है? मैं अपने में वन्दिनी बन बैठी हूँ। यह कैसा असंतोष है? अपने प्रति यह कैसा अनबूझ विद्रोह है जो प्रकट होकर भी बढ़ता है--दबाने से फैलता है--गला पकड़ कर मरोड़ने से भी बढ़ता है.....बढ़ता है.....बढ़ता ही जाता है। यह कैसा अंकुश है? मार्ग खोजने के लिए प्रेरित तो करता है पर स्वयं मार्ग बन्द कर देता है। कहीं छुटकारा नहीं--कहीं मुक्ति नहीं—कोई गति नहीं। सामने है केवल जंजीरों में जकड़ा-बन्धन में फड़फड़ाता, विशाल, आततायी जीवन। उससे रक्षा होना असंभव है। यदि वह विवाह न करे! केवल ऐसे पढ़ती रहे--पढ़ती रहे और नौकरी करे। माता-पिता की सहायता करे.....जीवन को परिवार के सुख के लिए उत्सर्ग कर दे। प्रबल विरोध होगा इस मत का। माता-पिता काहे को मानने लगे! बड़ी सन्तान के प्रति उसके पिता की जो ममता है क्या वह जानती नहीं? कौन सुनेगा उसकी? यह भी जीवन के साथ एक प्रयोग होगा। सफल हो सकता है--असफल भी। कौन उसे इतनी स्वाधीनता देगा? उसमें बल है वह ले सके? कहाँ है उस रहस्यलोक की चाभी जिससे वह उसे खोल सके? नींद नहीं आ रही है। तन-मन दोनों उमड़ रहे हैं। पहचानी पुकार है यह--जो रोम-रोम में रमी है। जैसे इस आवाज पर फट पड़ूँगी। पर यह फटकने का नहीं--विस्फोट का नहीं—सुलगने का आह्वान है। तिल-तिल अपने को स्वाहा कर परिवार और समाज की जड़े सींचने का आदेश है। वह कौन है जो यह आदेश दे रहा है? कौन है वह जो जीवन की कामना और मृत्यु का ज्ञान दोनों को साथ-साथ उछालता यह आवाज दे रहा है? भ्रम यह है नहीं। भ्रम के आँख नहीं होती--कान नहीं होते--अनुभव करनेवाली

हृदय की नली नहीं होती। यह तो सामने खड़ा है--कानों को अपनी पिघलते सीसे जैसी आवाज़ से भरे दे रहा है। हृदय को असह्य आल्हाद से फुलाये दे रहा है।

सुबह गाड़ी पर जब हम लोग बैठ गये, तो बड़े भैया ने कहा--'चाँद! तेरा स्वास्थ्य आज-कल अच्छा नहीं। पिछली बार भी मैंने गौर किया था। लगता है तेरे भीतर परेशानी रहती है। तू उठते-बैठते क्या सोचा करता है?'

'कुछ नहीं भैया! परसों से परीक्षा है। उसी का भूत होगा जिसे तुम देख रहे हो। वास्तव में वह भी नहीं है। बढ़िया तैयारी है मेरी।'

'संभव है मेरा भ्रम हो। माँ तुम्हारे साथ जा रही हैं। वे देखें सुनेंगी।'—गाड़ी चलते समय चाँद भैया और मैंने उन्हें प्रणाम किया। माँ ने कहा—'छुट्टियाँ होते ही तुम बहू को लेकर लखनऊ आ जाना। ज्यादा न रुकना।'

'मैं खुद सोचता था। अब तुम्हारी आज्ञा है। माननी होगी। चाँद इम्तहान में लग जायगा। मंजु! तुम लखनऊ पहुँचते ही पत्र लिख देना।'

गाड़ी बढ़ रही थी। मैंने खिड़की के बाहर हाथ जोड़कर कहा—'अच्छा।'

पौ फटने वाली थी। हवा में एक सुहावनी ठंडक थी। आकाश की फीकी नीलिमा में इधर-उधर दस-पाँच सितारे डबडबा रहे थे। थोड़ी देर में चारों ओर उजाला फैल जायगा। सृष्टि का अनवरत क्रम फिर चल निकलेगा। चारों ओर छाया हुआ रात का अँधेरा सौंदर्य-गह्वरों और कन्दराओं में जाकर छिप जायगा। जो बचेगा, वह एक नाम-हीन अपरिमेय दिशा में जाकर लीन हो जायगा। मुझे आज की रात का ज्वलन्त उल्लास और विषाद कभी फिर मिलेगा? माँ सामने के बर्थ पर लेट गईं। चादर से मुँह ढँक कर सोने का उपक्रम करने लगीं। भैया खिड़की से बाहर मुँह निकाले पीछे छूटती हुई विश्वनाथपुरी देख रहे हैं। पर मैं क्या देखूँ? डिब्बे में दो तीन मुसाफ़िर हैं। सब सोये

हुए हैं। मुझे याद आ गया। जब वाराणसी आ रही थी तब इसी बेला में, ऊषा की ऐसी ही अनुराग-रंजित लालिमा की घड़ियों में भैया ने अपना मर्मभेदी आग्रह प्रकट किया था। आज मैं लौटकर उनके साथ जा रही हूँ। क्षण में युग-युग बीत जाते हैं। पर कुछ क्षण ऐसे होते हैं जो युग-युग तक वैसे ही स्निग्ध, स्फूर्तिप्रद बने रहते हैं। मैं बैठी यह सब सोच रही थी। गाड़ी की गति की लय समतल हो रही थी। बाहर दूर-दूर तक जंगल और गाँव—गाँव और जंगल। बीच-बीच में फर्लांगों तक खड़े वृक्षों की कतारें। भैया ने भीतर की ओर मुँह फेर कर कहा—'माँ! तुम फिर सो गईं! क्या सोच रही है मंजु! शाम को घर पहुँच जायगी.....क्या सोच रही है? बोल न?' मैं कितनी बातें सोच रही थी.....कहाँ-कहाँ से सोच रही थी यह बताना सहल न था। चुपचाप उनकी आँखों में अपनी चितवन स्थिर कर देखती रही।

'आँखें इतनी लाल क्यों हैं? घर लौटने की खुशी में रात भर नींद नहीं आई? लगता तो ऐसा है मैं गहरी नींद सोया। भाभी अगर न जगातीं तो गाड़ी छूट जाती। भाभी-भैया को पूरी फिक्र थी! देख! ऊपर का बर्थ खाली पड़ा है। मैं बिस्तर बिछाये देता हूँ। तू खिड़की पर पैर रखकर चढ़ जा और सो ले। वर्ना सिर दर्द करेगा।'

'सो लूँगी। जल्दी क्या है? तुम न सोओगे?'

'मैं अब न सोऊँगा। देख मेरे सूटकेस में दो किताबें रक्खी हैं, उन्हें निकाल दे। सिगरेट के पैकेट भी कहीं पड़े होंगे, एक निकाल लेना। पढ़ूँगा घन्टे दो घन्टे। तू इम्तहान दे आई। मुझे अभी दो-दो देने हैं। जाड़ा मालूम पड़े, तो रैपर निकाल ले।'

मैंने किताबें और सिगरेट लाकर दे दी। भैया ने लेते हुए मेरी कलाई पकड़ कर कहा—'तेरा हाथ क्यों गर्म है! 'फ़ीवर' तो नहीं है? तबियत में भारीपन है क्या? मुँह क्यों इतना सूखा-सूखा है?'

मैं हँस पड़ी। बच्चों की तरह मेरा ख्याल रखते हैं। मैंने कहा—'मेरी तबियत ठीक है, सो जाऊँगी तो और ठीक हो जायगी।'

'पर, रात को सोई क्यों नहीं ? किसने जागने को कहा था। पढ़ना भी न था कि एक बहाना बना सके। ज़रूर तू चिन्ताकुल थी; पर उससे लाभ क्या ? ईश्वर की मर्जी में जो होता है, वह होता है। भगवान सदैव जो करता है, अच्छा करता है। इस तरह अपने मन को संताप न दिया कर।'

यह भी कोई अपने मन की बात है ? यहाँ भी इन्सान का क्या अपना वश होता है ? क्या इच्छा होने पर आदमी आसानी से सो सकता है ? लेकिन भैया के भगवान् का विचार कर, मन ही मन उनकी मंगल-मयी मूर्ति का ध्यान कर मुझे बड़ा बल मिला। किनारा-सा मिल गया। बोली—'नींद नहीं आई। कोशिश मैंने बहुतेरी की। सो न सकी। ऊपर के बर्थ में तुम न चले जाओ। मैं यहीं लेटूँगी। ऊपर चढ़ने की कसरत मुझसे न होगी।'

'क्या हुआ ? चढ़ जाना।'—कहते-कहते भैया ने मुझे उठाकर खड़ा कर दिया और मेरा हाथ ऊँचा कर बर्थ की चेन पकड़ा दी। मुझे यह उछल-कूद करने में संकोच लग रहा था। भैया ने बैठकर कहा—'एक पैर खिड़की पर—दूसरा मेरे कंधे पर। जल्दी कर।'

मैंने कहा—'तुम्हारे कंधेपर रक्खूँगी तो सीधे स्वर्गलोक पहुँच जाऊँगी। मुझसे यह न होगा। किसी न किसी प्रकार चढ़ जाऊँगी; पर उतरूँगी कैसे ? डिब्बे के लोग क्या कहेंगे तब ? अच्छी उलझन में डाल रहे हो !'

भैया ऊपर चढ़ गये। वहाँ से अपने हाथ बढ़ा मेरे दोनों कंधे पकड़ आसानी से मुझे ऊपर खींच लिया जैसे मैं पाँच-छः वर्ष की बच्ची होऊँ। नीचे उतर कर बोले—चुपचाप सो जा। मैं नीचे लेट कर पढ़ता हूँ।'

माँ की झपकी खुल गई, बोलीं—'क्या है चाँद ! मंजु कहाँ गई ?'

'ऊपर लेटी है माँ ? रात को एक मिनट नहीं सोई। ऊपर जाने में आनाकानी कर रही थी। मैंने चढ़ा दिया। अब आराम कर रही है।

तुम मानो न मानो ससुराल में भी लड़कपन करेगी। वहाँ बात-बात में फरियाद सुनने वाले—सब इन्तजाम करने वाले चाँद भैया रहेंगे नहीं। इतनी बड़ी हो गई पर अक्ल न आई!'

मैं मन ही मन जगमगाती हुई नीचे की ओर मुँह लटकाये देख रही थी। माँ उठकर बैठ गई। आकाश में सबेरा निकल आया था। माँ ने कहा—'चाँद! तू बड़ा अहमक है। उसे कहाँ चढ़ा दिया! तू ऊपर जाकर लेटता। वह यहाँ तेरी बर्थ पर रहती। अब क्या नींद आयेगी मंजु?'

'यही मैं कहती थी माँ! पर बुद्धि का भंडार तो उनके पास है। दूसरे की बात इन्हें कब भाती है! मैं नीचे उतरती हूँ।

'वहीं लेट'—भैया ने कठोर स्वर में कहा—'सो जा।'

'मैं माँ से बात करना चाहती हूँ। जरूरी बात करनी हैं।'

'लखनऊ पहुँच कर कर लेना। माँ अभी सोवेंगी! तू भी सो जा।'

'अब क्या सो सकूँगी। भोर हो गया। तू क्या न सोवेगा?'

'रात भर सोता ही रहा हूँ। कुछ पढ़ूँगा!'

मैं चुपचाप आँख मुँद ऊपर लेट गई। सोने की चेष्टा कर रही थी। पर प्रभात की घड़ियों में एक चेतनता—एक नैसर्गिक, जाग्रत स्फूर्ति होती है वह सोने न दे रही थी। प्राण थक गये थे—सिर जैसे फटा जा रहा—आँखों में कड़ुआपन भरा आ रहा था। पर नींद न आ रही थी। माँ फिर लेट गई थीं। आँखें खोले ऊपर की ओर देख रही थीं। मेरे सिर के ठीक नीचे भैया बैठे थे। प्रभात की वासन्ती हवा में उनके केशों के सौरभ की गमक कभी-कभी उड़कर ऊपर आ जाती थी। मैं धीरे-धीरे सो गई—सोती गई। ग्यारह बजे के लगभग भैया ने मेरे कन्धे पकड़ कर हिलाए। मैं खलबला कर उठ बैठी। माँ खिड़की के पास बैठी बाहर की ओर देख रही थी। भैया ने कहा—'उठ! दोपहर हो आई है। घर में रात को सोना।'—दोनों हाथ फैलाते हुये बोले—'आ उतर! क्या वहीं बैठी रहेगी। चाय रक्खी है।

मैंने साड़ी सिर पर ठीक करते हुये कहा--'तुम बैठो जाकर। मैं उतर आऊँगी'--और सँभलती-सँभलती मैं नीचे उतर कर बर्थ पर बैठ गई। आँखों में आलस्य भरा था। मा के बर्थ पर फिर लुढ़कने लगी। भैया ने कहा--'अब नहीं सोना है।' 'ट्रे' से चाय का प्याला लेकर उन्होंने मेरी ओर बढ़ा दिया। माँ ने मुँह मोड़ कर कहा--'क्यों नहीं सोने देता बेचारी को। बेटी! मेरी गोद में सिर रख कर सो जा। खुद एक मिनट नहीं सोया—पढ़ता रहा है। पढ़ते-पढ़ते ऊब गया है तो तुझे तंग कर रहा है। कोई बात है यह!'

भैया ने कठोर स्वर से अनुशासन भरे ढंग पर कहा--'मंजु! चाय पियो। ठंडी हो रही है। जाकर मुँह हाथ धो आओ।'

मैंने वैसा ही किया। लौटकर आई तो सारी खुमारी, आलस्य दूर हो चुका था। भैया ने सिगरेट सुलगाते हुए कहा—'अब चाहो सो सकती हो। मैं एक शब्द न बोलूँगा।'

'खाक सोऊँगी। जब सो रही थी तब सोने न दिया।'

रास्ते भर मा से बातें होती रहीं। न जाने कितनी नसीहतें उन्होंने मुझे दे डालीं। किस प्रकार मुझे सास, ससुर, पति की सेवा करनी होगी। रात में सब के सोने के बाद सोना और सब के जागने के पहले जागना होगा—उन्होंने मुझे बताया। शाम को दीपक जलने के बाद सास-ससुर को प्रणाम करना होगा। सास के पैर रोज़ रात को सोते समय-दाबने होंगे। मुझे चेष्टा करनी होगी पढ़ाई से विमुख पति का मन पढ़ने-लिखने में अधिकाधिक लगे। वे यूनिवर्सिटी की परीक्षा पास करें। मैंने कुछ ऊब कह कहा—'मैं अकेली क्या-क्या करूँगी!'

'तू सब कर लेगी। दुनिया जानती है तू चाँद की बहन है। मैंने तुझे पेट की बच्ची की तरह माना है। तू वहाँ हम लोगों के सम्मान की रक्षा करेगी। वहाँ लड़कों की तरह नहीं, बहू की तरह रहना होगा। जहाँ जैसा चलन होता है वैसा किया जाता है। सास-ससुर को किसी

प्रकार की शिकायत न हो। हमेशा वह बैठे न रहेंगे। बाद में चाहे जितनी आज़ादी से रहना। अभी नहीं।'

'ऐसा ही होगा माँ। वहाँ मेरे आत्म-सम्मान को ठेस न लगी तो मैं अपनी ओर से उन लोगों को सन्तोष देने में कुछ उठा न रक्खूँगी। मैं कामचोर नहीं हूँ।'

'जानती हूँ बेटी! जहाँ तक हो सके सास को काम न करने देना। इसी सुख के लिए बेटे की माँ वर्षों से बहू की बाट जोहा करती है। वे लोग पढ़े-लिखे समझदार हैं। आदमी का मूल्य जानते हैं। तेरे आत्माभिमान को कैसे चोट पहुँचेगी? तेरा सम्मान क्या उनका सम्मान नहीं?'

'भैया विलायत जाने के लिए तैयार हैं। कहते हैं मई में चले जायँगे। उस समय भी रहने को नहीं कहते। देखती हो माँ! कितनी ज्यादती है यह। विलायत जाने के सम्बन्ध में तुम्हारा क्या मत है?'

'मेरे मत का क्या मूल्य है बेटी! जो बड़े भैया कहेंगे वह होगा। मैं हृदय से नहीं चाहती घर छोड़ कर वह कहीं जाय। भगवान् का दिया खाने को है। पर उसकी पढ़ने की इच्छा है तो कौन रोकेगा? पैसे का कमी नहीं जो यह बहाना चलता। जाय और आराम से रहे। मैं दो-तीन साल काट लूँगी। बड़े भैया जब गये थे तब भी मुझे ऐसा लगता था। अब दिल पक्का हो गया है।'

'लेकिन इतने जल्द माँ! तब तक क्या नहीं रुक सकते? तुम सोचो बहन की शादी में बड़ा भाई न रहेगा तो उसकी आत्मा को कैसे शान्ति मिलेगी? तुम समझा देना। मैं अधिक कहूँगी नहीं। अपने मुँह से ऐसी बातें मुझे शोभा नहीं देतीं। जब बहुत वेदना होती है तब कहना पड़ता है। मुझे वंचित रखकर वे अपने को कितना वंचित कर लेंगे यह भी उन्होंने सोचा है।'

भैया ऊपर के बर्थ पर लेटे पढ़ रहे थे। शायद मेरी और माँ की बात से उन्हें 'डिस्टर्ब' होता था। माँ ने सगर्व ऊपर की ओर देखकर कहा-

'कहूँगी बेटी। मेरी बात न टालेगा। तेरी शादी में उसे रहना होगा! यह सारा स्नेह क्या दिखावा है। क्या बार-बार तुम्हारी शादी होगी?'

मैं निश्चिन्त हो गई। अब भाग कर कहाँ जायँगे। मैं जानती थी—माँ की बात वे कभी नहीं टालते। ये रहेंगे तो मैं अपने भीतर बल भर लूँगी। मन की बात कोई नहीं जानता। मुझे अपने ऊपर अब विश्वास नहीं रह गया। उनके सारा अधिकार त्याग देने पर भी मुझे शान्ति न थी। जीवन इतना सूना लगता था कि मैं अब उसके रस की—जो कुछ है उसके सुख की अन्तिम बूँद तक निचोड़ लेना चाहती थी। जीवन में गति नहीं, तेज नहीं पर एक भ्रम था जिसे बनाये रखना चाहती थी।

:४:

लौट कर घर पहुँचने पर कोई उल्लेखनीय घटना न हुई। मेरे विवाह के दिन निकट आते जा रहे थे। मुझे उत्साह न था। छोटे भाइयों-बहनों के आनन्द की सीमा न थी! माँ भी उत्साह में थकी-थकी फिरती थी। पिता जी बीच बीच में दफ़्तर से छुट्टी लेकर घर पर रहते थे। चाँद भैया से अब कम भेंट होती थी। परीक्षा के बाद वे अपने पासपोर्ट की चेष्टा कर रहे थे। सरकार से लिखा-पढ़ी चल रही थी। बीच में वे दो-तीन बार घर आये थे। पर उनकी बातचीत में एक विचित्र निस्संगता मुझे दिखाई देती थी। एक मर्मभेदी भीति से मैं भर जाती थी। कभी-कभी हृदय में असह्य उत्तेजना होती थी जो दूसरे ही क्षण उससे भी बड़े अवसाद और ग्लानि में डूब जाती थी। एक बात कहे बिना नहीं रहा जाता। मेरे भाग्य अवश्य फूटे थे पर मेरे अन्तर्यामी ने कभी कोई निषेध नहीं किया। भैया की याद आते ही मुझे लगता था सचमुच भगवान् हृदय के भीतर निवास करते हैं। तब मैं भीतर-भीतर उनके आत्मरूप संसर्ग को अनुभव करती थी। एक

आन्तरिक मोहनी मुझे ऊपर से नीचे तक उज्ज्वल कर देती थी पर भैया अब घर कम आते थे। उन्हें जैसे यह सारा एक बड़ा मिथ्या प्रतीत होता था। वे मुझसे जहाँ तक बन पड़े दूर रहना चाहते थे। पहले वे रोज आते थे। घण्टों बैठते थे। कभी-कभी मुझे कहना पड़ता था—'अब जाओ। मैं कुछ घर का काम काज देखूँ। घण्टों से माँ अकेली काम कर रही हैं। तुम बैठे रहते हो तो मैं कुछ कर नहीं पाती।'.....

भैया चौंक कर खड़े हो जाते और कहते—'ऐं! तीन घण्टे से बैठा हूँ। यह भी नहीं कि तुझे कुछ पढ़ाता। अच्छा मंजु! जाता हूँ'—कहकर कुछ सोचते हुए चल देते। मैं सिटपिटा कर रह जाती। वही भैया हफ्तों बीत जाते हैं मेरे घर नहीं आते। मैंने उनके साथ कौन अच्छा सलूक किया है। उनसे कौड़ी-कौड़ी वसूल कर, उनका सर्वस्व हर कर उन्हें जीवन की राहों में मारे-मारे घूमने के लिए निकाल कर खड़ा कर दिया है। मेरी विवशता दयनीय हो सकती है। पर पाप पुन्य, न्याय-अन्याय, लाभ-हानि, मंगल-अमंगल के दाता क्या मेरे साथ रत्ती भर रियायत करेंगे! जो अनन्त गुना वरदान मुझे मिल रहा था उसे उन्होंने देखा है। पर मैं जो एक समूचा जीवन गँवाये दे रही हूँ यह भी क्या वे देखेंगे? मैं कितनी कठोर श्रंखलाओं में जकड़ी हूँ! उन्हें मेरे नारीत्व की सार्थकता देखनी थी तो क्यों दरिद्र माता-पिता की कोख में जन्म दिया? आज जब अपने कलंक की स्याही से अपने पराभव की गाथा लिख रही हूँ तब मैं उनसे अपनी मुक्ति नहीं माँगती—अपना उद्धार नहीं चाहती। भूल नहीं गई हूँ कि मेरा शरीर स्त्री का शरीर है। मेरा मन लाचारी का मन है। जो मिलता है वह मिलेगा। मुझे तो जन्मावधि सहते जाना है। चाहने न चाहने का कोई मूल्य नहीं है। नारी के सर्वनाश का बीज-मंत्र उसी के भीतर फलता-फूलता है। उसका सर्जन होकर भी वह उसके वश के बाहर होता है। उसे बाँध कर जलाने वाला स्वयं बाद में इतना अशक्त हो जाता है कि इच्छा करने पर भी फिर ज्वालाओं से उसकी रक्षा नहीं कर सकता।

मेरे विवाह के दस दिन रह गये थे। मेरे ससुर बहुत से नये आभूषण

बनवाकर मुझे देने आये थे। शाम का वक्त था। मैं ऊपर तिमंजिले कमरे में उनके पास बैठी बात कर रही थी। पहले भी वे कई बार आये थे। पाँच-छः दिन रहे थे। पिताजी की आज्ञा थी जब वे दफ्तर चले जायँ तब मैं बराबर उनके पास बैठूँ—उनका मनोरंजन करूँ। उनके लाये गहने दस हज़ार से कम के न थे। माँ देख कर ही फूल उठी थीं। पर मेरी दुर्गति का अंत अभी कहाँ था? भीतर जितनी जलन बढ़ती थी उतनी ही उसकी चाह बढ़ती जाती थी। मैंने आभूषणों को बड़े कौतुक और उल्लास के साथ देखा। एक बार जब कमरे में कोई न था तब मैंने एक-एक कर सभी जड़ाऊ गहने पहने। आयने के सामने खड़ी हो गई स्वर्ण-ज्वाला से उद्भासित अपना रूप देखने लगी। माँ को आवाज़ सुनाई दी—'बेटी! दादा को पानी दे आ। मेरे ससुर वृद्ध थे। मेरे माता-पिता, यहाँ तक कि मैं भी उन्हें दादा कह कर पुकारती थी।

दादा सोकर उठे थे। पानी माँग रहे थे। गहने उतार कर रखने का अवकाश न था। खोल कर टेबिल पर रखने में भय होता था। मैं एक लोटा ठंडा पानी और गिलास लेकर ऊपर पहुँची। दादा खिड़की के बाहर सड़क की ओर देख रहे थे। मुझे देखकर उन के भीतर प्रसन्नता की लहर दौड़ गई। मैं सकुचाती हुई कुछ दूर हो गई। अपनी दृष्टि में उमड़ती हुई क्रीड़ातुरता और विनोद छिपाने की चेष्टा कर रही थी। दादा ने कहा—'गहने तुम्हारे मन के हैं? इतने ही वहाँ रक्खे हैं। ये केवल आधे हैं। पूरे पहन लोगी तो साक्षात् लक्ष्मी मालूम पड़ोगी।'

मेरे मुँह से बिना सोचे समझे निकल गया—'लक्ष्मी न बना देना। वर्ना वाहन की कमी भी पूरी करनी होगी। दादा! क्या सचमुच लक्ष्मी का वाहन उल्लू है! उल्लू को ही उन्होंने क्यों पसंद किया!'

दादा भेदक दृष्टि मेरी ओर देख कर बोले—'कहा ऐसा ही

जाता है। तुम्हारे बाबू के आने में अभी देर है। कोई किताब ले आओ—पढ़कर सुनाओ। समय नहीं कटता।'

मैं 'कल्याण' का नया अंक उठा लाई। एक लेख पढ़ कर उन्हें सुनाने लगी। दादा को 'कल्याण' के लेख बहुत भाते थे। सूद की भारी दर पर आवश्यकता-ग्रस्त लोगों को रुपया उधार देने वाले, लेन-देन कर जायदाद बढ़ाने वाले सभी वीतराग वृद्धों और अधेड़ों को 'कल्याण' के लेख बहुत भाते हैं।.....सहसा भैया सामने आकर खड़े हो गये। दादा से उनका परिचय पहली बार हो चुका था। इस समय भैया की मुद्रा ठीक न थी। चिन्ताकुल और थके लगते थे। बालों में धूल भरी थी। पसीने की गहरी धारों में वह और जमी लगती थी। मैं गहने पहने सर्वांग-सुन्दरी बनी बैठी थी। भैया को सामने देखकर सारा तार टूट गया। मुझे गहनों से जगमगाते देख कर उनकी आँखें चमक उठीं। पर मेरा क्या से क्या हो गया! मेरे शरीर का अंग-अंग, रोम-रोम गले में फाँसी लगा कर मर जाने की कामना करने लगा। घृणा से मैं सिर से लेकर पैर तक जल कर जैसे खाक हो गई।

दादा ने भैया को देखकर कहा—'आइये! आप इस बार दिखाई नहीं दिये। कहाँ से आ रहे हैं?'

'स्टेशन गया था। वहाँ मोटर खराब हो गई। पैदल आ रहा हूँ। मौके की बात देखिये--एक सवारी न मिली। एक दोस्त जा रहे थे उनको भेजने गया था। आप कब आये? मंजु! तुम्हारे गहने तो नये मालूम पड़ते हैं। खूब अच्छे हैं!'

दादा ने कहा--'यही देने आया था। मुझे आये कई दिन हो गये। कल जाने का इरादा है। आपकी परीक्षा समाप्त हो गई।'

'जी हाँ! मेरे पर्चे बहुत अच्छे रहे। बिल्कुल चाँस की बात है। तैयारी साधारण थी। आपको सुनकर खुशी होगी--मुझे पासपोर्ट मिल गया है! इस महीने के अन्त तक मैं रवाना हो जाऊँगा। तब तक इसकी शादी भी हो जायगी। मैं चलूँगा। आप सुनिये फिर मिलूँगा।'

मुझसे आगे बढ़ा न जा रहा था। एक-एक गहना मन-मन भर का होकर अंगों को काटे दे रहा था। मैंने काँपते हुए कहा—'दादा! मैं नीचे जाती हूँ। लीजिए—आप पढ़िये।' उत्तर की प्रतीक्षा किये बिना मैं गिरती-पड़ती नीचे आई। भैया मेरे घर आवें तो असंभव है उनको छोड़कर किसी और के पास बैठूँ। दादा क्या कोई भी मुझे नीचे उनके पास जाने से न रोक सकता था। भैया दुमंजिले के आँगन में खड़े चौके में दादा के लिए नाश्ता बनाती हुई माँ से बात कर रहे थे। मैं पीछे से होकर चुपचाप कमरे में गहने उतार कर रखने जाने लगी। भैया ने कहा—'मंजु! यहाँ आ। जरा नजदीक से तेरे गहने देखूँ। तू तो पुरखिन मालूम पड़ती है। चन्द्रहार और बाजूबन्द पहन कर!'

न जाने कहाँ की कड़ुआहट भीतर भरी आती थी। मैं बिना एक पल रुके आँधी के धुन्ध की तरह कमरे में पहुँची। सारे गहने उतार बक्स में बन्द कर छत पर आई। एक बड़े लोटे में ठन्डा पानी और तौलिया उन्हें देती हुई बोली—'मुँह हाथ धो डालो। मैं कुर्सी ले आती हूँ। तब बैठ कर माँ से बात करो।'

भैया ने स्नेह की दृष्टि से मेरी ओर देखकर कहा—'तू ऊपर से क्यों उतरी? पढ़कर सुना रही थी। मुझे उतरते देर नहीं—तू चली आई। मैं तुझे सब गहने पहने दुबारा देखना चाहता था। तू उन्हें क्यों उतार कर रख आई?

मैंने स्थिर कंठ से कहा—'तुमने गहने बहुत देखे हैं। मैंने जरूर आज पहले-पहल देखे हैं। और कोई बात करने को नहीं है? क्यों मजाक उड़ा रहे हो?'

भैया ने विस्मित स्वर से कहा—'सुनती हो चाची! इसकी बात। मैं इसके गहनों का मजाक उड़ाता हूँ! मैं गहने नहीं देखना चाहता बहन! तुम्हें गहनों से लदी देखना चाहता हूँ। गहनों का महत्व मेरे लिए यही है कि वे तुम्हारे शरीर पर हैं।'

माँ ने कहा—'तुझे क्या हो गया है बेटी! चाँद से कैसी बात करती

है ! कितने दिन में आज आया है ! क्यों नहीं उसे दिखा देती। क्या छीन ले जायगा ? तेरे गहनों की हम किसी को दरकार नहीं।'

मैंने कुर्सी लाकर छत पर रखदी। भैया आकर बैठ गये। मैं एक पीढ़े में जमीन पर बैठ गई ! दीवार से पीठ टिकाकर आकाश में चक्राकार उड़ती हुई पक्षियों की पाँतें देखने लगी। मुँह हाथ धुल जाने पर भी भैया की आन्तरिक वेदना चेहरे पर साफ नज़र आ रही थी—जैसे घृणा और ममत्व के बीच संघर्ष छिड़ा हो। माँ नाश्ता तैयार कर ऊपर दादा को देने चली गई। भैया ने मेरी ओर देखकर कहा—'वे सब गहने पहन आओ मंजु ! तब मेरे सामने आकर बैठो। मैं तुम्हें वैसी ही सज्जित देखना चाहता हूँ। क्यों तुमने उतार डाले ? क्या मुझे अधिकार नहीं ?'

'तुम्हें सब अधिकार है। पर जल्दी क्या है। अभी आधे हैं ये। विवाह में इतने ही और आयेंगे। सब पहन कर तब तुम्हें दिखा दूँगी। तुम आते क्यों नहीं ? पन्द्रह-पन्द्रह दिन बीत जाते हैं, तुम इधर की सड़क से नहीं निकलते ! आज स्टेशन से न लौटते होते तो क्यों आते ? क्या मैं बिल्कुल पराई हो गई !' कहते-कहते हृदय में बड़े जोर की चोट लगी। वैसी चोट पहले कभी न लगी थी।'

'यही तो बात है मंजु ! मैं तुम्हारे विवाह में न रहूँगा। मुझे इस बीच बहुत जगह जाना है। इँगलेंड में कुछ लोगों के नाम पत्र लेने हैं। इसी लिए आज तुझे सजा हुआ देखना चाहता हूँ। मज़ाक मत समझ। मैं सचमुच तेरे विवाह में न रह पाऊँगा। हृदय ने न माना तब संभव है एक बार जिस प्रकार हो यहाँ से जाने के पहले तुझे देखने की कोशिश करूँ। कब लौटूँगा नहीं जानता। बहुत से मित्र और सम्बन्धी हैं जिनसे एक बार मिलना आवश्यक है। मेरे जाने की तारीख तय हो चुकी है, चाची से मैं यही बता रहा था।'

अज्ञात भय से मेरी छाती धड़क उठी। अब किसी तरह का न भय लगता है--न वैसी धड़कनें छाती में होती हैं। पाषाण

में कंपन होने का काम ही क्या ! अब मैं एक पाषाणी मशीन बन गई हूँ। एक गति, एक भाव से केवल चलाये जाने पर चलती हूँ। वर्ना निस्पन्द पड़ी रहती हूँ। उस समय ऐसी बात न थी। दिल में धड़कनें होती थी। उन धकड़नों में जाने कहाँ-कहाँ के इशारे निहित रहते थे। उस सब को हुए एक युग बीत गया है। मैं आदमी से काठ बन चुकी हूँ। मैंने कहा—'कितने बार मैंने तुमसे यह बात कही है। तुम मुझे दुख पहुँचाने पर तुले हो। मैंने भी तय कर लिया है। अब तुमसे न कहूँगी। जैसा ठीक लगे करना। कभी याद करना या न करना पर भूलना मत। हृदय के किसी कोने में कहीं थोड़ा-सा स्थान बनाये रखना। उतना ही जितना आँख के कोने में एक अधबनी जल की बूँद के लिए होता है।.....तुम्हें कहीं कोई अभाव, कष्ट न होगा यह मैं जानती हूँ। तुम जहाँ रहोगे सुखी रहोगे। भगवान् स्वयं तुम्हारी देखभाल करेंगे।'

अपनी भक्ति के अभिमान में छोटे मुँह कितनी बड़ी बात कह रही थी। जिन महाप्रभु के हाथों मैंने उन्हें सौंपा था, जिस सर्व-शक्ति-संपन्न महादेवता के हवाले मैंने उन्हें कर दिया था वे अपनी जिम्मेदारी न सँभाल पाये। कितनी निर्दय प्रवंचना थी—कितना भयानक प्रतिशोध ! पर आज मैं जितनी असम्बद्ध और असंगत लग रही हूँ—आज जैसे अपने अन्तर्देवता के सामने लाजों मर-मर जाती हूँ वैसी उस समय न थी। तब मैं घन्टों मन ही मन भगवान् से लड सकती थी। एक-एक अभाव, उनके एक-एक अत्याचार को लेकर उनसे खौंव-खौंव कर सकती थी। आज मेरे भीतर का वह सब चुक गया है। शेष है केवल भैया की विदारक याद जिसे सहती जाती हूँ। कभी किसी से एक शब्द नहीं कहती। कोई मेरे ऊपर कैसा भी अत्याचार क्यों न करे मुझे क्रोध नहीं आता। पेड़ जैसी जड़ मैं हो गई हूँ। पर उस समय ऐसी न थी। दुनिया की आपत्तियों, जीवन की वेदनाओं की ओर से तब बिल्कुल भोली थी। आज तरह-तरह की यातनायें सहते-सहते बुद्धिमान हो गई हूँ। भोगने में एक शक्ति होती है जो भोक्ता को द्रष्टा बना देती है। मैं बहुत कुछ

देख सुन सकती हूँ। मैंने यहाँ तक जान लिया है—जो आत्मा-आत्मा की पुकार लगाई जाती है वह कम से कम नारी में नहीं होती। केवल परम्परागत भावना होने के कारण वह ऐसा समझती है। पर वह आत्मा न होकर एक जलता अंगार होती है। स्वयं अपने को धारण करने वाली शरीर और जीवन-संस्कारों से बदला लेती रहती है। उसकी लालिमा और ज्वलन-शक्ति बराबर बढ़ती जाती है। जलकर खाक हो जाने की उसका कभी नौबत नहीं आती.....

माँ दादा को नाश्ता देकर ऊपर से उतर आई थीं। चौके में जाकर दो तश्तरियाँ मुझे देती बोलीं—'चाँद को नाश्ता दे दे। लाकर एक गिलास पानी रख दे। तू भी खा ले।' मैंने भैया की कुर्सी के पास एक छोटी टेबिल लाकर रख दी। पानी का गिलास और मिठाई की तश्तरी उस पर रख कर सामने नीचे पीढ़े पर बैठ कर खाने लगी। भैया चुपचाप खाकर सिगरेट सुलगाते हुए माँ से बोले—'पंडितजी नहीं आये अब तक!'

'दफ्तर में आजकल काम ज्यादा है। रोज सात-आठ बज जाता है। तुम्हें जल्दी क्या है चाँद! खाना खाकर जाना! चौके के सामने गर्मी में क्यों बैठे हो? धुआँ लग रहा होगा। बेटी! भैया को कमरे में ले जा। देखती हूँ चाँद! शादी की वजह से यह अब तुमसे भी शर्माने लगी है। बात नहीं करती।'

'नहीं माँ! मुझसे शर्मा कर कहाँ जायगी? अभी बात कर रही थी। शादी के समय कुछ गंभीर होना ही पड़ता है।'

मैंने खड़े होकर कहा—'चलिए भैया! कमरे में बैठिये। सचमुच यहाँ बड़ी उमस है।'—भीतर आकर भैया आराम-कुर्सी पर पैर फैला कर लेट गए। मैं सामने डेस्क के ऊपर बैठ गई। एक प्रचन्ड निष्ठुर आघात की प्रतिक्षा में मैंने अपने मन को फौलाद बना लिया था।

भैया ने कहा—'तुम मुझे अपने गहने पहन कर न दिखाओगी? अभी ऊपर तुम्हें देख चुका हूँ। पर वहाँ तुम ऐसी दबी हुई, ठिठकी,

सिमटी सी बैठी थीं कि कुछ देख न पाया। अब जाओ—पहन आओ। सच कह रहा हूँ मंजु! मुमकिन है मेरी तुम्हारी आखरी मुलाकात हो। मुझे इतना भी देखने को न मिलेगा?'—उनके मुख पर अब कुछ भावान्तर दिखाई पड़ रहा था पर किसी प्रकार का कोई विकार वहाँ नजर न आता था। वह सदा के समान आज भी प्रसन्न थे। हर्ष की मेरी चिर-परिचित दीप्त मोहनी उनके मुख पर नाच रही थी।

मैं चुपचाप दूसरे कमरे में चली गई। एक-एक कर सारे गहने पहन लिए। भैया के स्वर में प्रतिवाद, अभियोग, आदेश कुछ न था। था केवल एक प्रकटीकरण का भाव जिसे झेलना एक मूक वेदना के लिए ही संभव है। मैं यह सब अनदेखा न कर सकी। मेरे पास एक पीली रेशमी साड़ी थी। निकाल कर उसे पहन लिया। जब अपनाना मन से होता है तब छोड़ना भी मन से होता है। भैया ने अपने मन से मुझे अपनाया था। अपने ही मन से छोड़े जा रहे हैं। मैं कर ही क्या सकती हूँ?

सब पहन ओढ़ कर एक बार मैंने आयने में अपना मुँह देखा जाफरानी रंग की पीली साड़ी के भीतर जाने कहाँ का अन्धड़ भर गया था जो मुझे बिना हिलाए झकझोर रहा था। चुपचाप आ उनकी आराम-कुर्सी के पास सिर झुका कर खड़ी हो गई। उनकी आँखों में सन्तोष का एक नया बोध अधछिप कर फिर बाहर तैर आता था। मैंने कहा—"अब खुश हुए। लो! मैं पहन कर आ गई। जहाँ से हारना था हार गई? पर कब तक मुझे टूटते जाने दोगे? यही तुम्हारी ईश्वर-परायणता है। ऐसे ही किसी गरीब को सताया जाता है?'

भैया ने मेरी सारी बात अनसुनी कर कहा—'तू बिल्कुल देव-प्रतिमा जैसी लगती है। आभूषणों से रूप का प्रकाश कितना बढ़ जाता है! सीधे तन कर खड़ी हो मंजु! मेरी ओर देखो। नीचे जमीन की ओर देखने की जरूरत नहीं। नीचे मिट्टी है—निर्जीव! मैं जीवित मिट्टी

हूँ। सजीव और सविवेक—सक्षम और सबल। तुम्हारी दृष्टि की असाधारणता सहन कर सकता हूँ।'

मैंने मुँह ऊपर उठाया। भैया की आँखों से बिखरते आश्वस्त घनेपन की ओर अपनी दृष्टि गड़ा दी। एक हल्का-सा कंपनपूर्ण अभिमान बहुत चेष्टा करने पर भी मेरी आँखों की कोरों से झाँकने लगा। मेरा अभिमान असंलग्न और अनासक्त नहीं है। यह वयःसंधि का झीना, पारदर्शी अभिमान नहीं है। यह दो असमान खंडों में टूटनेवाले एक अविभक्त व्यक्तित्व की परवशता और मायूसी का अभिमान है.....छटपटाती हुई आत्मा का दर्प है!

भैया ने कहा—'जब तुम इसके दुगने जेवर पहन कर आती तब शायद शची का आविर्भाव हो जाता। चाहता तो हूँ उस दिन तेरा सोलह-शृङ्गार मंडित नववधू का मंगल मय रूप देख सकूँ। पर नहीं मुझे जाना है.....शायद तब तक नहीं लौटना है।'—कहते-कहते भैया ने मेरे सिर पर रखे पीली साड़ी के पल्ले को स्पर्श करते हुए फिर कहा—'सुख से रहना। कभी अन्याय के आगे न झुकना। अन्याय को सहन करना केवल गुनाह ही नहीं, मानव के लिए सबसे बड़ा गुनाह है। वह निर्जीव आदर्शों की सूखी त्वचा को व्यर्थ के लिए फुला देता है। जीवनाभास का भ्रम उपस्थित करता है। कभी, किसी भी दशा में ईश्वर के ऊपर अकंपित विश्वास और निष्ठा रखना। अन्त में वही हाथ लगता है मंजु! वर्ना यहाँ कौन-कौन आया और चला नहीं गया! यही दो बातें मैं तुम्हारे पास छोड़े जाता हूँ। देने के लिए तुम्हें बहुत कुछ दे सकता हूँ। पर न तुम्हें उसकी जरूरत है न मुझे अधिकार। माँ, भैया, भाभी तुम्हें जो देना होगा देंगे। देना तुझे बहुत कुछ चाहता हूँ पर सोचता हूँ....'

'तुमने मुझे क्या नहीं दिया! कब-कब नहीं दिया—कितना नहीं दिया। अब मैं किस चीज़ की भूखी हूँ जो तुमसे माग़ूँ। केवल एक आश्वासन चाहती हूँ। तुम कहीं होगे यदि मैं बुलाऊँगी तो आजाओगे। रुकोगे नहीं। यही मुझे दे दो भैया!'

भैया ने हंसते हुए कहा—'जिन्दगी के इस पार रहा तो। यदि मर गया तब तेरा बुलावा भी न ला सकेगा मुझे।'

मैंने भगवान् को और उन्हें दोनों को सिर टेक कर कहा—'ऐसी बात न करो चन्दा भैया! मेरा दिल टूक-टूक होने लगता है। ऐसी बात सुनने से मुझे वह अपराध लगता है जो नारी के लिए सबसे बढ़कर माना जाता है—प्राणपण से दूर हटाने पर भी जिसकी कुन्ठा पीछा नहीं छोड़ती। तुम क्यों ऐसी बात कर मुझे जीवित जलाते हो?'

न जानती थी उस समय उनके गले के पीछे से न केवल उनका आहत और तमतमाता हुआ पुरुषत्व वरन् आगत का कुहासा—भावी का प्रस्तरीभूत ज्वाला-ज्वार बोल रहा था। इसके ठीक एक वर्ष बाद उनकी मृत्यु हो गई। चोट लगने पर आदमी भविष्य का कौन-सा पर्दा नहीं देख लेता? स्वप्न और सत्य के बीच में केवल पलकों के खुलने और मुँदने का ही तो अन्तर है! समय भी बदला लेना जानता है। जो सुख मैंने लूटा है क्या उसके क्षणों का मूल्य मुझे न देना पड़ता? दाता अपने दान को बेरहमी से वसूल कर लेता है। जाने दो उन बातों को! बार-बार सोचती और कहती हूँ जाने दूँगी। पर जाने नहीं दे पाती। अवसर पाते ही भीतर स्मृति की यह लहर सहसा उन्मत्त आवेश बन जाती है। एक-एक हड्डी को मसलने लगती है। उस मरोड़ और कचट को प्रकट करने वाले शब्द अभी भाषा-शास्त्र बना नहीं पाया। सुना है भारी दुख पड़ने पर औरतों को मूर्छा आ जाती है। तभी बेहोशी देवताओं की देन कहलाती है। पर मैं नारी जाति, नारी जीवन-क्रम का अपवाद बन कर रह गई। मुझे एक क्षण के लिए वह मंत्रिता, सिक्ता, नींद भी नहीं आती जो न केवल शरीर को वरन इस घुटते हुए मन को—मेरी जलती हुई चेतना को विश्राम दे। मेरा अशरीरी अस्तित्व कुछ चैन पा सके। कभी पल भर की अचेतनता भी तो नहीं पाती। तरस कर रहा करती हूँ।

मैंने कहा—'ठीक है। तुम्हारा पता मुझे मा और बड़े भैया से लगता रहेगा। मेरे ऊपर कोई भारी संकट आया और जीवन के प्रखर बरसाती

प्रवाह में अपने पैरों के टिकाने की शक्ति न पाऊँगी तो तुम्हें पुकारूँगी। मुझ जैसी बावली अनुगताओं ने तुम जैसों को हर युग, हर देश में बुलाया है। और तुम आये हो—आये बिना रह नहीं सके हो.....'

भैया की आँखों की दीप्ति फिर जाग उठी। संध्या के झुटपुटे में उनकी आकृति साफ न दीखती थी। मैंने लैम्प जला कर टेबिल पर रख दिया। भैया ने कहा—'जरूर आऊँगा मंजु! आज तुम्हारी शादी के समय तुम्हारे आह्वान को ठुकरा कर भले भाग निकलूँ—उन पावन घड़ियों में मैं यहाँ न रह सकूँ—पर एक बार विलायत की परीक्षा और डिग्री का मोह भी उस समय मुझे रोक न सकेगा। तुम्हारी पुकार मेरे लिए आग की पुकार होगी जिसे सुन कर प्रभंजन के क्रुद्ध थपेड़े भी अपने को रोक नहीं पाते—रोक ही नहीं सकते। एक-दूसरे से होड़ करते टक्कर लेते आगे चले आते हैं! सच मंजु! मेरे जीवन का कोई मूल्य नहीं यदि वह तुम्हारे काम न आ सके—यदि वह तुम्हारी सेवा में निवेदित और समर्पित न हो सके.....'

'बस मेरे देवता, बस! मैंने कहा—'मुझे अब क्या चाहिए? तुम्हारे वचन का वरदानी बल जीवन में उठती आँधियों के सम्मुख मुझे थामे रहेगा। इस सन्तोष के सहारे मैं क्या-क्या न कर पाऊँगी। कौन-सा ऐसा अनाचार और उत्पीड़न है—मानसिक या शारीरिक, जिसका मुकाबला मैं इसके पीछे-पीछे चल कर न कर पाऊँगी? तुम्हें अब रोकूँगी नहीं। विवाह मेरा हो ही जायगा। समाज में सैकड़ों लड़कियों का हो जाता है। पर कितनी सौभागिनियों को यह आश्वस्त अभिनन्दन मिला है? तुम्हारी शुभ कामनाओं और इबादतों का कवच मेरी रक्षा करेगा। तुम्हारी पूजा का प्रतापी शौर्य्य मुझे अडिग, अविचल बनायेगा। तुम्हारी अपराह्न की छाहों भरी थपकी जैसी याद मुझे रोने न देगी'—कहते-कहते मैं भीतर से उमड़ कर घहराने लगी.....

'तू घण्टों से यहाँ बैठी है। ऊपर तेरे ससुर क्या सोचते होंगे? जा न! बैठ उनके पास। मैं खाना खाकर कम से कम पंडित जी से मिलकर

जाऊँगा। कल मैं आवश्यक काम से देहली जा रहा हूँ। देख, तू बराबर पढ़ती जाना। चेष्टा करना कि तेरा पति भी पढ़ने-लिखने में अधिक मन लगाये और आदमी बने। इसके लिये यह जरूरी है तू स्वयं अपना अधिक से अधिक समय पढ़ने-लिखने में लगाये। उसमें नई प्रेरणा पैदा करे। अपने सारे अन्तर्विरोधों को ज्ञान की अग्नि में स्वाहा कर देना। जीवन में अपना अर्जित ज्ञान और अपनी भोगी वेदना ही काम आती है"

मैंने कहा—'बहुत अच्छा। तुम जो-जो कहोगे सब होगा। तुमसे बड़ा शुभी मेरा कौन होगा। मैं सबका पालन करूँगी। शब्द-शब्द का···वर्ण-वर्ण का·····मैं भाग्य को अपने जीवन को लेकर जुआ न खेलने दूँगी।'

'कभी नहीं। वरन् अपने भीतर अभिमान रखना कि जिस चीज को तुम छू दोगी उसकी नई सृष्टि हो जायगी। उसके भीतर जीवन की शिखा आप से आप जल उठेगी। कभी पैसे के लिए अपने व्यक्तित्व को न बिकने देना। दूसरी ओर कभी अपने महिमा के नशे में उन्मत्त न होना।'

'काहे की महिमा और कैसा नशा! मैं कितनी तुच्छ हूँ क्या जानती नहीं! यह मेरी प्रकृति के विरुद्ध है। पर मुझे लगता है अब मैं बुझ जाऊँगी। किसी अन्याय का प्रतिकार न कर सकूँगी। जो होगा सहती जाऊँगी, मेरे सहने की अब सीमा न होगी। अवश, अवसन्न, अपदार्थ मैं केवल जीवित रहूँगी।'

न जानती थी—मनुष्य के जीवन का आधार टूट जाता है—उसकी आशा का नीड़ जल जाता है—पर हृदय की तृष्णा भादों की चढ़ती गंगा की तरह भीतर ही भीतर उमड़ा करती है। वह कहीं चली नहीं जाती। मैं इस गर्व का पालन कर पाती तो आज यह अपवाद जीवन में न आता। कलुष की विकराल छाया चारों ओर से जकड़ न लेती। आज अपने मुँह से अपनी कहानी सुनाकर आत्मा के बर्फीले ज्वालामुखी में आग न लगाती। मानव चाहे। जब जैसी दर्प को बात करे पर उसके हृदय के भीतर जो जमाने भर का अनन्त, चिरन्तर कौतूहल जमा रहता है वह उसे कब चैन से बैठने देगा? खंड-खंड कर उसका दंड इकट्ठा

होता रहता है जो उसे भोगना पड़ता है। पर इस होनहार अमंगल को—इस आने वाले अभिशाप को वह समय रहते समझ नहीं पाता। मेरी इसी नासमझी ने आज मेरा जीवन नर्क बना दिया है। एक दिन को भी मैं अपने हृदय के असन्तोष और वर्जित पिपासा को दूर न कर पाई। प्रेम की छलकती हुई दीप्ति में कहीं किसी प्रमुख स्थान पर कराल अतृप्ति की, एक भूखी व्यथा की—एक न पा सकने की—पाकर खो देने की विदारक छाया रह-रहकर लौट जाती है। जिनके अस्तित्व से मैं कभी परिचित न थी—जिनकी कभी उचटती हुई झलक भी मुझे न मिली थी, वे ही, न जाने किस अतल में सोई वासनायें आज रुद्र वेग से झनझना उठी हैं। भैया के सामने—उसकी शान्तिदायिनी स्थिरता के क्रोड़ में जो शीतलता एक युग तक मेरे तन-मन को जुड़ाती आई वह जैसे उनके साथ लौट गई—पत्थर की तरह मौन और अनुद्वेगशील। मैं आज बात-बात पर घृणा और झल्लाहट से अपने क्षुब्ध मन को कुचला करती हूँ। लगता है इस नर्क से मेरा त्राण न होगा.....न होगा.....

शाम को भैया ने हमारे यहाँ खाना खाया। वह मेरी उनकी आखरी भेंट थी। इसके बाद वे न दिखे.....न दिखे .....यद्यपि तब से एक बार और भर नज़र उन्हें देखने के लिए तरसती रही हूँ। पिताजी के दफ्तर से आने के बाद वे बड़ी देर तक उनसे बात करते रहे। वे कल घर से बाहर जा रहे थे। अब कब लखनऊ आयेंगे या बगैर यहाँ आये बम्बई चले जायँगे कुछ निश्चित न था। उनकी बातों में भीषण उदासी थी पर मैं प्राणपथ से उसे रोककर अपने को बचाती थी। पिताजी ऊपर दादा के पास चले गये। मैं चौके में जाकर माँ के साथ खाना बनाने लगी। जब थाली लेकर भैया के पास आई तब वे चाँदनी में नहाये मर्मर की भाँति निस्तब्ध पड़े थे। उनके चेहरे पर अति कोमल, छायामय माधुर्य्य जगमगा रहा था। संसार का सबसे बड़ा आघात उन्हें भीतर भीतर साल रहा है, इसका आभास तक वहाँ न था। खाना खाते समय कुछ बोले नहीं। मैंने पान बना कर दिये। पान वे कभी न खाते थे। आज

उन्होंने बड़ी प्रसन्नता से लिए। उनके प्रमुदित होठों पर पान की लाली अत्यन्त सुन्दर होकर फूट पड़ी। बोले—'मंजु! एक बात बताना भूल गया। प्रकाश का पत्र आया है। तुझे उसने स्नेह के साथ याद किया है। मेरे जाते समय वह बम्बई में रहेगा। लगता है एक भेंट मे ही वह तुझे बहुत मानने लगा है। कभी फिर तुम लोगों की भेंट होगी। मैं ही न रहूँगा।'

'वे कवि ठहरे! उनके मानने न मानने का क्या ठीक! अब उनसे भेंट भी होगी तो तुम्हारी—मेरी न होगी। मुझे कोई लालसा नहीं है।'

फिर वही नारी का असंयमित और अनर्गल अभिमान! मन की गति के स्रोत का घुमाव कब कितने सूक्ष्म कारणों से बिल्कुल उलट-पलट जाता है! मैं सब भूल गई। यह व्यक्ति आगे चलकर कैसी दुर्बलता, मोह और विडम्बनापूर्ण नशा पैदा कर देगा और मैं उसके निकट धीरे-धीरे अदृश्य-अज्ञात नियति की शक्तियों द्वारा खिंचती जाऊँगी—यह सब मैं तब न जान पायी। यही मानव जान ले तो अपने हृदय पर दूसरे के प्रभाव और प्रभुता को स्थाई बनने ही क्यों दे!

भैया चले गये। मैं पीछे-पीछे उतर कर सड़क पर आई। एक उच्छ्वास, एक नशा, एक आवेग, एक उन्माद मुझ पर छाया था। विश्वास और उसकी अमर मर्यादा ज्यों-ज्यों दूर जा रही थी त्यों त्यों उसकी स्निग्धता का स्पर्श मुझे प्रभासित करता था। भैया जब तक दृष्टि से ओझल न हो गये तब तक मैं उन्हें बराबर फुटपाथ पर खड़ी देखती रही। इस तरह खड़े-खड़े कितना समय बीत गया और कितना बीतता—कह न सकती। जैसे संसार और उसके सारे पदार्थ आँख के आगे से लुप्त हो गये थे। शेष था एक अनहोना-सा नैराश्य जो जीवन के सारे सपनों को चकनाचूर कर फेंक देता है। उस दिन रात को सपने में देखा—मैं सारे गहनों को शरीर से उतार-उतार कर फेंक रही हूँ। ऐसा करते-करते हाथ थक गये हैं पर शरीर के गहनों का अन्त नहीं हो रहा। जब नींद खुली तब देखा आँसुओं से तकिया और बिछौना भींग चुका है। आधी रात बीती होगी पर मुझे चारपाई पर लेटे रहना असह्य

हो उठा। खड़ी होकर नीचे सड़क और दूर-दूर तक जलती बिजली के बल्बों को देखने लगी जो खून से सूजी हुई डबडबाती आँखों की तरह अपना रक्तभरा प्रकाश फैला रही थी !

शाम की पहनी साड़ी और जड़ाऊ गहने मेरी देह पर थे। सामने की चारपाइयों पर माँ और भाई बहिन पड़े थे। वे मेरी आत्मा से जुड़े इस तीक्ष्ण शूल की मटियामेट कर देने वाली धार को देख भी न सकते थे। आज की रात.... ... ...केवल आज की रात.... ...कल सुबह से जीवन का नया अध्याय आरम्भ होगा। जीवन का नया अनुक्रम होगा.....नया अर्थ.....नई यथार्थता ... .नई व्यवस्था .....नई गति और नया विन्यास। सब कुछ नया होगा ! केवल मैं पुरानी रह जाऊँगी। नवीनता की इस अनास्वादित धारा में न बदल पाऊँगी। चेष्टा करने पर—प्राणपण से यत्न करने पर भी इस प्रतिक्षण ग्रसते हुए, पुराने, निराकार आक्रोश को न बदल पाऊँगी। वह जीवन को एक ही प्रकार से जलाता हुआ उठेगा—उठता हुआ जलायेगा। पर चारा क्या ? सभी दिशाएँ अवरुद्ध हैं। कहीं किसी ओर कोई पग-डंडी तक नहीं देख पड़ती। कब तक इस विश्वास की अखण्डता की रक्षा करूँगी.....कब तक.....कब तक यह ज्ञान मेरा साथ देगा ? इसके बाद क्या होगा ? कौन मुझे चिरन्तन चैतन्य की ओर अग्रसर करने वाला—मुक्ति और प्रशान्ति का ऐसा, अमर कर देनेवाला बोध—प्रेरक प्रबोध देगा ? मैं बाकी रात भर जिधर भैया गये थे, उधर की ओर अपनी आत्मा का मुख किये प्रणाम करती रही। दिन का प्रकाश जब आकाश में भर आया तब आलोक के जीवन्तरंगों में ठिठक कर मेरे चीत्कार की रहस्यभरी संगति भी टूट गई। उस सिमटे हुए प्रकाश की तरह मैं भी अपने को भीतर-भीतर लपेटने लगी। मेरे प्राण मुझे डस रहे थे।

दादा उसी दिन शाम को चले गये। नियत मुहूर्त पर मेरे विवाह का शुभ कर्म सुसंपन्न हो गया। जिस तरह बीसों लड़कियों का ब्याह हो जाता है वैसे मेरा भी हो गया। बीच-बीच में लगता था मैं बैठ न सकूँगी—

खड़ी न हो सकूँगी—बात न कर सकूँगी। पर कहीं कुछ भी न हुआ। लगता था—कोई ऊपर वायुमंडल की आड़ में छिपा बैठा अंजलियों आशीष मेरे ऊपर बरसा रहा है। पति को मैं विवाह के पहले एक बार देख चुकी थी। उनकी बातें सुन चुकी थी। बीच में उनकी ओर दृष्टि चली जाती थी। तब जरूर हृदय फटने लगता था। जान पड़ता था कि मैं किसी का सर्वनाश कर—किसी का सर्वस्व लूट कर आई हूँ। अब बचने की सुविधा पाकर भाग निकली हूँ। मन की अशान्ति से बचने के लिए ईश्वर को पुकारती थी। पर फौरन भैया की सत्य जैसी निःसंग मूर्ति सामने आ जाती थी। मैं अपने कर्तव्य को तत्क्षण पहचान लेती थी। मेरे रोम-रोम में बसा विश्वास सशक्त हो जाता था। घर में छोटे भाई-बहनों के उत्साह की सीमा न थी। माँ को मेरे बिछुड़ने का भीतरी शोक था पर कार्याधिक्य के कारण उन्हें अलग बैठकर या मुझे गोद में लेकर शोक करने की सुविधा न थी। मंडप में पति की चंचलता और विवाह की प्रसन्नता को छिपा सकने का लोलुप असामर्थ्य मुझे फूटी आँख न भा रहा था। बात-बात में पुरोहित और वहाँ के उपस्थित व्यक्तियों की दृष्टि बचाकर वे मेरे शरीर का स्पर्श करते थे। अपने भावी पौरुष का छाप अभी से मेरे मन पर डाल देना चाहते थे। उस समय न जाने क्यों मेरा मन चुपके-चुपके रोने लगता था। पर मैं इस अशुभ अपशकुन को लाँघकर स्वस्थ हो जाती थी। मरे मन से ईश्वर से क्षमा माँगने लगती थी। जैसे वे प्रतिक्षण मेरे ही पास रहते हैं। मेरी रक्षा करने और क्षमा-दान देने के अतिरिक्त उन्हें और कोई काम नहीं है। पति के सम्बन्ध में जो सुना था—जैसा उन्हें देखा और समझा था उससे मन ही मन घृणा और अगौरव से मर जाती थी। उनके मुँह से ठीक बात और स्पष्ट, शुद्ध वाक्य न निकलते थे। इतनी अवस्था हो जाने पर भी—बीस-इक्कीस वर्ष की आयु पा लेने पर भी उनकी दशा बच्चों की-सी थी। उनकी बुद्धि का विकास एक बारह-तेरह वर्ष की अवस्था के लड़के जैसा था। उसके आगे न बढ़ा था। ऐसी-ऐसी, असम्बद्ध और अवांछनीय बातें कहते और चेष्टा करते थे कि मैं मन-ही-मन

विरक्ति से भरी जा रही थी। एक बार जब वे पुरोहित की दक्षिणा को लेकर बहस करने लगे और अशोभन ढंग से मेरे पिता से वाद-विवाद कर चले, तब मुझे लगा मैं बेहोश हो जाऊँगी और विवाह-मंडप से उठा लाकर मुझे चारपाई पर डालना होगा। पर क्या मैं यह सब जानती न थी? क्या जान बूझकर, अपने परिवार को सुख देने के लिए मैंने यह बलिदानी जीवन-गति नहीं चुनी? मेरे मन में कोई, क्रोध कोई नाराज़ी—कोई शिकायत न थी। जो था वह एक मर्मभेदी वितृष्णा का उल्कापात था। मैं किसी प्रकार उनसे आँखें चार न करना चाहती थी। वे इस पर तुले थे। मैंने बीच में एक बार उनका हाथ भी झिड़क दिया। भाँवरों के समय ज्यों-ज्यों उन्होंने अपनी बाँह से मेरा कन्धा घेरने की कोशिश की त्यों-त्यों मैं जैसे किसी अन्धड़ द्वारा झकझोरी अपनी दुबली देह उनसे दूर किये रही। सामने दालान में स्त्रियाँ बैठी थीं। आँगन में पुरुष थे। उन्हें इन बातों की जैसे परवाह न थी। जैसे वर्षों से दबी कामुकता का आवेग उन्हें इन मंगलमयी घड़ियों में भी अशालीन बनाये दे रहा था। आखिर मुझे अपने साथ ले जायँगे। अभी ब्याह की सारी रीतियाँ बाकी हैं। अभी मैं उनकी धर्मपत्नी के पद पर पक्के तौर पर आरूढ़ कहाँ हो पाई हूँ! मुझे इस तरह की छीना-झपटी की न कभी आदत रही है न ऐसे लोगों से घृणा करने से मैं अपने को रोक सकी हूँ। उनके पिता अर्थात् दादा की कृपणता मशहूर थी। पर वे भी बात-बात पर इतने अशोभन ढंग से अपना विवाह कराते समय उनकी बातों का समर्थन करेंगे और नाऊ-बारियों से उलझने लगेंगे—ऐसा मैं न सोचती थी। शिक्षा न होने पर, ज्ञान से अपरिचित रहने पर भी मनुष्य में एक वैयक्तिक 'कल्चर' हुआ करता है जो उनको छू न निकला था। मैंने ऐसी बोदी अक्ल का इन्सान कभी देखा नहीं। अपने को हर तरह से सँभालने की चेष्टा करती थी। अपने मन में कोई भी खीझ टिकने न देती थी। भीतर-भीतर उमड़ कर सूख जाने वाले मेरे आँसू मेरी अपने को धैर्य बँधाने की क्रिया के नीरव साक्षी थे। जीवन को कैसा क्या समझती थी और वह क्या निकला!

जो चाहा वह गलत चाहा। जो पाया और भी गलत पाया। स्त्री के ऊपर स्वामी का निश्चित अधिकार होता है—मैं मानती हूँ। पर वह अपने मूर्ख अहंकार का ऐसा भद्दा प्रदर्शन कर सकता है यह कदापि न जानती थी। अभी तो शुरुआत है। जीवन का उपोद्घात है। आगे क्या-क्या देखना सहना है! जिस दिन यह सम्बन्ध पक्का हुआ था उसी दिन आगत के कुहासे परिचित हो गई थी। पर उस समय उसे चीर देने वाला जीवित आलोक मेरे चारों ओर था जिसमें मैं उठती-बैठती, बात करती और साँस लेती थी! आज वह मुझे छोड़कर दूर—सुदूर महासागर के पार चला जा रहा है। मैं चाह कर भी उसे रोक नहीं सकती—अनुवर्तिनी छाया की तरह उसका पीछा नहीं कर पाती। वह मेरा होकर भी मेरे लिये वर्जित है।

शादी हो जाने के बाद तीन दिन तक रीतियों का ताँता बँधा रहता है। मैं सामने के कमरे में बैठी पति देवता के उन भद्दे मज़ाकों को सुना करती जो वे मेरी छोटी बहनों, भाइयों या मुहल्ले के लड़के-लड़कियों के साथ किया करते। मैं अपने को मोड़-माड़कर भीतर-भीतर धरती में समा जाना चाहती थी। मैं इस प्रवृत्ति के मतवालेपन को समझती थी और व्यथा से समस्त चित्त के लहू-लुहान हो जाने पर भी विधाता से उसने जूझने की शक्ति माँगती थी। यह हृदय का अविराम घर्षण! अन्त में केवल रिक्तता हाथ लगती है और एक निस्सार, खोखला, उद्दाम लेकिन फीका—अतिशय फीका उन्माद! एक-एक चीज के लिये उनका बालकों की भाँति ज़िद करना! छोटे-छोटे नेगों के लिये लड़ना-झगड़ना। न पाने पर खिसियाहट के भाव को चेहरे पर दबा न पाना! कितना वीभत्स था यह सब! मैं लाजों मर-मर जाती थी। वे बेहयाई से मंडप के नीचे या औरतों के बीच में बैठे गाल बजाया करते थे। मैं जानती थी दादा को मेरे पिता से एक पैसे की चाह न थी यद्यपि पैसे का लोभ उनके भीतर बहुत था। पर उनके सुपुत्र और मेरे सुपति बात-बात में अपनी क्षुद्रता का इज़हार करने पर तुले थे। किससे किस प्रकार की बात करनी चाहिए—परिवार और मुहल्ले की

बड़ी-बूढ़ी औरतों—जवान लड़कियों के बीच क्या कहना चाहिये क्या नहीं, इसका उन्हें कोई भान न था। कभी-कभी क्रोध से मेरा शरीर जलने लगता था। पर भैया की विदा-बेला की शान्ति और सौरभ से छहराती मूर्ति मुझे ठंडक प्रदान करती थी। मैं उनको सुधारने और सुसंस्कृत बनाने का दृढ़ निश्चय मन ही मन कर उठती थी।

जिस दिन इलाहाबाद अपनी ससुराल के लिये प्रस्थान करने वाली थी उस दिन सुबह आठ नौ बजे भैया की माँ मेरे कमरे में आईं। मेरी पीली साड़ी का पल्ला सिर पर ठीक करती हुई बोलीं (जैसे वे मेरी व्यथा को अब अच्छी तरह पहचान गई थीं)—'दुःख न करना बेटी! समझना तुम्हारे दो मायके हैं। जब इच्छा हो चली आना या लिख देना, बुलवा लिया जायगा। सदैव तन-मन-प्राण से सास-ससुर और पति की पूजा करना। अभी कुछ नहीं बिगड़ा है। लड़के में कुछ 'लोफर-पन' जरूर है पर तेरे साथ रहने पर सब छूट जायगा। तू उसे सुधार लेगी। माँ-बाप का अकेला लड़का है। लाड़-प्यार में बिगड़ गया है। बाप ने केवल पैसा जोड़ना अपना धर्म समझा है—लड़के के गठन की ओर ध्यान नहीं दिया। माँ बेचारी माँ ठहरी। करती, क्या करती!'

मैंने भीतर ही भीतर उच्छ्वास से फूलते हुए कहा—'माँ! भैया आखिर आज भी न आ सके। हम लोगों ने कितना कहा पर वे निर्मोही हो गये। तुमने भी माँ! मन से नहीं कहा। वर्ना क्या टालते!'

'जाने दो बेटी! किसी के न रहने से क्या कोई काम रुकता है! मेरे कहने की बात तू क्या कहती है। जीवन में कदाचित् यह पहली मेरी बात है जो उसने नहीं मानी। सयाने और पढ़े-लिखे लड़के पर माँ बहन का जोर क्या? तू इसके लिए दुःख न कर। यह कहीं रहेगा तुझे एक माँ के पेट से जन्मी बहन की तरह मानेगा। इस समय न जाने किस धुन में है जो परीक्षा खत्म होते ही भागने की तैयारी करने लगा। तूने बहन का धर्म पालन किया। उसकी बात जाने दे। कभी अपनी गल्ती समझेगा तो सोचेगा।'

मैंने चुपचाप उनकी गोद में मुँह छिपा लिया और जी भर रोने लगी। रोते-रोते मेरी हिचकियाँ बँध गई। माँ के धैर्य का बाँध भी टूट गया। उनकी गऊ की तरह निरीह और संतोषभरी आँखें जलधार बरसाने लगीं। मैंने कहा—'बनारस से भैया और भाभी भी अबतक न आये। तुम चलते-चलते उनसे आने को कह आई थीं।'

'कुछ काम लग गया होगा बेटी! मैं तो हूँ। कोई आये या न आये। छूटे जाते हैं क्या? तू उनकी है—वे तेरे हैं। मैं चार दिन की मेहमान हूँ—नदी किनारे का रूख। तू जीवन भर उनकी बहन बनी रहेगी। लायक होंगे तो अपना कर्तव्य पालन करेंगे। यों सगे भाई-बहन भी नालायक निकल जाते हैं। इसकी क्या चिन्ता?'

'नहीं माँ! मैं यह सब नहीं सोचती पर दिल में वेदना होती है। इतनी बड़ी जीवन व्यापिनी बिछुड़न की परिस्थिति में उन लोगों को देख कर मुझे कितना धीरज मिलता। आज मेरे भीतर कितना बल और अभिमान होता। जाने दो माँ। तुम्हीं सबके बदले का पुञ्जीभूत आशीष मुझे दे डालो। मेरे कल्याण की आन्तरिक प्रार्थनायें करो—मुझे दुआ दो! 'तुझे सर्वशक्तिमान परमात्मा स्वयं आशीर्वाद दे रहा है। वह सच्चा आशीर्वाद है। उसी से मनुष्य का कल्याण होता है।'—कहते-कहते मा ने अत्यन्त स्नेह से मेरी ठोढ़ी चूम ली। मेरे सिर को छाती से लगा लिया। मैं भीतर बाहर कृतज्ञ परिपूर्णता से भर गई। मेरे मलिन मुख पर फिर गर्व की दीप्ति दौड़ने लगी। मैं माँ से लिपटकर सिसकने लगी। माँ बैठी-बैठी बड़ी देर तक तरह-तरह से मुझे धीरज बँधाती रहीं। उनकी एक-एक बात के पीछे नारी जीवन का चरम साफल्य और जागरुक विवेक बोल रहा था। मेरी सारी कुण्ठा और अवरुद्ध यातना मेरे आँसुओं की धार में बही आ रही थी। मेरे कलेजे के नीचे चुभे अपमान के सारे शूल इस भीतरी आवेग में आपसे आप उभरे आ रहे थे। उसी समय माँ ने भीतर आकर कहा—'बेटी। लड़के की पालकी आ गई है। मन्दिर चलना है पूजा करने। धूप चढ़ आई है। सुबह से कहते-कहते अब वे

लोग तैयार हुए हैं। क्या कहा ? तू न जायगी ! यह भी कोई बात है !'

भैया की माँ कोमलतापूर्वक मेरा सिर ठीक कर बोलीं—'देवता की पूजा होगी ही। तकलीफ तो हम लोगों को धूप में आने-जाने में होगी। तुम्हें क्या बेटी ! तुम पालकी में चलोगी।'

केवल सोहागिनें इस पूजा में सम्मिलित होती हैं। भैया की मा ने जाना स्वीकार न किया। माँ ने स्थिति समझकर उनसे अधिक आग्रह न किया ! मैंने कहा—'माँ ! तुम इस कमरे में आराम करो। मैं जब लौटकर आ जाऊँ तब जाना।'

'मैं बैठी रहूँगी। जाओ तुम ! भगवान सब प्रकार से कल्याण करेंगे। उनकी पूजा के लिए कभी ऊसरी मन से भी नाहीं न करनी चाहिए। पाप लगता है।'

मैं चुपचाप चादर ओढ़कर पालकी के अन्दर बैठ गई। पीछे-पीछे गीत गाती हुई स्त्रियाँ चलीं। पतिदेव अब सुविधा और अवसर पाकर मेरा घूँघट खोलने लगे। मैंने उनकी ओर देखकर कहा—'कहिए ! क्या चाहते हैं आप ? मुझे यह छेड़खानी पसन्द नहीं।'

'वाह रे तुम्हारे नखरे ! बिना नाराज़ी के नखरे नहीं होते। जरूर मेरे ऊपर नाराज हो। मैंने कौन-सा अपराध किया है ? तुमने परसों रात को मेरा हाथ झटक दिया ! यही तुम्हारा धर्म है ?'

मैंने संयत स्वर में कहा—'मुझे अपना धर्म भली-भाँति मालूम है। घर पहुँचकर आप कोई त्रुटि देखियेगा तो समझाइयेगा। अभी भली-भाँति विवाह भी पूरा नहीं हुआ। अभी से मेरे धर्म की चिन्ता आप को हो गई !'

उन्होंने मेरे गालों को मसलते हुए न जाने कैसी हँसी हसकर कहा—'वाह मेरी सरकार ! तुम्हारी बातें गजब करती हैं। वहाँ पहुँच कर मैं तुम्हें धर्म सिखाने बैठूँगा ? वहाँ दूसरी बातें सिखाऊँगा। क्या ताज्जुब तुम पहले ही सीख चुकी हो।'—कहते-कहते उन्होंने कुत्सित ढंग से मेरा हाथ खींचा।

मैंने सहूलियत से उनका हाथ दूर कर दिया। गीले स्वर में बोली—'देखिये! आगे-पीछे औरतें चल रही हैं। आप सुन लोजिये—यह लपट-झपट मुझे पसन्द नहीं। आप बाज न आयेंगे तो मैं यहाँ उतर जाऊँगी।'

वे अप्रतिभ हो गए। जैसे क्लास में शरारत करते लड़के अध्यापक के डाँट देने पर सिटपिटा जाते हैं। पर जैसे ही उन्हें अपने 'पतित्व' का ध्यान आया वैसे ही फिर पहले जैसे हो गये। मुझे गुदगुदाने लगे। मैं अपने क्रोध को रोकने की चेष्टा कर रही थी। मेरे सारे शरीर में विरक्ति और घृणा के काँटे उठ आये थे। मैंने कहा—'आप चाहते क्या है? क्यों मुझे परेशान कर रहे हैं? तनिक तो लोगों का ख्याल कीजिये।'

'बेक़रार हो रहा हूँ। आज मौका मिला है। वहाँ तुम ऐसी गड़ी बैठी थीं कि हाथ तक न रखने दिया। अब क्या करोगी? आज मेरी बारी है।' —कहते-कहते मुँह बढ़ाकर मुझे उन्होंने चूम लिया। मुझे लगा जैसे लाल बर्र ने काट लिया हो और उसका डंक मांस के भीतर रह गया हो। एक आग-सी लगी थी। जलन से मैं तिलमिलाने लग गई। पर यथा संभव दूर रहकर पालकी की दीवार से सटते हुए मैंने कहा—'अबकी बार आपने मेरी देह का स्पर्श किया तो मैं पालकी से कूद पड़ूँगी। मैं यह बेहूदापन पसन्द नहीं करती। आप क्या समझते हैं मुझे?'

'सब पहले इसी तरह कतराती हैं। बाद में फँसते देर नहीं लगती। अभी तुम नई-नई हो—इसलिए इतना छनकती हो। धीरे-धीरे सध जाओगी। बहुतों को देख चुका हूँ—बेवकूफ़ नहीं हूँ।'

उनकी दबी हँसी और बात के पीछे छिपे भद्दे इशारे ने मुझे इतने ज़ोर से हिला दिया कि लगभग गश खाने लगी। मेरा हृदय-पिण्ड अप्रत्याशित गति से झूलने लगा। मैं अब तक सौंदर्य और भावना के जिस स्वप्नलोक में उड़ती आई थी वहाँ इन सब भ्रष्टाचारों की कल्पना के लिए भी स्थान न था। उनके कथन के पीछे जो जघन्य

संकेत था यह मुझे जोर-जोर से भूमि पर पटकने लगा। मैं अपने को रोक न सकी। घृणा से उफनाती हुई बोली—'आप ज़रूर बहुतों को देख चुके होंगे। आपकी बातों और व्यवहार से, औरतों की ओर बेहूदे ढंग से देखने से पता लगता है कि आप बाज़ारू किस्म के आदमी हैं। पर मुझे अब बख्श दीजिए। आपसे सच कहती हूँ—मुझे ये बातें बिलकुल नहीं भातीं। मेरा दिल दहशत खाने लगता है। अपने को दूर रखिये।'

'दो दिन और दूर रह लो। सोहागरात के दिन क्या करोगी जब कमरे में हमीं तुम रहेंगे? तब तो वश में आओगी।'

'दो दिन के बाद जो पड़ेगा भोग लूँगी। पर ये दो दिन शान्ति से रह लेने दीजिए। कम-से-कम इस शहर के भीतर इन सब गन्दगियों में मुझे न घसीटिये। आप नहीं जानते—इस शहर के वातावरण, सड़कों और मकानों के लिए—यहाँ के स्त्री-पुरुषों के लिए कैसा पूज्य भाव हैं मेरे हृदय मे। यहाँ मुझे अपवित्र न कीजिये। इसके बाद आपकी कैद मे रहना है।'

मेरी उँगली में भाभी की दी हुई चाँद भैया वाली अँगूठी चमक रही थी। उन्होंने ध्यान से उसे देखते हुए कहा—'यह अँगूठी बड़ी अच्छी है। कीमती जान पड़ती है। दादा ने तो खरीदी नहीं। तुम्हें कहाँ मिली? कितना अच्छा 'मून' बना है।'

मेरी जान बची। उनका ध्यान दूसरी ओर बँटा। पर इस बात के भीतर भी जो डंक था वह असह्य था। गोया मेरे मा बाप इतने दरिद्र और गये बीते हैं कि ऐसी एक अँगूठी मुझे खरीद कर नहीं दे सकते! मैं मन ही मन क्रोध से जल गई पर कुछ बोली नहीं।

उन्होंने फिर मेरी उँगली मसलकर अपनी ओर खींचते हुए कहा—'तुमने मेरी बात सुनी नहीं। अँगूठी उतार कर दिखाओ।'

हे भगवान्! आज मन्दिर का रास्ता कितना लम्बा हो गया है। मैंने तय कर लिया लौटते समय इनके साथ पालकी में नहीं वरन् पैदल

आऊँगी। अम्मा को जो कहना होगा, कह लेंगी। मैं पालकी में बैठकर न लौटूँगी। जहाँ की वायु की एक-एक लहर में मेरे शैशव और यौवन की ऐसी अवदात स्मृतियाँ गुँथी हों वहाँ रवि के उज्ज्वल प्रकाश में मैं अपने तन की शुचिता न लुटने दूँगी। यह मेरे भैया का देश है। इन्हीं सड़कों पर मैं बीसों बार देवत्व की मूर्ति बनी घूमी-फिरी हूँ। इन्हीं सड़कों पर मैं उस देवोपम किशोर की छाँह बनी घूमी हूँ, जो सिर से पैर तक केवल दिव्य था···दिव्य····अति दिव्य। इससे अधिक मैं उसकी मनुहार-भरी याद का—उसकी विरामदायिनी स्मृति का और क्या सम्मान कर सकती हूँ। मन्दिर अभी एक फर्लाङ्ग है। वे मेरी उँगली मसले जा रहे थे। मैंने झपट कर हाथ खींच लिया और अपेक्षाकृत कड़े स्वर में बोली—'आप मना करने पर भी नहीं मानते। असभ्यता है यह।'

'इस तरह हम लोग मानने लगें तो कभी कुछ हाथ न लगे। खाली नखरे उठाने में जिन्दगी बीत जाय। मैं कुछ कह नहीं रहा। जानना चाहता हूँ—यह अँगुठी तुम्हें कहाँ मिली।'

'मेरे पिताजी लाये हैं खरीद कर। क्या वे एक अँगूठी अपनी लड़की को नहीं दे सकते?'

'नहीं, नहीं! यह मेरा मतलब नहीं।'—उन्होंने इस बार कुछ सुजन स्वर में कहा—'तुम यह मुझे दे दो। अपनी निशानी की तौर पर। बदले में मेरी ले लो। इसमें भी असली पत्थर लगा है।'

मैंने दृढ़ कंठ से कहा—'नहीं! मैं यह अँगूठी नहीं दे सकती, कभी नहीं दे सकती। आप अपनी रक्खें।'

आज मेरे विगत वैभव के नाम पर वही अँगूठी मेरे पास बची है। अपने भैया की वही पार्थिव यादगार मेरे पास शेष है। आज भी जब उसे देख लेती हूँ तो कुछ क्षण के लिए यातना के इस कुम्भीपाक से मुक्ति मिल जाती है। अभ्यन्तर का कोमलतम शुष्क मर्म हरा हो जाता है। मैं मन ही मन उनकी आत्मा को प्रणाम कर लेती हूँ—वर्तमान की कुहेलिका को चीर—अतीत के बन्द ताले को खोल उन्हीं पुराने दिनों में घुसकर—

उसी पुराने पद पर पहुँचकर जहाँ से एक अति-मानवी परिव्याप्ति लेकर मैं जीवन के कारागार में घुसी थी।

उन्होंने हकलाते हुए कहा—'सती स्त्री का यह धर्म नहीं कि अपने पति की किसी बात से नाहीं करे। सिर काटकर माँगे तो उसे दे देना चाहिए। तुम्हें शर्म नहीं आती। एक साधारण अँगूठी के लिए नाहीं करती हो।'

क्या खूब ? पढ़े-लिखे अधिक नहीं हैं ! चार बार एन्ट्रेंस में फेल होकर पाँचवीं बार पास हुये हैं। पर अपनी पत्नी को सतीत्व-पालन का उपदेश देने की योग्यता तो है। सचमुच भारतवर्ष की तरह और कौन सभ्य देश दुनिया के नक्शे में होगा। यहाँ के तेली और नाई भी दर्शन के गहन से गहन विषय की चर्चा करते हैं। इनके जैसे मूढ़ पति भी नवविवाहिता पत्नी के अपनी अंगूठी देने से इन्कार करने पर सती-धर्म का महत्व बताते हैं। मैं मन ही मन देश के गौरव से फूल उठी। क्यों न हो ! ऋषियों-मुनियों का देश है यह !

मैंने कहा—'यह अँगूठी मैं कभी किसी को न दूँगी। आपको दूसरी जो चीज लेनी हो ले लीजिए। सब कुछ आपका है। मुझे क्या पहने रहना है ? उठाकर बक्स में रख दूँगी। यह अँगूठी जनम भर की साथिन है। इसे छोड़ूँ तो अपंग हो जाऊँगी। यह चिता में भी मेरे साथ जलेगी—अपनी क्षारहीन, निर्धूम, अक्षय ज्वाला लेकर.....'

फिर उनका ध्यान अँगूठी की ओर से हटकर मेरे यौवन-सज्जित शरीर की ओर गया। उन्होंने जोर से मेरी जंघा में चुटकी लेते हुए सतृष्ण नेत्रों से मेरी ओर देखा। व्यथा से मुझे उत्तप्त रोमांच हो आया। मेरे समस्त शरीर को फोड़ता हुआ जाने कौन भयानक परिताप फूट निकला। मैंने क्रुद्ध होकर पालकी का दरवाजा पीटना शुरू किया। उन्होंने मेरे हाथ थामते हुए कहा—'क्या कर रही हो ?'

मैंने दूसरे हाथ से पालकी की दीवारें पीटनी शुरू कीं। उनके चेहरे पर भय से हवाइयाँ उड़ने लगीं। पसीने की बूँदें माथे पर झलमला आयीं।

मैंने कड़े स्वर में कहा—'अभी नीचे उतर जाऊँगी। इस तरह का जानवरपन मैं पसन्द नहीं करती। घर पहुँचते ही दादा से सब बयान करूँगी। पूछूँगी—शादी के यही मायने होते हैं!'

उन्होंने सभीत दृष्टि से मेरी ओर देखा। पुरुषत्व का सारा पशुत्व-पूर्ण अहं गायब हो गया था। वही बारह-तेरह वर्ष का अधकचरी बुद्धिवाला बालक फिर आकर मौजूद हो गया। मैंने अपने दोनों हाथ खींचते हुए कहा—'आपने मुझसे बात भी की तो मैं पालकी पीटूँगी। लौटकर आप अकेले पालकी मे आयेंगे।'

पूजा कर चलते समय मैंने अलग ले जाकर अपनी माँ से कहा—'मैं इस बार तुम लोगों के साथ पैदल चलूँगी। पालकी मे न जाऊँगी।' माँ ने बेहद विस्मय से मेरी ओर देखा और पूछा—'क्यों?'

'ऐसे ही। मुझे यह सब बुरा लगता है। मैं कपड़े की गुड़िया नहीं जो मुझसे बच्चों की तरह खेला जाय। मैं मानवी हूँ माँ!'

मेरी माँ बुद्धिमती थीं। सब समझ गईं। बात को अधिक न बढ़ने देने के लिए—मेरी ज़िद से भलीभाँति परिचित होने के कारण मुझे अपने साथ पैदल लेकर लौटीं। गाँठ जाड़कर भगवान की पूजा होने के बाद उनकी पालकी उन्हें लेकर सीधे जनवासे लौट गई। पूजा करते समय भी मेरे गात पर गहरी मूर्छना छाई जा रही थी। कभी मैं अपने को देखती थी, कभी उनको और कभी भगवान् की मूर्ति को। यहाँ से लौट आ भैया की माँ की गोद में बेहाल हो गिर पड़ी। मैं आधी बेहोश थी। कुछ देर बाद पूरे होश में आई। माँ बैठी पंखा झल रही थीं। मैंने चुपचाप उठकर एक लोटा पानी पिया और अच्छी तरह मुँह धोया। भैया की मा ने कहा—'तू पालकी में क्यों न आई। धूप में इतनी दूर पैदल आना क्या आवश्यक था! लड़के को जनवासे लौटने की ऐसी जल्दी थी! आजकल के लड़के सगुन की रीति भी पूरी नहीं करते।'

मैंने उपालंभ से फूलते हुए कहा—'यह बात नहीं माँ! रास्ते

में जाते समय मुझे इतना तंग किया गया कि मैंने लौटकर पैदल आना पसंद किया। जब लाज-हया नहीं रह गई तब क्या !'

भैया की माँ को विशेष आश्चर्य न हुआ। मेरे पति की चाल-ढाल में एक ऐसी शोहदई थी जो किसी भी चतुर व्यक्ति से छिपी न रहती थी। उन्होंने तो छब्बीस-सत्ताइस वर्ष की अवस्था में विधवा होकर यह दुनिया देखी थी। मुझसे धीरे से बोलीं—'तूने डाँटा-फटकारा तो नहीं ? देख ! अभी लड़का है वह। लड़कों को विवाह का विशेष चाव होता है। संभव है उस झोंक में तुझे छेड़ता रहा हो। पर यह शरीर पति का ही है। इस पर नारी का अपना अधिकार नहीं होता। इस सम्बन्ध में कभी उससे कुछ न कहना चाहिए। स्वामी है वह ! जैसे चाहे अपनी वस्तु को रक्खे। चाहे ठुकराये—चाहे प्यार करे। सब सहन करना होता है। नारी का जन्म लेकर भीतर-भीतर घुलना पड़ता है। एकान्त में जलना.....जलते जाना.....जलते जाना पर मुँह से प्रकट न होने देना.....।'

'मुझे यह सब सहन नहीं। मैं कोई बाजारू औरत नहीं कि ऐसा गंदा बर्ताव मेरे साथ किया जाय। मेरे आत्मा है। असज्जनता मुझे भी अखरती है। मैं उनकी पत्नी हो गई तो यह अर्थ नहीं कि बन्दरों की तरह नोच-खसोट की जाय.....' मैंने क्रोध से चमक कर कहा—'मुझे लगता है सख्ती से काम लेना पड़ेगा। दादा से सारी बात कहूँगी। यह भी कोई प्रेम है ! प्रेम प्रकट करने का कोई ढंग है ! यह तो जंगलीपन है.....।'

माँ का चेहरा गूढ़ वेदना से भारी पड़ गया ! आज की घटना से नहीं कदाचित् यह सोचकर कि कैसे बीतेगा यह अमधुर और दीर्घ जीवन ! दो जीवनों के जुड़ाव के बीच यह कहाँ की असंगति आकर बैठ गई ! वे समझ न पाती थीं, कैसे मुझे समझायें। भविष्य की आशंका से उनका मन विषण्ण हो रहा था। उनके मन की अवस्था एक बुरे स्वप्न जैसी थी। ज्यों-ज्यों वे मेरे संकल्प-विकल्प को गहरा और घना देखती

थीं त्यों-त्यों उनकी पीड़ा बढ़ती जाती थी ! अक्सर कहा करती थीं—चाँद ! तू लड़का। तेरी सब निभ जायगी ? पर मंजरी को तूने बिगाड़ दिया है। बात-बात में तेरी नकल करती है। यह लड़की है—पराये घर जायगी ! वहाँ इसका क्या होगा ? मैं सोचा करती हूँ यदि वे लोग सहनशील न हुए तो कौन इसकी शान बरदाश्त करेगा ?' पर मुझमें शान-शौकत कुछ न थी। मैं अन्याय न सह पाती थी। यही मेरा कसूर था। आज मैंने एक कांड कर डाला था। उन्होंने मुझे समझाया। हर प्रकार से नई परिस्थितियों के बीच अपने को ढालने का—अपने को बिल्कुल बदल डालने का और जीवन में आनेवाले नये-नये सम्बन्धों के अनुरूप बना डालने पर ज़ोर दिया। मैं बैठी तटस्थ एकाग्रता के साथ सब सुनती रही। मेरी डरी हुई आत्मा लड़ाई से दूर भागती रही। शान्ति की एक मनोज्ञ छाया सदैव मेरे अन्तर्पट पर दौड़ती रही है। लेकिन जहाँ उठते-बैठते एक अश्लील अनाचार-कदाचार की ओर इतने घृणित ढङ्ग से स्थूल संकेत किया जाय वहाँ क्रोधित न होना आश्चर्य है—नैतिक खोखलापन है। पति का अर्थ पशु नहीं होता। हर काम करने का सुसंस्कृत, सौष्ठ्यपूर्ण ढंग होता है। मैं घण्टों बैठी माँ की पीयूषवर्षिणी वाणी सुनती रही। आज उन्हें छोड़ने का मेरा मन न हो रहा था। रह-रह कर अपनी भरी आँखें दूसरी ओर फेर लेती थी।

उसी दिन रात को मैं लखनऊ से विदा होकर प्रयाग के लिए चल पड़ी। भैया की माँ शाम को अपने घर चली गईं। अब अपनी सगी माँ से विदा लेनी थी। स्टेशन के लिये गाड़ी में बैठते समय माँ ने कहा—'बेटी ! एक बचन तुझसे चाहती हूँ। माँ होने के नाते यह मेरा अधिकार है। बोल ! माँ की बात हर तरह से मानेगी न !'

'बोलो न माँ !' मैंने रुँधे गले से कहा—'पूरा यत्न करूँगी मानने का।'

'तुझे उन लोगों से जो शिकायतें हों तू हमें लिख भेजना। वहाँ कोई ऐसी बात न कहना या करना कि बाद में हम लोगों को किसी के सामने

शर्मिन्दा होना पड़े। तू समझदार बेटी है। किशोर की बात पर कभी ध्यान न देना। हर प्रकार से उसके विचारों को प्रभावित करने की चेष्टा करना। मुझे विश्वास है तेरे भाग्य से वह सुधर जायगा और पढ़ने-लिखने में मन लगायेगा।'

मैंने माँ के मन की विकलता को समझ कर कहा—'माँ! मैं तुम्हारी बेटी हूँ। कभी तुम्हें मेरे कारण उन लोगों के आगे लजाना न पड़ेगा! दोपहर की बात को कोई महत्व न देना। उस समय मेरा दिमाग ठीक न था। तुम फिक्र न करना। यहाँ से जाने के बाद मैं किरण (छोटी बहन) को बुला लूँगी। वहाँ मेरे पास पढ़ेगी। मैं अकेलापन न अनुभव करूँगी। मेरे भाग्य को लेकर तुम लोग चिन्ता न करना। मैं सुखी हूँ।'

सुबह ससुराल पहुँच गई। ब्याह के पीछे की शेष रीतियाँ भी पूरी हो गईं। स्वामी की पत्नी और सहधर्मिणी के पद पर अब मैं मुस्तकिल हो गई। पर यहाँ आकर घर का जो हाल देखा वह विचित्र था! पिता और पुत्र के बीच आपसी कटुता का अन्त न था। मेरी सास एक सीधी-सादी अपढ़ स्त्री थी। अच्छा स्वभाव उन्होंने पाया था। इकलौती बहू की प्रतीक्षा में बेखटके बिना किसी आपत्ति के वह अपनी छोटी-सी गृहस्थी चला रही थीं। लड़के के ऊपर उनके प्रेम की सीमा न थी। पर पति से अर्थात् दादा से वह बहुत डरती थीं। दादा का मुँह जब खुलता था तब वे औचित्य-अनौचित्य का भेद भूल जाते थे। मेरे पति की ओर से वे बिल्कुल निराश हो चुके थे। केवल मेरी ओर से उन्हें आशा थी। शायद पढ़ी लिखी विदुषी पत्नी पाकर उसकी सुप्त मानसिक वृत्तियाँ जाग उठें। अध्ययन की ओर से विमुख उनका मन ठीक हो जाय। दादा मेरे शील-सौंदर्य और विचारों की उच्चता पर—विद्यानुराग पर मुग्ध थे! इसी बीच एक दुखद घटना हो गई। मेरे पति फर्स्ट-इयर में फेल हो गये। दादा ने सुना तो उन्हें सैकड़ों गालियाँ सुनाईं। क्रोध से पागल हो गये। फर्स्ट-इयर में विद्यार्थी फेल हो सकता है यह उनकी कल्पना के बाहर की बात थी। मैं देखती थी दादा को कितनी आन्तरिक पीड़ा थी। ढलती हुई

उम्र में भगवान् ने इकलौती सन्तान दी तो अपने एक भी अरमान की पूर्ति वे उससे न कर पाये। बिरादरी में वे सब से संपन्न व्यक्ति माने जाते थे। पर लड़के का सुख उन्हें बदा न था। उनकी आकाँक्षा थी लड़के को अधिक से अधिक शिक्षा दिला कर उच्चतम पद पर देखने की। आजीवन एक-एक पैसे की कृपणता कर वे आज दो लाख की हैसियत के आदमी थे; पर मन का सुख उन्हें न था! मेरे पति ने आकर अपना परीक्षाफल सुनाया तो उन्होंने भोजन न किया। दिन भर बेचैनी से फटफटाते रहे। साथ ही मैं एक बात और उनमें लक्ष्य करती थी। मेरे सामने भी वह उनका इस प्रकार अपमान करते थे और डाँटते-फटकारते थे जैसे कोई छोटे बच्चे को प्रताड़ित करता है। उनका कर्त्तव्य था—विवाह हो जाने के बाद वे किसी प्रकार अपने पुत्र को पुत्र-वधू की आँखों में गिराने की चेष्टा न करें। उनका इस ओर कोई ध्यान न था। यही नहीं, तनिक देर पति मेरे पास बैठ जाते तो वे वहाँ आ जाते। उन्हें किसी न किसी काम से बाहर भेज देते। उनके भीतर यह अविश्वास सुलगा करता था कि यदि पुत्र अपनी पत्नी में अधिक लिप्त हो गया तो शायद उसमें पढ़ने-लिखने की जो यत्किंचित प्रवृत्ति है वह भी न जाती रहे। इसलिए वे पुत्र का मेरे साथ केवल लिखने-पढ़ने और प्रेरणा-दान का सम्बन्ध चाहते थे। दूसरी ओर पुत्र की कामुकता की सीमा न थी। इस प्रकार पिता-पुत्र के भीषण घर्षण के बीच मेरी नीरस जिन्दगी बीत रही थी। मेरे पति का यह हाल था कि दुनियाँ भर की बातें कहते-सुनते थे पर पढ़ने की बात सुनते ही उनका मन ऐसे भयानक वेग से उचटता था कि देखकर मैं हैरान हो जाती थी। ऐसा जन्मजात भयानक विराग शिक्षा की ओर से मैंने कभी सुना न था। मैं समझ गई इन्हें रास्ते पर लाना मेरे बूते के बाहर की बात है। दूसरी ओर उनकी शोहदई के बहुत से नये-नये रूप सामने आ रहे थे। इतनी बड़ी उम्र में भी पतङ्ग उड़ाना उनका रोज़ का शौक़ था। एक से एक आवारा और बाज़ारू किस्म के आदमियों से उनकी दोस्ती थी।

उनकी बराबर यह इच्छा बनी रहती थी कि मेरे पास बैठे रहें। लेकिन दादा को यह सहन न था। विवाह हो जाने के बाद शायद उन्हें यह अहसास हो रहा था कि विवाह के बाद पति-पत्नी की अधिक निकटता कदाचित् पति का विद्यार्थी-जीवन सदैव के लिए समाप्त कर देगी।

एक दिन मैं दादा की पुस्तकें उलट रही थी। उनके बीच में प्रकाश का एक उपन्यास पा गई। उसे मैं भैया के पास पढ़ चुकी थी! पर यहाँ पढ़ने को कुछ मिलता न था। इसलिए उसे ले अपने कमरे में लेट कर पढ़ने लगी। तब तक किसी काम से वे आये और मेरे हाथ में पुस्तक देख कर बोले—'इसके लिखनेवाले बड़े प्रसिद्ध आदमी हैं। हमारे भतीजे लगते हैं। जब यहाँ आते हैं तो घर हमारे ज़रूर आते हैं।'

मैंने चौंक कर कहा—'आप के भतीजे! क्या कहते हैं आप? ज़रा उनकी तस्वीर एक बार देख लीजिये, तब कहिये! मैंने पुस्तक के भीतर लगे हुए प्रकाश के चित्र को उनके सामने कर दिया। उन्होंने दुबारा हकलाते हुए कहा—'ठीक कहता हूँ मैं—हमारे भतीजे हैं। बिल्कुल निकट का सम्बन्ध है। इधर दादा और उनके पिता में तनातनी हो गई है। इन लोगों का चाल-चलन ठीक नहीं। शराबी, कबाबी सभी कुछ हैं। दूसरे की बहू-बेटियों पर खराब निगाह डालते हैं। पहले हमारे यहाँ ठहरते थे। अब तुम्हारे आजाने के कारण न आयेंगे। क़ायदे से तुम्हें उसके सामने निकलना चाहिए। पर दादा यह कभी बरदाश्त न करेंगे। मुझे भी औरतों की आज़ादी पसन्द नहीं। ऐसे बदनाम आदमी का औरतों के बीच आना मैं पसन्द नहीं करता। मगर लोग इनके लेखों, कविताओं की बड़ी तारीफ़ करते हैं।'

मैं मन ही मन घृणा से भर गई। जो व्यक्ति खुद अपनी नवविवाहिता पत्नी से अपनी आशिक-मिजाज़ी की धूम बाँधा करता हो और बिना किसी हिचक के वेश्याओं की बातें करता हो, वह इतने बड़े विद्वान् और लेखक के विषय में इतनी आसानी से बातें करता है! दूसरी ओर अपने भतीजेपन के गौरव के मोह का लोभ भी नहीं संवरण किया जाता। मैंने

कहा—'मैं इनसे मिल चुकी हूँ, घण्टों इनके साथ रही हूँ। अभी बनारस जब मैं इम्तहान देने गई थी, तब जहाँ मैं ठहरी थी वहाँ ये भी ठहरे थे। मुझसे बड़ी बातें हुई। खूब कविताएँ सुनने को मिलीं। वे मेरे चाँद भैया के गहरे दोस्त हैं। यहाँ आयेंगे तो मैं उनसे मिलूँगी और बात करूँगी। यहाँ के रिश्ते से मैं उनकी काकी होती हूँ। काहे का पर्दा?'

'यह नहीं हो सकता। तुम्हें हमारे मन से चलना होगा। अपने यहाँ की बात जाने दो। यहाँ जिन लोगों के सामने हम कहें उन्हीं के सामने तुम्हें निकलना होगा। गैर के सामने नहीं।'

'आप मुझे जानते नहीं! चाहे तो दादा से बता दीजियेगा। मैं उन औरतों में नहीं हूँ जो अपने व्यक्तित्व का बलिदान करती घूमती हैं। जिनकी कोई मर्यादा और शील नहीं होती। मैं उनमें नहीं हूँ जिनका चरित्र अभी घूँघट के अन्दर ही पनप रहा है और पर-पुरुष की हवा लग जाने से ही खराबी हो जाता है। ऐसी औरतें आप जानते हैं क्या करती हैं? उनके चरित्र का दिवाला निकल जाता है। वे घूँघट की ओट में दूसरे व्यक्ति से आँख लड़ा सकती हैं—कुत्सित इशारे-बाजी कर सकती हैं पर हृदय खोलकर ज़ाहिरा तौर पर किसी से बात तक नहीं कर सकतीं। आप चिन्ता न कीजिये। उनमें कोई दोष भी होगा तो मैं अपनी रक्षा कर लूँगी। मेरे चाँद भैया कहा करते थे वे बड़े दृढ़ चरित्र के आदमी हैं। विवाह भी अब तक नहीं किया है। मैं चाँद भैया की किसी बात को झूठ नहीं मान सकती। वे जब यहाँ आयेंगे मैं जरूर मिलूँगी।'

'तुम्हें चाँद भैया की बात का इतना ख्याल है! हम लोगों की इज्ज़त-मर्यादा का नहीं! वे तुम्हारे कौन हैं आखिर?'

मैं क्या उत्तर देती इस नादानी से भरे सवाल का! चुप रह गई। बात वहीं पर खत्म हो गई। लेकिन अब एक नई भावना मेरे हृदय में हिलोरें लेने लगी मैं उनकी काकी हूँ—मेरे पति उनके काका हैं! यह कहाँ का सम्बन्ध निकल आया! अब तक भैया के कारण जितनी उनके

पास थी उतनी निकट अब न रह गई। यहाँ के नाते से उनसे जितनी दूर रहना चाहिए, उतनी दूर न रह पाऊँगी। एकाएक फिर उनकी स्मृति मेरे घुलते स्वप्नों में फूट पड़ी। भैया को पहुँचाने वे बम्बई जायँगे—अवश्य जायँगे। भैया के लिये कितना स्नेह है उनमें! भैया उनका कितना सम्मान करते हैं! मुझे भैया के सम्मान्य का आदर करना चाहिए। यहीं आकर भैया की सुधि के चरणों पर मेरा सम्पूर्ण समर्पण हो जाता है—निराधार आकुलता का विह्वल निवेदन हो जाता है। मेरी सारी जिज्ञासायें लीन हो जाती हैं। मेरा मौन अपनी सारी प्रश्नता खोकर अपना उत्तर स्वयं बन जाता है। उस समय मेरी पुकार कितनी प्रचण्ड हो जाती है—मुझमें कैसी दुर्निवार शक्ति का दानव फूट पड़ता है—मैं जानती हूँ! भैया के उन्हीं सखा और बन्धु का यहाँ इस 'मीडियाकर' गृहस्थी में इस रूप में उल्लेख होता है! बात यह है कि उनके विचारों की तीक्ष्णता इन लोगों से बरदाश्त न होती होगी। ये उनकी स्पष्टवादिता से घबरा उठते होंगे। पर मैं उन्हें जानती हूँ। मेरे पारदर्शी भैया उन्हें जानते हैं। नहीं! यह अविश्वास और अपमान का मार्ग उनके लिये नहीं है।

इसके बाद मैंने अपनी सास से धीरे-धीरे उनके सम्बन्ध में जानने की चेष्टा की। सास ने मुझे सब बता दिया। पहले उनके परिवार से हम लोगों से बड़ी आत्मीयता थी। धीरे-धीरे मेरे ससुर के कृपण स्वभाव और आत्म-स्वार्थ के कारण वे लोग दूर खिंचते गये! प्रकाश के सम्बन्ध में मेरी सास ने बताया कि उसके चाल-चलन के कारण पहले लोगों को बड़ी शिकायत थी। अब कुछ सुनने में नहीं आता।

मैंने कहा—'अम्मा! वे मेरे भतीजे हुए। वे अपने घर आयेंगे तो मैं उनके सामने निकलूंगी या नहीं? रिश्तेदारी में तो अलगाव चलता नहीं। मैं अभी बनारस में उनसे मिली हूँ। आदमी ऊँचे और सच्चरित्र जान पड़ते।'

सास ने अब सजग और सशंक होकर कहा—'नहीं बहू! भतीजा होने से क्या होता है। उमर में तुमसे कितना बड़ा है! तुम्हारे ससुर को

उस पर बड़ी नाराजी है। उनके सामने तुम बात करोगी तो वे झल्ला जायँगे।'

'झल्लाने की क्या बात है? उनको मैं पहले से जानती हूँ वे नहीं जानते—इस घर में मेरा विवाह हुआ है। अब उन्हें यह सब मालूम होगा तो उन्हें कितनी खुशी होगी! न आते होंगे तो भी मुझसे मिलने के लिये आयेंगे। उस दशा में यह कैसे सम्भव है मैं उनसे न बोलूँ? यदि रिश्ता इस तरह का हो गया होता तो बात दूसरी थी। पर वे यहाँ के नाते से भी छोटे हैं! उनके सामने पर्दा क्यों? मुझे जब से मालूम हुआ है कि उनका हमारा इतना निकट सम्बन्ध है तब से मुझे बड़ी खुशी हो रही है। मेरे मन में उनके लिए अथाह आदर है। मैं क्या पूरा देश उनका आदर करता है।'

और बात न हो पाई। घर में कटुता और कलह बढ़ता जा रहा था। पतिदेव ने पिताजी से नाराज होकर और उनके द्वारा खर्च बन्द कर दिये जाने पर किले में नौकरी कर ली। सुबह सात बजे टिफ़िन-कैरियर लेकर जाते थे और शाम को सात बजे लौटते थे। दादा को जैसे उनकी ओर से कोई मतलब न था। जो आदमी दिन भर किले में काम करेगा वह सिनेमा अवश्य रोज़ देखेगा। नतीजा यह होता—बारह बजे से पहले वे घर न आते। मुझे यह सब देख कर बड़ी शर्म लगती। पिता के पास लाखों की सम्पत्ति और महीने में छः सौ रुपये की निश्चित आय और लड़का इस प्रकार की कुलीगीरी करे। पर मैं जानती थी यह काम अधिक दिन उनसे हो न सकेगा। एक दिन वे छोड़ देंगे। हुआ भी यही। एक महीने के बाद ही उन्होंने छोड़ दिया। एक ग्रामोफोन की दुकान पर नौकरी कर ली। इधर मेरी परीक्षा का फल निकला। मैं प्रथम श्रेणी में पास हो गई। पर दादा को उत्साह न था। मैंने उत्साह-विह्वल स्वर से कहा—'दादा। मेरे आगे पढ़ने का प्रबन्ध आप कर दीजिये। चाहे यहाँ—चाहे लखनऊ में। मैं लखनऊ में पढ़ना पसन्द करूँगी।' दादा ने रुखाई से कहा—'तुम्हारा आगे पढ़ सकना तब संभव था जब किशोर

आगे पढ़ता। उसकी ओर से मैं निराश हो चुका हूँ। तुम्हें भी अब नहीं पढ़ना। घर का काम करो—जो हो सके पढ़ती-लिखती रहो। तुम्हारा कालेज में जाना मैं पसन्द न करूँगा।'

मैंने अनुनय भरे स्वर में कहा—'आप तो कह रहे थे—तुम्हारी जहाँ तक इच्छा हो पढ़ना—पढ़ती जाना। आज आप ऐसा कह रहे हैं! उनका पढ़ना छुड़ाने की भी क्या आवश्यकता है? फेल हो जाने दीजिये। कभी न कभी पास कर लेंगे। उनके पीछे मेरा जीवन क्यों खराब करते हैं? मेरे चाँद भैया मुझे जाते समय आदेश दे गये हैं आगे अध्ययन करने का.....

दादा के हृदय में चाँद भैया के लिये ऐसा द्वेष है यह मैं आज जान सकी। बोले—'चाँद भैया ने कहा है तो वे खर्च भी देंगे। उनका कहना तुम्हारे लिए इतना महत्व रखता है! पर जिन्दगी तुम्हें यहाँ बितानी है। बात-बात में उनकी दुहाई देने से कैसे काम चलेगा? अपने बाप से कहो— वे तुम्हें आगे पढ़ावें।'

मैंने कहा—'उनकी ऐसी स्थिति होती तो आप इतने जल्द यह व्यंग न करते। रह गये चाँद भैया! वे मेरे लिए जाने क्या-क्या कर सकते हैं। यह तो छोटी बात है। जाने दीजिये! मुझे आपकी आज्ञा की दरकार है। आप को उत्साह नहीं है तो मेरे लिये कालेज 'ज्वायन' करना उचित न होगा। आप बेटे और बहू में इतना अन्तर क्यों मानते हैं? बेटा नहीं पढ़ता तो बहू को उच्च शिक्षा दिलाकर अपनी अभिलाषा पूरी कीजिये। घरमें दोनों को मिल कर ही चलना होगा।'

दादा से अधिक बात न हुई। उसी दिन मैंने अपनी माता को पूरा हाल लिख कर भेज दिया। मैं अब घर की ओर से उदासीन होती जाती थी। इच्छा होने पर भी घर का कोई काम न कर पाती थी। पतिदेव का आवारापन बढ़ता जाता था। मेरे सामने घर में चौका-बर्तन करने वाली नौकरानी की लड़की से बेमतलब बात किया करते थे। वह सीधी-सादी १५—१६ वर्ष की छोकरी थी। अपनी माँ के साथ काम करने आती थी।

मुझे इसमें तनिक बुरा न लगता था। दादा का यथार्थ रूप भी धीरे-धीरे प्रकट होता जाता था! पहले जैसा प्यार और दुलार अब मेरा न होता था। एक-एक पैसे को वे दाँत से पकड़ते थे। मैं ऐसे व्यवहार और गृहकार्य-कुशलता की आदी न थी। गरीब घर की लड़की होने पर भी मेरे माँ-बाप इस तरह की क्षुद्रताओं से कहीं ऊपर थे। यही कारण था कि वे कर्ज से लदे रहते थे। दूसरी ओर चाँद भैया का द्वार सदैव मेरे लिए खुला रहता था। कभी मुझे पैसे की कमी अनुभव ही न होने पाती थी। यहाँ का रवैया दूसरा था। एक मेहमान जो रिश्तेदार भी थे, आये। आफ़त के मारे कई दिन ठहर गए। दो दिन तक दादा ने सहन किया। तीसरे दिन किसी बात को लेकर उन्होंने ऐसा काएड मचाया कि बेचारे अपने 'टाइफ़ाइड' से बीमार बालक को लेकर उसी दिन चले गये। मुझे यह सब बुरा लगा। मैंने दादा से कहा—'आपने अनुचित किया। बेचारे बच्चे का इलाज करने शहर आये थे। मकान में जगह की कमी नहीं। केवल खाना हमारे यहाँ खाते थे। आपको कुछ कहना ही था तो दस-पाँच दिन रुक जाते।'

दादा ने झल्लाकर कहा—'अपना आटा-चावल लेकर चलते। राशनिंग का ज़माना है। पूरा राशन नहीं मिलता। इस प्रकार झंझटें पाली जायँ तो कैसे काम चले? इन मामलों में तुम्हें दखल देने की जरूरत नहीं। जाओ? अपना काम देखो।'—मैं चुपचाप रह गई।

मेरी छोटी बहन किरण लगभग एक महीने से आई हुई थी। मैं चाहती थी वह मेरे पास रहे। किसी स्कूल में उसका नाम लिखा दिया जाय। दादा उसके रहने की पूरी कसर निकाल लेना चाहते थे। घर में नौकर न था। दिन-रात उससे काम लेते रहने की प्रवृत्ति उनकी थी। एक दिन दादा ने उससे अपनी जेबघड़ी लाने को कहा। छत से होकर वह ऊपर अपने जीजा की उड़ती पतंग की ओर देखती आ रही थी। घड़ी हाथ से छूट कर टूट गई। दादा ने उसे इतना फटकारा कि वह अपमान की प्रताड़ना न समझने के योग्य होते हुए भी फूट-फूट कर रोने लगी।

मेरे लिए अब चुप रहना असंभव हो गया। दादा से कुछ न कह कर मैंने सास से कहा—'अम्मा! आदमी इस तरह बाहरी नौकर को भी नहीं दुत्कारता। यह मेरी सगी छोटी बहन है। तुम्हारे यहाँ का यही चलन है? आदमी को आदमी की तरह नहीं समझा जाता। किसी से दस बीस रुपये का नुकसान हो जाय तो इस प्रकार की बातें उससे कही जाती हैं?.....'

बात यह है कि दादा का पैसे के प्रति एक उत्कट अर्चा-भाव था। अपने बचपन में उन्हें भयानक कष्ट भोगने पड़े थे। मुहल्ले के लोगों के यहाँ से दो-दो चार-चार आने चन्दा कर उन्होंने वर्षों अपनी शिक्षा पूरी की थी। फलस्वरूप वे पैसे का नुकसान न सह पाते थे। कहा भी करते थे—मुझे न केवल अपना वरन् दूसरे का पैसा भी अपव्यय होते देख कर वेदना होती है। भीषण विकृति उनके भीतर आ गई थी। इतना सत्य है यह सब वे हम दोनों के भविष्य के लिये कर रहे थे। लड़के के निकम्मेपन के कारण भविष्य का—अपने न रहने के बाद का अन्धकार उन्हें भय-भीत करता रहता था। फिर भी अर्थोपासना की सीमा होती है! लड़के को अब आगे पढ़ाने के लिये वे किसी प्रकार तैयार न होते थे। कहते थे—हज़ारों रुपया इसकी पढ़ाई में खर्च हो गया। इतने में कोई व्यापार करा देते तो कहीं अच्छा होता। मेरे पति अपनी माँ से नोच-खसोट कर चाहे जो ले जायँ—पिता से कभी कुछ माँगने की उनकी हिम्मत न पड़ती थी। मन ही मन उनके हृदय में विद्रोह की आग लगती रहती थी। उनकी अवरुद्ध उमंगें—जी भर आनन्द लूटने की अतृप्त आकांक्षायें उनके भीतर उठ-उठ कर गिरा करती थीं। पिता के बाद जब सारी सम्पत्ति मिलेगी तब ये बलबले न रह जायँगे। इस बात को लेकर उनके भीतर बराबर द्वन्द्व चलता था। लेकिन आत्म-स्वार्थ में वे भी पिता से कम न थे। मुझे इतने दिन आये हो गये थे। उन्होंने एक बार भी पूछने की आवश्यकता न समझी कि मेरे पास क्या है—क्या नहीं! कम से कम मेरी छोटी बहिन के लिये क्या चाहिए—क्या नहीं—यह जानने की एक मानवोचित जिज्ञासा उनके भीतर उठनी चाहिए थी। पर वह भी न थी।

दिन में बीसों चीजें लाकर घर में सबके सामने खाते थे। कभी एक बार भी कोई टुकड़ा निकाल कर किरण को न दिया। केवल अपने सुख और प्रसाधन की चिन्ता उन्हें रहती थी। मैं यह सब देख-देख कर कुढ़ती रहती थी। दादा भी कभी चार पैसे निकाल कर किरण को न देते थे। बेचारी बुढ़िया सास अवश्य उसका ख्याल रखती थी। कभी-कभी दो-चार पैसे दे देती थी।

मेरी चिट्ठी पाकर पिताजी आ गये। लगातार तीन दिन तक उन्होंने दादा को समझाया तब दादा मेरे पति को लखनऊ में बोर्डिंग में रखकर पढ़ाने के लिए तैयार हो गये। मेरे पिताजी को यह विश्वास था—शायद वह वहाँ रहकर परीक्षायें पास कर लेंगे। मेरे बहुत अनुनय करने और रोने-धोने पर तथा सास और पिता से बार-बार आग्रह करने पर मुझे भी आगे पढ़ने की आज्ञा मिल गई। हम दोनों का साथ रहना दादा को किसी प्रकार स्वीकार न था। मैं लखनऊ में पिता के घर पर रहूँगी और वे बोर्डिंग में रहेंगे। पर इससे क्या? दोनों एक शहर में तो रहेंगे। लेकिन जब पिताजी ने उन्हें मेरी निकटता के कारण पतिदेव को पढ़ने में प्रोत्साहन मिलने की बात बताई तो दादा हम दोनों को लखनऊ भेजने और एक वर्ष तक खर्च देने को तैयार हो गये। पर उन्होंने बिल्कुल साफ कह दिया कि यदि पतिदेव इस बार फेल हो गये तो वे किसी भी दशा में हम दोनों को आगे न पढ़ने देंगे। मुझे लखनऊ में भी न रहने देंगे। मैं प्रसन्न थी। कम से कम एक वर्ष का हिसाब बैठ गया। आगे क्या होगा यह अभी सोचने की बात न थी। पिताजी के साथ मैं और किरण लौट गये। कालेज खुलने में लगभग अठारह दिन शेष थे। पतिदेव अगले सप्ताह में आकर अपने 'एडमिशन' वगैरह के लिए यत्न करेंगे। पिताजी ने पूरा जिम्मा ले लिया कि उन्हें वे सुधार लेंगे। मैं दो महीने की सारी मानसिक कड़ुआहट भूल कर लखनऊ पहुँची। पता लगा, भैया विलायत जा चुके हैं। लौटकर वे दो दिन के लिए लखनऊ आये थे। उनकी माँ से

सब बातें मालूम हुईं। मेरे पति के वहाँ आकर रहने और पढ़ने की बात से सब लोगों को संतोष हुआ। भैया की माँ ने सुख की साँस लेकर कहा—'यहाँ रहेगा तो पिता के भय और घुड़कियों से दूर रहेगा। तू भी यहाँ पढ़ेगी। बोर्डिंग में रहेगा फिर भी घर आया करेगा। भगवान् चाहेगा तो सुधर जायगा।'

पिता की इच्छा पूरी हो गई। पतिदेव कालेज में और मैं लड़कियों के कालेज में भर्ती हो गई। दादा हर महीने हम दोनों को अलग-अलग रुपया भेज देते थे। उनकी चिट्ठी बराबर मुझे मिला करती थी। उसमें पति से यथासंभव दूर और अलिप्त रहने का आदेश रहता था। दूसरी ओर मैं उन्हें सुधारूँगी यह आशा भी उनके पत्र में आद्यंत जागती रहती थी। मैं समझ न पाती थी कि एक ओर उनसे दूर रहूँगी—दूसरी ओर उनके अन्दर सदप्रेरणा भी पैदा करूँगी। पर दादा किसी प्रकार का खतरा लेने के लिए तैयार न थे। मेरे पिता के पास भी उनके पत्र आते थे कि वे उन्हें मकान पर अधिक न आने दें। पति का यह हाल था कि वे मेरे कालेज से लौटने के समय बराबर दो-तीन लड़कों को लिए साइकिलों पर हमारी गाड़ी का पीछा करते थे। तरह-तरह की अवांछनीय बातें और विद्यार्थियों वाले शोहदे मज़ाक करते थे। शर्म से मैं लाल हो जाती थी। मेरे मकान पहुँच जाने पर भी वे लोग गाड़ी का पीछा न छोड़ते थे! पहली बार इतवार को जब वे घर आये तो मैंने उनके व्यवहार की शिकायत की। ऐसा करने से उन्हें रोका। पर वे अपनी पाशविक वासना की पूर्ति के लिये वहाँ आये थे—मेरी नसीहत की बातें सुनने नहीं। उस दिन वे दोपहर भर घर में रहे और तरह-तरह से मुझे तंग करते रहे। मुझे लखनऊ के वातावरण में ये सब बातें बड़ी अवसादपूर्ण और घुटन पैदा करने वाली लगती थीं। मैंने अन्त में कहा—'आप यहाँ न आया करें। मैं दादा को सारी बातें लिख भेजूँगी। आपको यहाँ आने की जरूरत क्या? यह आपकी ससुराल है। आप यदि यहाँ आया करेंगे और इस प्रकार रहेंगे तो लोगों को बुरा लग सकता है। आपको अपने

सम्मान का ध्यान रखना चाहिए। पर वे लगभग तीन हफ्ते के शारीरिक अभाव की कसर निकालने आये थे। मैं कैसी हूँ—मुझे क्या सुख-दुख है इससे उन्हें मतलब न था! मेरे मन का कितना उफान जीवन की सूनी वास्तविकता के चूल्हे में फेन बन-बन कर गिरता रहता है और मैं चेष्टा करने पर भी अनायास जल-जल उठती हूँ—यह सब जानने और समझने का उन्हें अवकाश न था। पहले भी मैं बराबर देखती थी वे केवल अपनी कामवासना की पूर्ति का साधन मुझे मानते थे। नारी केवल शरीर नहीं—केवल स्थूल क्षुधा और तृषा की गठरी नहीं। उसकी आत्मा में रहने के लिए भी कुछ चाहिए। इस मामले में वे अपने पिता से भी कई कदम आगे थे। दादा केवल पैसे के मामले में स्वार्थी थे, पर ये तो शारीरिक क्रीड़ा और छेड़खानी के अतिरिक्त मुझसे कोई बात न करते थे। प्रयाग में मैंने कभी कोई आपत्ति नहीं की। वहाँ दादा स्वयं उन्हें इसके लिए अधिक अवसर न मिलने देते थे। पर यहाँ.....यहाँ मैं चिरकुमारी और किशोरी के रूप में ही अपने को निहारती थी। एक ऐसी अपार्थिवता और पवित्रता के संवेदनों से मैं यहाँ आते-आते ओत-प्रोत हो गई थी कि जाने कितनी दूर तक फैल गई थी। इस परिस्थिति में पड़ कर मैं व्याकुल होकर अपने को पराजित अनुभव करने लगती थी—केवल शारीरिक ही नहीं मानसिक और आत्मिक दोनों दृष्टियों से। मेरी सारी प्रफुल्लता जाती रही। मैं तिमिराक्रान्त पाषाण मूर्ति की तरह नीरव बन गई। पति की आततायी वासना का हमला क्या मुझे ऐसे ही यहाँ बरदाश्त करते रहना होगा? मन ही मन शंकाओं से व्याकुल होकर मैं रोआँसी हो गई।

उनके पास से भाग कर माँ के पास नीचे आ बैठी। वे मेरी प्रतीक्षा में घंटों वहाँ पड़े रहे पर मैं न गई। माँ ने मुझे भला-बुरा कहा भी पर मैं दृढ़ थी। यह मेरे जीवन-देवता का देश है। यहाँ मेरी आत्मिक फ़रियाद के स्वर उठ-उठकर हवा में उड़ते फिरते हैं। यहाँ मैं किसी प्रकार

यह भ्रष्टाचार न चलने दूँगी। आज जीवन में इतना सब झेल चुकने के बाद यह कोरी भावुकता जान पड़ती है। आखिर जो एक बार भग्न-भ्रष्ट हो गया—जिसका तन अपावन हो चुका वह कब तक यथार्थता को अस्वीकार करेगा? पर अपने विश्वास की जड़ें हाथ से नहीं छूटतीं। उस समय मुझे ऐसा ही लगता था। यहाँ के कण-कण में मुझे अपने खोये निर्माण का स्पर्श मिलता है। .....जैसे बुझे दीप को प्रकाशित दीप का स्पर्श होते ही आलोक मिल जाय। देवता के मंदिर में जाकर मानव का मन ऐसा ही पुण्यायन और प्रोज्ज्वल हो जाता है। अभी मेरे भीतर वह पुण्य-प्रभा जल रही है.....अभी जलेगी.....मैं तो यहाँ तक सोचती हूँ कि अपने आन्तरिक परिपूर्ति के क्षणों में वह जलती जायगी··· .....बराबर ऐसी ही यज्ञ-ज्वाला-सी उर्ध्वमुखी जलती जायगी.....यही विश्वास मेरे प्राण का संरक्षक है.....इन्द्रियों के सुख-दुख से ऊपर.....विरामहीन! मैं अपने दर्प की इन सन्धियों को न मुंदने दूँगी.....

मैं फिर उनके पास न गई। खाना खाकर घन्टों मेरी प्रतीक्षा में विचलित बैठ कर वे चले गये। उनके जाने के बाद मैंने उन्हें कालेज के पते पर एक कड़ा पत्र उसी दिन लिख कर भेज दिया। मैं जानती थी, वे इसके बाद भी यहाँ आयँगे। इसलिए दादा को भी निःसंकोच भाव से सब बातें लिखकर भेज दीं। फलस्वरूप दादा का एक कड़ा ख़त पिता जी के पास आया जिसमें उनकी नियंत्रणहीनता की शिकायतकी गई और भविष्य में मेरे पति को अपने घर न आने देने का स्पष्ट आदेश दिया गया। किस प्रकार मुझे अपने साथ पढ़ने वाली लड़कियों के सामने उनके लोफ़रपन के कारण लज्जित होना पड़ता है यह सब मैंने लिख दिया था। मैंने यह भी लिखा था कि आप उनके प्रिन्सिपल को लिखकर ये बातें रुकवा दीजिये वर्ना किसी लड़की ने रिपोर्ट कर दी तो परिस्थिति संगीन हो जायगी। दादा ने पिताजी को फटकारते हुए लिखा था कि आप 'पर्सनल इन्टरेस्ट' इस मामले में लीजिये और उनको रास्ते

पर लाइये। पिताजी का जीवन बिल्कुल इक्के के घोड़े का जीवन था। इक्के के घोड़े को फिर भी विश्राम मिलता है। दिन भर की जुताई के बाद रात को उसकी मलाई होती है और भरपूर रातिब उसे मिलता है। पर पिताजी साढ़े नौ बजे घर से जाकर रात को आठ बजे के पहले घर न लौटते थे। कभी-कभी घर भी काम लादकर ले आते थे। उन्हें कहाँ इतना अवकाश था कि रोज घर से तीन मील दूर उनकी खोज-खबर लेने होस्टल जाते। इसका अर्थ यह तो न था कि वे दामाद के ट्यूटर गार्जियन होकर रहेंगे और अनुगत भृत्य की भाँति उसकी देख-भाल करेंगे! मैं जानती थी उनकी-सी दयनीय स्थिति में पड़े व्यक्ति के लिये यह अकल्पनीय और असंभव है जो अपने बच्चों को ठीक तरह से दूध भी नहीं पिला सकता, वह दफ्तर का थका माँदा रोज सवारी में पैसा खर्च कर दामाद की खोज खबर लेने जायगा? जाने दादा उनसे कैसी असंभावित आशा करते थे! भगवान जाने दादा की चिट्ठी पढ़कर पिताजी की कैसी मनःस्थिति हुई होगी। शायद दिन भर की उनकी थकी आँखों में आँसू भी थे। मुझे याद नहीं है—

एक महीने के बाद दादा एक दिन आ धमके। मुझसे देर तक बातें होती रहीं। पिताजी उस समय दफ्तर गये थे। माँ भैया के घर पर थीं। बड़ी भाभी के छोटे बच्चे का अन्नप्राशन था। मुझे बुलाने कई बार आदमी आये पर मेरा जाने का मन न होता था। उस समय तक भैया जीवित थे पर मुझे अब बँगला कितना सूना लगता था! उसके एक-एक हिस्से के साथ लिपटी असंख्य स्मृतियाँ दृष्टिपात के साथ ही एक स्वर में हाहाकार कर उठती थीं जैसे असंख्य स्वर्ग-भ्रष्ट आत्माएं हों जो शून्य में एक छोर से दूसरी छोर तक चीखती-कराहती घूमा करती हैं। मैं घर पर रह गई थी। जब से लौटकर आई तब से वस्तुतः एक बार भी नहीं गई। भैया की मृत्यु का तार आने पर अन्तिम दो-तीन बार गई थी। उस घोर विनाशिनी संध्या की बात न पूछे कोई मुझसे! उस दिन की याद आते ही खून में शरारे चलने लगते हैं। समय की गति के

साथ प्राण की सब से घनी वेदना के पर्दे भी उठते गिरते रहते हैं। आज भले उस भयानक और मरघटभरी-कंकालिनी वेदना की वह्नि-शिखा ठंडी पड़ गई हो पर उस दिन लगता था.....न पूछो क्या लगता था.....कितना लगता था.....छाती को छेदता हुआ इस पार से उस पार निकल जाता था....रह-रहकर.....धरती और अन्तरिक्ष से जैसे आग फट पड़ी थी.....दादा से मैंने एक-एक कर सारी बातें बताईं। अब भी वे नियमित रूप से नहीं—तो जब भी तब मेरा पीछा करते हैं—कभी अकेले—कभी दो तीन लड़कों के साथ। उस दिन से घर पर नहीं आये।

मैंने दादा के भोजन का प्रबन्ध किया। यह संयोग की बात थी जो मैं उस दिन कालेज न गई थी। वर्ना दादा को भटकना पड़ता। खा-पीकर दादा ऊपर आराम करने चले गये। मैं एक किताब ले छज्जे पर कुर्सी डाल बैठ गई। बीच-बीच में अनमनेपन से सड़क की ओर देख लेती थी। सहसा.....ताँगे पर प्रकाश जाते दिखे। लगा जैसे भूल कर रही हूँ—वे न होंगे। पर-पुरुष को पहचानने में नारी ने आज तक कब भूल की है? क्या कोकिल ने ऋतुपति को पहचानने में कभी गलती की है?.....क्या सत्य को चीन्हते कल्पना को देर लगी है? मैंने ऊपर से आँखें मिलते ही दोनों हाथ जोड़े और रुकने का इशारा किया। मुझे पहचानने की चेष्टा करते हुए वे रुक गये। मैं सिर पर साड़ी सँभालते हुए सीढ़ियों पर भागती नीचे उतरी और फुटपाथ पर खड़ी हो, आँखों में कुछ मूक, कुछ व्यंजक—कुछ शान्त—कुछ अशान्त.....कुछ नश्वर कुछ अमर लेकर उनकी ओर ताकने लगी। उनके प्रति मेरे मन में दुर्दम्य आकर्षण था यह स्वीकार किये लेती हूँ। उन्होंने अब मुझे पहचान लिया था। उनके स्वर्णधूल से पाण्डुर चेहरे पर वही 'प्राफेटिक' मुस्कान थी.....एक दर्पीले और पुञ्जीभूत सान्ध्य-सितारों के कोमल धवल आलोक-सा आत्मपीड़ित दीप्ति-मंडल! मैं मन ही मन निहाल हो गई। जैसे मेरे बिछुड़े भैया मुझे मिल गये.....उनकी अनुगता, जीवन की

अनिवार्यता मुझे मिल गई। मैंने दोनों हाथ जोड़ कर कहा—'ऊपर चलिये न! यही मेरा मकान है। आप भैया के बँगले जा रहे हैं? कैसे आगमन हुआ? भैया को बम्बई छोड़ने गये थे?'

'एक साथ इतने प्रश्न पूछोगी तो घबराने लगूँगा। चलो ऊपर'—कह कर ताँगेवाले को रुकने का आदेश दे, वे मेरे पीछे-पीछे आये। मैंने कहा—'बैठिये! आप बार-बार मेरा मकान क्यों देख रहे हैं? मुझे देखना चाहिये—कभी आपकी ओर—कभी अपने मकान की ओर जहाँ आप जैसे बड़े आदमी के क़दम पड़े। आपने बताया नहीं—कैसे आये?'

'रेडियो प्रोग्राम है—आज रात में। मैं ग्वीन स्कावयर जा रहा था। वहीं ठहरा हूँ। चाँद होता तो उसके घर ठहरता। वह अब लंदन में पड़ा मौज कर रहा होगा। मुझे साथ ले चलने के लिए ज़िद कर रहा था। मैंने कहा—मुझे जब यूनिवर्सिटी भेजेगी तभी जाऊँगा। मेरे पास इतना पैसा नहीं। दोस्त के मत्थे जाना मुझे क़बूल नहीं। बड़ा उदास था वह! क्या बात है? तुम्हें शायद पता हो। मुझे उसने कुछ बताया नहीं।'

मैंने बात बदलते हुए कहा—'आप खूब मिले। मुझे दर्शनों की आशा न थी। मैं पास हो गई प्रथम श्रेणी में। अब थोबर्न कालेज में पढ़ती हूँ। आज घर पर थी तभी आप दिखे।'

'रेडियो के सिलसिले में साल में कई चक्कर लगते हैं। इतनी दूर है नागपुर कि मैं अक्सर टाल जाता हूँ। शाबास! खूब पढ़ती चलो। जब तक चाँद लौटेगा तब तक तुम ग्रेजुएट हो जाओगी। तुमने ऊपर से मुझे देखकर हाथ न जोड़े होते तो शायद ही मैं पहचान पाता।'

'बड़े लोग छोटे की याद कहाँ रखते हैं? आप इतने बड़े कवि और प्रोफ़ेसर! जिनको वर्षों पढ़ाते हैं उन्हें भी बिना नाम जाने पहचान नहीं पाते!'—मैंने कुछ चिढ़ते हुए कहा।

'नहीं मंजु! यह बात नहीं। इस समय मेरा मूड थका-थका है।

सुबह से मित्रों से मिलने के लिये घूम रहा हूँ। जहाँ-जहाँ गया कोई न मिला! तुम मिल गईं यह मेरे लिये अत्यंत हर्ष की बात है।'

'मेरे लिए न केवल हर्ष वरन् गौरव—एक भव्य विराटता की बात है। उस दिन जब मिली थी तब भैया साथ थे। आज अकेली हूँ। पर आपको एक दूसरी बात बताती हूँ। आपको मालूम है या नहीं—मई में मेरी शादी हो गई है। मेरे पतिदेव यहाँ कॉलेज में पढ़ते हैं। वे होस्टल में रहते हैं। यह मेरे पिता का मकान है। आप इलाहाबाद में पं० रामदीन मिश्र को जानते हैं? वे मेरे ससुर हैं। सबसे मज़ेदार बात यह है कि आपके आने के थोड़ी देर पहले वे आये हैं। खा-पीकर अभी सोये हैं—ऊपर कमरे में। आप बताइये खाना लाऊँ आपके लिए। उनके लिए तैयार किया था—गर्म है। आप उन्हें भलीभाँति जानते होंगे। मैं उनकी पुत्र-वधू हूँ।'

'जानता क्या हूँ—वे एक प्रकार से हमारे कुटुम्बी हैं। पर मुझे स्वप्न में भी भान न था तुम मेरे इतने निकट आ पहुँचोगी। चाँद ने भी कुछ नहीं बताया! कभी तुम्हारे सम्बन्ध में उनसे अधिक बात नहीं हुई। मेरा ख्याल था, तुम उसकी ममेरी, फुफेरी या इसी तरह की बहन होगी। उसके सगी बहन नहीं है यह मैं जानता हूँ। पर तुम मेरी सजातीय हो और आगे चलकर मेरे परिवार का अंग बनने वाली हो यह पता न था। यह सब जानकर और भी प्रसन्न हुआ।'

'आप मुझे अब काकी कहेंगे या मंजु—तय कर लीजिये। दादा के जागने पर संभव है मुझे आपके सामने से हट जाना पड़े। आप भतीजे होने पर भी उमर में मुझसे बड़े हैं। हमारे यहाँ नव-विवाहिता काकियाँ केवल अपने से छोटे भतीजों के सामने निकला करती हैं। बड़ों के सामने निकलने की उन्हें मनाही है। फिर आप! तो स्वनाम-धन्य हैं।'

प्रकाश के चेहरे पर प्राण की भावना की प्रतिरूप निरावरणता नाच उठी। किसी भी गोपन-चेष्टा या बाह्य-आडम्बर के लिए यहाँ

स्थान नहीं। चन्द्रमा का वही छलिया प्रकाश उनके चेहरे पर खेल रहा था जिसे अक्सर दिन का आलोक समझकर बहुत-से चंचल पक्षी जागकर सो नहीं पाते और सौन्दर्य के स्वप्न बुनना छोड़ कर्म के कोलाहल में खो जाते हैं।

बोले—'लगता है तुम सब जानती हो। एक बात समझ लो। दादा को अभी तुम जानती नहीं। रुपये का जो अभिमान उन्हें है वह उचित है पर उनकी जड़ता बड़ी प्रतिहिंसक है, मेरे ऊपर उनकी विशेष कोप-दृष्टि रहा करती है। हम लोगों के बचपन में, जब वे सन्तानहीन थे तब हमारा बड़ा मज़ाक उड़ाया करते थे। उमर में हमसे तिगुने होकर भी बात-चीत में हमें नीचा दिखाने की चेष्टा किया करने थे। बाद में ढलती उम्र में जब सन्तान हुई और हर प्रकार से नालायक साबित हुई तब से उनकी अभिमानिनी क्षुद्रता उन्हीं के भीतर फुफकारा करती है। पहले हमारे परिवार से बड़ी आत्मीयता थी। मेरे पिताजी अब भी उन्हें पिता-तुल्य मानते हैं। मन ही मन उनसे डरते भी हैं। मेरी माँ उनका उतना अदब नहीं कर पाती। माँ के स्वभाव की उग्रता और असहिष्णुता मुझमें कूट-कूट कर भरी है। बहुत दिन तक वे मेरी बदनामी करते रहे। दुर्बलतायें किसमें नहीं हैं! मैं अभिमान नहीं करता, आज भी मेरा बड़ा-से-बड़ा शत्रु मेरे चरित्र पर उँगली नहीं उठा सकता। चाँद के परिवार में मैं जिस प्रकार घुला-मिला हूँ तुम जानती हो। देश में इस तरह के सैकड़ों परिवार हैं जहाँ मेरे लिए कोई रोक-टोक नहीं। हज़ारों तरुण-तरुणियाँ मुझे भाई की तरह मानती हैं। तुम चाँद को जानती हो। उसमें असाधारण चातुर्य और बुद्धि है। पर वह कौन-सा हार्दिक विश्वास था जिससे आश्वस्त होकर उसने तुम्हें मेरे पैर पर सिर रखकर प्रणाम करने का आदेश दिया था.....खैर वे बुजुर्ग हैं। उन्हें मेरे सम्बन्ध में सब कुछ कहने का अधिकार है। अब मैं चलूँगा। मैं नहीं चाहता—तुम दादा की इच्छा के प्रतिकूल या किशोर की बात न मानकर मुझसे हिलो-मिलो और बात करो। मैं तुम्हें इस नये रिश्ते के बन्धनों

की कड़ाई में न बाँध सकूँगा। मैंने तुम्हें चाँद की बहन के रूप में देखा है। चाँद की बहन और प्रकाश की बहन में कोई अन्तर नहीं। चाँद मुझसे जहाज के छूटते-छूटते एक—केवल एक बात कह गया है। मैं तुम्हें पत्र लिखता यहाँ से लौटकर—चाँद के बड़े भैया के पते पर। मंजु! मुझे बड़ा क्लेश होता है। यहीं मेरा मन खराब हो जाता है और भाग्यवाद के सामने झुकने लगता है! भाग्य ने तुम्हें कहाँ लाकर डाल दिया! इन लोगों को मैं बहुत अच्छी तरह जानता हूँ बहन! ये पिता-पुत्र दोनों नर-पशु हैं। केवल बुढ़िया दादी के दया-माया है।'

'आपने बतलाया नहीं—चाँद भैया ने आपसे जहाज पर क्या कहा? मेरे अभाग्य की भी सीमा है! चलते समय उन्हें देख न पाई। वे इतने निर्मोही हो गये कि मेरे विवाह तक न ठहर सके!'

'होता है मंजु! जब जीवन जीवन से आक्रान्त हो जाता है..... जब बन्धन का अन्त हो जाता है—जिज्ञासु मनुहार का अन्त हो जाता है—ममता का प्राण-पंछी तब पर फड़फड़ा कर उड़ जाता है। रह जाता है सामने जीवन.....केवल जीवन.....विस्तृत और अबाध.....सागर की तरह अपने ही भीतर तरंगायित और सीमाहीन। जाने दो इन बातों को। मैं अभी कुछ जान नहीं पाया। समझ नहीं पा रहा हूँ क्यों उसके प्राण में भविष्य का आशाप्रद उल्लास नहीं, खँडहर की विजनता और कराह था। बहरहाल उसने चलते समय विशेषरूप से तुम्हारा ख्याल रखने को कहा है। पर जो अपना और अपनी कृतज्ञता का ही ध्यान नहीं रख पाता वह कैसे इतना बड़ा भार सँभाले! सिर्फ यह मुझे कहना है—जब तुम्हारे सामने कोई कठिनाई आवे—जहाँ तुम अपने को असहाय लगने लगो या किसी प्रकार मेरी उपस्थिति आवश्यक प्रतीत हो तो मुझे खबर कर देना। मेरा नाम और नागपुर—यह मेरा पता है..... अच्छा नमस्ते।'

'एक बात मेरी भी। लखनऊ आप जब आयँगे—न केवल लखनऊ बल्कि यू० पी० जब कभी आयँगे तो भेंट करेंगे। मेरे माता

पिता कोई इस समय घर पर नहीं हैं। आप उन लोगों से मिलकर प्रसन्न होंगे। मेरी माँ टूटी-फूटी कवितायें भी लिखा करती हैं। आप दादा से मिल लें न। क्यों उनसे डरते हैं? आखिर तो उन्हीं के वंशधर हैं। उनसे कैसा भय?'

'मैं अपने लिए नहीं डरता मंजु! तुम्हारे लिये डरता हूँ। तुम्हारा जिन्दा रहना मुश्किल हो जायेगा। उठते-बैठते तुम पर विष से बुझे व्यंग-बाण बरसाये जायँगे। तुमको लेकर जो मैं कभी जन्म-जन्मातर में—स्वप्न में नहीं सोच सकता उसे मिथ्या प्रचार दिया जायगा। तुम तड़प-तड़प कर रह जाओगी। ये लोग निर्दयतापूर्वक तुम्हारे मन की छटपटाहट पर अट्टहास करेंगे? चाँदी के ज़हर ने इनके खून को सफेद कर दिया है....उसके भीतर जीवन की लालिमा नहीं रह गई। है केवल आजीवन एक खोखलापन जो इनके जर्जर मन को अस्वाभाविक रूप से उत्तोजित करता रहता है। पेट जरूरत से ज्यादा भर जाता है पर मन नहीं भरता.....'

'आप मुझे क्या इतनी कमज़ोर मानते हैं? मैं क्या यह गुलामी स्वीकार करूँगी? आप समझते हैं आपके अपने घर आने के अभिमान को मैं छिपा सकूँगी? क्या मैं दादा से न बताऊँगी! कोई काम छिपाकर करने की मुझमें शिक्षा ही न मिली। मेरे चाँद ने मुझे सदैव अन्धकार से आलोक—आधिकाधिक आलोक की ओर बढ़ने की दीक्षा दी है। अन्धकार—गोपन—पर्दे की ओट की ईर्ष्यालु असामाजिकता मृत्यु है। प्रकाश—आलोक का समवेत संगीत जीवन है। मैं जीवित हूँ—जीवित रहूँगी। केवल इसलिये किसी के अपने सम्बन्धों को न छिपा सकूँगी कि मेरे ससुर या पति को बुरा लगता है। अपने व्यक्तित्व को इस प्रकार भ्रंश नहीं कर सकती। अपने एकत्व का ऐसा झूठा विभागीकरण नहीं कर सकती। आप जा रहे है—जाइये। पर मेरे कल्याण-अकल्याण की बात दिल से निकाल दीजिये।'

वे सीढ़ियों तक आ गये थे। मैं पीछे-पीछे चल रही थी। ताँगे पर

बैठ कर उन्होंने कहा—'रेडियो आज चाहो तो सवा आठ पर सुनना। अपनी कविता के सम्बन्ध में 'टाक' दूँगा। बीच-बीच में कविताओं के टुकड़े रहेंगे।'

'जी नहीं! मैं न सुन सकूँगी। कहीं छपेगा तब पढ़ लूँगी।'

वे चले गये। मैं चुपचाप ऊपर चली आई। यदि उन्हें रोक देती तो वे न जाते। पर मैं क्यों रोकती! अगर वे अपने एक कुटुम्बी के सामने नहीं पड़ना चाहते तो क्यों मैं उन्हें मजबूर करूँ! मन ही मन भैया के अभिमान से मेरी छाती वाष्पाकुल हो उठी। उनके व्यक्तित्व की आकार-रेखा—उनकी उजली-उजली आकार-रेखा निकट आ आकर मुझे अपने आलोक के क्रन्दन से मढ़ने लगी। जाते समय कैसे अभिन्न मित्र से मेरी चिन्ता करने के लिए कह गये हैं! मालूम पड़ता है देश छोड़ते समय मैं उनके दिमाग में थी—उनकी सुधि की सुर्मई संध्या में मैं गोधूलि के हलके किन्तु तरंगायित अवरोह-आरोह-सी डूब-उतरा रही थी। आज तो मैं यह भी सोचने का लोभ नहीं संवरण कर पाती कि दुनिया को सदा के लिए छोड़ते समय उनकी चेतना मेरी स्मृति को घेर-घेर कर मँडराती रही होगी। यही मेरी आत्मा की सिद्धि, वह चिरन्तन गूँज उठने लगती है जो एक रन्ध्रहीन सार्थकता, परितृप्ति की अमावस मन पर उँड़ेल जाती है। यह अमावस है जो काली पर काले दर्पण की तरह आत्मा को उसकी सम्पूर्ण नग्न अशक्तता और हीनता में दिखा देती है। मेरे भैया.....भैया.....भैया... चिरंजीवी भैया.....

शाम को पाँच बजे के लगभग माँ लौटकर आ गईं। दादा के आने का संवाद उन्हें सुनाकर मैंने प्रकाश के आने की बात बताई। दादा और उनका सम्बन्ध बताने के बाद चाँद भैया से उनके बन्धुत्व की चर्चा भी मैंने की। माँ ने पूछा—'उन्हें रोका क्यों नहीं! खाना खाने आने के लिये कह दिया होता! दादा से बिना मिले क्यों चले गये! मैंने दादा के और उनके परिवार के सारे झगड़े जो मुझे ज्ञात थे बता दिये। किस

प्रकार दादा के सुपुत्र और उनकी माँ ने वहाँ जब-जब चर्चा उठी तब-तब उनसे मिलने और बात करने के लिए मुझे मना किया। वे लोग नहीं जानते यही वर्जना पर-पुरुष के प्रति नारी के अन्दर एक अदम्य कौतूहल और उत्कट आसक्ति का सृजन करती है। थोड़ी देर बाद दादा सोकर उठे। मैं पानी और पान का डिब्बा वगैरह लेकर ऊपर गई। सामने ज़मीन पर बैठकर इधर-उधर की कुछ बात करने के बाद मैंने कहा—'दादा जब आप सो रहे थे तब श्री प्रकाशचन्द्र मिश्र आये थे। आप जानते हैं न उन्हें! वे जो नागपुर में प्रोफेसर हैं और कवि हैं।'

'उसे ही नहीं उसकी चार पुश्त को जानता हूँ। तुम्हारे यहाँ वह कैसे आया? तुम्हारे बाबू से मेल-जोल है? क्या अक्सर यहाँ आता है? असली पाजी है। ऐसे आदमी को भले घर में घुसने न देना चाहिए। कम्युनिस्ट बनता है पर हमेशा दूसरों की बहू-बेटी पर कुदृष्टि डालता है। बड़ा कलुषित हृदय है इसका। मैं शुक्लजी से कहूँगा—दुबारा वह यहाँ न आये।'

'मैं उन्हें पहले से जानती हूँ। मेरे चाँद भैया उनके भक्त हैं। उनके भाई के घर बनारस में परिचय हुआ था। भैया उनकी बड़ी तारीफ करते हैं। कहते हैं—ऐसा सच्चरित्र आदमी होना कठिन है। आप कहते हैं मैं उनसे बात न करूँ! वे तो घर के लड़के हैं। आपके पौत्र लगते हैं तो मुझे काकी कहेंगे। भतीजे के सामने काकी को निकलने में संकोच कैसा? मैंने उन्हें बताया था—दादा ऊपर सो रहे हैं—मिलकर जाइये। पर वे चले गये रुके नहीं।'

'यह चोर की तरह आना-जाना कैसा? मेरी समझ में आता नहीं। तुमको छिपकर उससे मिलने की कौन-सी जरूरत पड़ी थी? यहाँ तुम्हारे पास आया था तो मुझसे मिलने में उसे क्या डर हो सकता है। मुझे उसकी बात-चीत, चाल-ढाल से नफ़रत है। पक्का बदमाश है। शादी करने के लिए माँ रो-रोकर मरी जाती है—बाप दूसरे छोटे लड़कों की

शादी इसके कारण नहीं कर रहा है। इसे ऐश करने से मतलब ! प्रोफेसर क्या हो गया है अपने को अफलातून समझने लगा है।'

'दादा ! प्रोफेसरी उनके लिए क्या चीज है ? मैं समझती हूँ कवि और लेखक के रूप में वे समस्त देश में विख्यात हैं। वे जिस कॉलेज या यूनिवर्सिटी में पढ़ायेंगे उसका गौरव बढ़ेगा—वहाँ के विद्यार्थियों का सौभाग्य होगा। आप क्यों उन पर इतने नाराज़ हैं ? क्या कभी आपसे रुपया लेकर लौटाया नहीं ? और क्या कारण है ?'

दादा को अपने रुपये पैसे के हिसाब-किताब और लेन-देन में व्यावहारिक होने का पक्का अभिमान था। मेरे व्यंग को पहचान न सके। बोले—'मैं ऐसे लोगों को मुँह नहीं लगाता। क्या खाकर मुझसे माँगने की हिम्मत करेगा ? उसके बाप ने दो एक-बार माँगा। मैंने साफ इन्कार कर दिया। वापस मिलने में हाय-हाय होती। कभी रिश्तेदारों को रुपया उधार न देना चाहिए। बाहरी आदमी से वसूल किया जा सकता है—घर के आदमी से नहीं।'

मैं मन ही मन सोचने लगी—कैसा क्रूर विपर्यय है। रुपया माँगते समय वसूल न होने और बाद में कटुता बढ़ने के भय से इन्कार करते समय उन्हें घर का आदमी समझा जाता है। यों बात-बात में उनकी निन्दा की जाती है—गालियाँ दी जाती हैं। सचमुच पैसे का अतिशय मोह मनुष्य को अन्धा बना देता है। दादा कुछ सोच-सोच कर मन ही मन रोष से उबलते हुए बोले -'छुटपन से पक्का बदमाश है। गाँव भर के लोग इससे ऊब गये थे। सबकी कुँआरी, जवान लड़कियों पर बुरी नजर डालता था। हम लोगों का वहाँ प्रभाव है। लोग घर का लड़का समझ कर छोड़ देते थे। वरना वहाँ के गँवार ठाकुर इसको कत्ल कर देते। लाश का पता तक न चलता। तुम्हारे सामने आकर लम्बी-चौड़ी बातें झाड़ता होगा। तुम उसे देवता माने बैठी हो। आगे कभी उससे अगर तुम मिलीं और बात-चीत की तो ठीक न होगा। मैं इस मामले में कड़ा आदमी हूँ। अपने लड़के को भी माफ नहीं करता।'

मैं कुछ न बोली। बात को आगे बढ़ाना व्यर्थ था। अपने अधिकार के प्रति मोह था—आत्मा की पुकार पर आगे बढ़ने की लालसा भी मन में उठती रहती थी। पर अपने आश्रयदाता से लड़ कैसे सकती थी? पेट की रोटियों का सवाल था। जीवन भर पुत्र-वधू के शील और मर्यादा का अभिनय करना था। दादा को इतने से ही संतोष न हुआ। उन्होंने बुला कर मेरे पिता और माँ को डाँटा। उन लोगों ने बराबर यह कहा—हमारा उनसे कोई परिचय नहीं है। इसके पहले वे कभी हमारे घर आये भी नहीं।

दादा ने भल्ला कर कहा—'आज कैसे आया? कैसे उसकी हिम्मत पड़ी!'

मैंने अब चुप रहना ठीक न समझा! मन को रोकने की कोशिश की पर अपने रोके न रुक सकी। बोली—'मैं छज्जे पर बैठी पढ़ रही थी। वे सामने ताँगे पर जा रहे थे। मैंने खुद उन्हें बुलाया था। वर्ना बिना बुलाये वे घर क्यों आते? क्या मैं हर आदमी को बुलाती फिरती हूँ! वे मेरे चाँद भैया के भैया हैं! मुझसे दो हाथ ऊँचे! मेरे घर के सामने होकर संयोगवश निकलें और मैं उन्हें न बुलाऊँ, यह हो सकता है? चाँद भैया को तो आप जानते हैं दादा!'

दादा जब अधिक क्रोध में आ जाते थे तो उन्हें उचित, अनुचित का ध्यान न रहता था। इस समय उनके क्रोध का अन्त न था। जिस व्यक्ति के सामने वे अपनी बहू को निकलने भी न देना चाहते थे उसी को उनकी बहू ने नीचे सड़क पर जाकर रोका और ऊपर लाकर घण्टों बिठाया! यही नहीं उसका पक्ष लेकर उनसे बहस करती है! भूल जाती है कि वह और उसका निकम्मा पति मेरे टुकड़ों पर आश्रित है। दादा का सारा होश लुप्त हो गया। चाँद भैया का नाम सुनकर उन्हें न जाने क्यों बहुत बुरा लगा। मैं पहले भी देखती थी उनका मेरे घर आना और इस बहनापे के साथ घण्टों बैठना दादा को फूटी आँख न भाता था। आकृति पर असन्तोष और विरक्ति का भाव लाकर भी चुप हो जाते थे। इस समय अपने को न सँभाल सके और बोले—'चाँद भैया—

जब देखो तब चाँद भैया ! बात-बात में चाँद भैया ! वह भी बदमाश होगा। ढोल का साथी डंडा। तुम मेरे सामने चाँद भैया का नाम न लिया करो। उस दिन मैंने पढ़ने से मना किया तब भी चाँद भैया का हुक्म तुमने सुनाया। अपने पति की इतनी भक्ति करो जिससे यह लोक-परलोक दोनों सुधरें। इन लुच्चे आवारों की तरफ इतना सम्मान क्यों ? यह भले घरों की शान्ति और श्री चौपट करते फिरते हैं। शुक्लजी ! आप कैसे आदमी हैं जो जवान लड़की को कॉलेजी लोफ़रों के सामने निकलने देते हैं ! आपके घर का चलन ऐसा खराब होगा यह मैं न जानता था। होशियार हो जाइये। आपके और भी लड़कियाँ हैं जो जवान होंगी। आप बदनाम हो जायेंगे तो लड़कियों की शादी तक न हो सकेगी। हमें इतनी स्वच्छन्दता शोभा नहीं देती।'

चाँद भैया को कोई कुछ कहे यह मैं बरदाश्त नहीं कर सकती। वस्तुतः वे कुछ कहे-सुने जाने योग्य ही न थे। बीसों बार मेरे साथ जब वे गये तब मैंने देखा था जैसे पर-नारी की ओर उनकी आँख न उठती—दृष्टि तक न टिकती। मेरे उन मर्यादा-पुरुषोत्तम भाई को कोई कुछ कहे यह मैं कैसे सहन करूँ ? प्रकाश से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं—यद्यपि चाँद भैया के नाते वे भी पूजनीय हो गये हैं; पर चाँद भैया ! जिनका व्यक्तित्व केवल अनुकरणीय-अनुसरणीय ही नहीं वंदनीय है—प्रतिक्षण अभिनंदनीय। जिन्हें देखकर—जान कर ही बड़े-से-बड़े ज्ञानी और अभिमानी का मस्तक आपसे-आप झुक जाता है। मुझे दादा के शब्दों ने चोट पहुँचाई। प्रकाश को वे सब कुछ कह लें यद्यपि उनसे मेरी कुछ घण्टों तक ही बात चीत हुई है। पर जिसने हँसते-हँसते अपने इतने बड़े अधिकार का हाथ मेरे कहने मात्र से मेरे ऊपर से खींच लिया वह कितनी श्रेष्ठ आत्मा है। मेरे मन में उनके प्रति श्रद्धा का कहीं ओर-छोर है ? मैंने तय कर लिया—कभी दादा के आगे उनका नाम लेकर उसे अपवित्र न करूँगी। जिसकी सुधि की वंशी प्राण में बजते ही मैं भूल जाती हूँ मैं मंजरी हूँ—मैं तब केवल शक्ति-बीज रस-तत्व रह जाती हूँ—बन्धनों के पार

पंखहीन विहगी-सी आकाश में उड़ने और एक उज्ज्वल उद्दीप्त भाव की अपूर्वता बरसाने के मन्सूबे बाँधने लगती हूँ--उन्हीं का यह अपमान ! ये अपशब्द केवल इसलिये कि वे प्रतिभा की पूजा करते हैं और एक साहित्यकार के मित्र हैं। मैंने कहा--'दादा ! मैं कान पकड़ती हूँ—कभी आप लोगों के सामने चाँद भैया की बात न करूँगी पर आपको ये अपशब्द उन्हें न कहने चाहिये थे। वे हमारे परिवार के अंग बन चुके हैं। उनके बहनापे पर मुझे अभिमान है। आप उन्हें जानते नहीं—उनके घर के लोगों को नहीं जानते। कभी यूनिवर्सिटी के किसी लड़के से या किसी अध्यापक से उनके सम्बन्ध में बात कीजिए तब उनके अवदात चरित्र का पता आपको चलेगा। रह गई पति की भक्ति ! उसके लिए उपदेश देने का अधिकार आपको नहीं। भक्ति का उद्रेक उपदेशों और धमकियों द्वारा नहीं हुआ करता। प्राण की जमुना के किनारों को लाँघ वह आपसे आप बहती है। अम्माजी (सास) अगर यह उपदेश मुझे दें तो उसमें औचित्य है। आपके मुख से यह शोभा नहीं देता। एक बात आप सुन लीजिये ! जिसका वे इतना आदर करते थे उसका अनादर मैं किसी भाँति न कर सकूँगी। वे मेरे सम्पूर्ण शरीर में जलवायु की तरह सहज स्वाभाविक हो गये हैं.....' कहती-कहती अपनी भावुकता पर मुझे स्वयं आश्चर्य होने लगा। चुपचाप वैसी ऊँची चितवन लिए मैं नीचे उतर आई। दादा की गुस्सेभरी बक-झक मुझे जब तब सुनाई पड़ जाती थी। पर मैं भावना से ओत-प्रोत थी—आत्मविह्वलता में डूबी हुई। मेरे माता-पिता देर तक ऊपर बैठे उन्हें समझाते-बुझाते रहे। माँ ने नीचे आकर कड़े स्वर में कहा—'क्यों तू दादा से कहने गई यह सब ? उन्हें यदि बुलाया था और वे आकर चले गये थे तो तुझे रिपोर्ट देने की क्या जरूरत थी ? दादा जो कहें उसे मानना पड़ेगा। वे तुझे किसी आदमी से मिलने के लिए मना करेंगे तो तू इन्कार कर कहाँ रहेगी ?'

मैंने क्रोध का नाट्य कर जोर से जमीन पर पैर पटकते हुए कहा—'यहाँ—यहाँ—इसी मकान में। क्या मेरे लिए जगह नहीं है ?'

दूसरे दिन इतवार था। आफत के मारे पतिदेव ससुराल में छुट्टी बिताने के उद्देश्य से आठ बजे आ गये। मैं चुपचाप कमरे में जाकर एक ओर बैठ गई। माँ ने भी कोई बात न की। सीधे ऊपर जब पिता जी के कमरे में पहुँचे तो वहाँ दादा को बैठे देख जैसे पेड़ से गिर पड़े। पर दादा ने देख लिया था। घूम कर वापस लौट पड़ने का भी अवसर न था। दादा की उनकी बात चीत नीचे छत से सुनाई देती थी। उन्हें डाँटने-फटकारने और भविष्य में कभी यहाँ न आने की कठोर हिदायत देने के बाद दादा ने कहा—'प्रकाश को तुमने देखा है? वह यहाँ आया है। कल यहाँ आकर घण्टों बहू से बात करता रहा। मेरे जागने का समय होते जान चुपचाप चला गया। मैंने सब कुछ कह सुन दिया है। तुम भी इस सम्बन्ध में मना कर देना, नहीं तो व्यर्थ में उपद्रव होगा। मैं किसी भाँति यह सहन नहीं कर सकता कि बहू उसे अपने यहाँ बुलाये—बैठाये।'

मेरे पति ने आवेग से हकलाते हुए कहा—'रेडिओ पर अक्सर आता रहता है। पर मकान का पता उसे कैसे चला? मुझसे पूछता तो ऐसा झाँसा देता कि बच्चू घण्टों शहर के दूसरे सिरे पर तलाश करते घूमते। अब उसने मकान देख लिया है।'

दादा ने कहा—'कैसे गधे हो तुम! तनिक तमीज तुम्हें नहीं। वह तुम्हारी औरत के पास आयेगा और तुमसे मकान पूछेगा! उसे बहू ने रास्ते में जाते देखा था और बुलाया था। तुम डाँट देना। दुबारा अगर वह उससे बोली तो मुझे सख्ती से पेश आना पड़ेगा।'

सुन-सुनकर मेरा सर्वांग नफरत से उबाल खा रहा था। पुत्र-वधू को लेकर कोई पिता अपने पुत्र से ऐसी टीका-टिप्पणी कर सकता है यह मेरी समझ के बाहर था। शायद नीची जात में भी इतनी छोटी-सी बात को ऐसा गन्दा महत्त्व न दिया जाता। मैं कुछ भी न सुनना चाह कर फिर छज्जे पर जा बैठ गई ताकि कुछ सुन न सकूँ। थोड़ी देर के

बाद दादा ने पति को वापस जाने का हुक्म दिया। जाने के पहले वे मुझे ढूँढ़ते हुए छज्जे पर आये और झल्लाकर बोले—'तुम फिर यहाँ बैठी हो! उसकी राह देख रही हो? इधर से निकले और तुम इशारे-बाजी करो। मैंने तुम्हें इलाहाबाद में मना किया था। पर तुम पढ़ी लिखी, आजाद हो न! तुम्हें घर की इज्जत-आबरू का ख्याल क्यों होने लगा! चलो भीतर बैठो! दादा ने आज टिकने न दिया, वर्ना सोचता था दिन भर तुम्हारे पास रहूँगा।'

मैं कुछ न बोली। उनकी ओर न देखकर सड़क की ओर देखती रही। सड़क पर आने जानेवालों का ताँता लगा था। मेरा मकान एक बड़े चौराहे पर था जहाँ से चारों ओर रास्ते जाते थे। उनकी ओर देखने की मेरी इच्छा न होती थी। मेरे दिल पर एक तहदार कोहरा छाया हुआ था जो बीच-बीच में हिलडुल कर करवटें लेता था—फिर और भी घना होकर पड़ जाता था। दादा की बातें मैं सहन भी कर सकती हूँ पर इस अधकचरे, बुद्धि-बौने की नहीं जो तरुण होने के कारण पिता की अपेक्षा कहीं अधिक वीभत्स तरीके पर वे ही बातें कर रहा है। लेकिन मैं अपनी स्थिति को समझती थी। पाँच महीने मेरे विवाह के हुए हैं कि जीवन की सन्धियों से कैसा काला धुँआ उठने लगा! आँखों को झख-झलानेवाला—गले को घोंट-घोंट कर भीतर घुटते रहनेवाला। दूसरी ओर माता-पिता, भाई-बहन ... ...चाँद भैया के सामने एक-से अधिक बार प्रकट किया गया मेरा जीवन के साथ समझौता कर लेने का अभिमान! किस मुँह से मैंने उनसे कहा था कि सब कुछ झेल ले जाऊँगी और सुखी रहूँगी। परिवार को अपनी ओर से निश्चिन्त कर दिया पर मैं क्यों नहीं शान्त रह पाती। पति ने मेरा कन्धा भीतर की ओर खींचते हुए कहा—'एक बार का कहना सुनती नहीं—चलो भीतर। मैं कहता हूँ—यहाँ बात करना ठीक नहीं'.....कहते हुए उन्होंने ज़ोर से अनायास मुझे भीतर की ओर खींच लिया। मैंने सँभल कर कहा—'ठहरिये! मुझे दबोचिये मत। मैं चलती हूँ।'

कमरे में आकर उन्होंने कहा —'तुमने कल प्रकाश को क्यों बुलाया ? पहले भी तुमने यह लीला की होगी। तुम्हें शर्म न आई !'

मैं चुप रही। गालियों का जवाब गालियों से ही दिया जा सकता है। गाली देना मेरे स्वभाव के विरुद्ध था। पतिपत्नी को गाली दे सकता है, जूते मार सकता है; परपत्नी का धर्म है सहन करना या अधिक से अधिक मुँह ढाँप कर चुपके-चुपके रोना। मेरी स्थिति और दयनीय थी। शायद चुप रहने से ये शान्त हो लें।

पतिदेव दूसरे इरादे से आये थे। यहाँ आकर अपने पिता के भय के कारण उन्हें भागना पड़ रहा था। इस समय मेरी खामोशी को उन्होंने अपराध की स्वीकारोक्ति समझा। जो कहना था उसे स्थगित कर दूसरा कुछ करने की सोचने लगे। उन्होंने जाकर छत की तरफ का दरवाजा बन्द कर दिया.....मुझे चारपाई पर लिटाने को उद्यत हो गये..... छज्जे का दरवाजा कमरे के एक सिरे पर था और चारपाई दूसरे सिरे पर। पर इसके पहले कि मुझे लिटा पाते मैं झपटकर बैठ गई और बोली— 'आप भूल गये। दादा ने फौरन् आपको जाने के लिए कहा है। निकल जाइये आप कमरे से ! वर्ना अभी आपकी फज़ीहत हो जायगी।'

उन्होंने मेरे होठों पर उँगली रखकर चुप रहने का निरीहताभरा दयार्द्र संकेत करते हुए मुझे फिर लिटा दिया और झुककर पूरे शरीर का बोझ डालते हुए चुम्बन ले लिया। मैंने पड़े-पड़े ही दोनों हाथों से उन्हें इतने जोर से ठेला कि वे अपने को सँभाल न पाये। नीचे दरी पर गिर पड़े। मैं काँपती हुई छज्जे के दरवाजे के पास खड़ी हो गई। वे खिसियाते हुए अटक-अटक कर बोले—'अच्छा ! आज तुमत रसा लो। मैं देख लूँगा तुम्हें। हमेशा के लिए ठीक कर दूँगा।'

इसके बाद दरवाजा बाहर से पिटने लगा। शायद मेरी छोटी बहन उनके लिए नाश्ता लाई थी। उन्होंने चुपचाप खोल दिया। तश्तरी वापस करते हुए गरज कर बोले—'ले जाओ वापस। मैं न खाऊँगा।' मेरी ओर पहले से भी अधिक कठोर दृष्टि से घूर कर बोले—'अपने पति

के पास बैठने-लेटने में नखरे करती हो। पराये शोहदों को घर में लाकर घण्टों बिठाये रहती हो और राम जाने क्या-क्या करती हो। कोई अच्छे चालचलन वाली औरत कभी अपने पति के साथ इस तरह नहीं पेश आ सकती। जरूर तुम्हारा चालचलन खराब है। बोलो! कल तुमने उसे क्यों बुलाया? तुम्हें मैं पैर की जूती की तरह निकाल कर—पुरानी कर फेंक सकता हूँ।'

मैंने केवल इतना कहा—'आप निकल जाइये! फिर कभी मेरे पास न आइयेगा। मैं ऐसे वासना-लोलुप व्यक्ति से बात नहीं करती।'

मेरे पति के पास अक्ल और ग़ैरत का ही रोना था। उन्होंने उसी तरह बीसों भद्दी-भद्दी बातें कहनी शुरू कीं--दरवाजा खुल जाने के कारण और जोर-जोर से कहनी शुरू कीं कि उनके पिता सुनें और देखें—समझें उनका लड़का पढ़ने-लिखने में बोदा होकर भी कितनी सख्ती से अपनी औरत को कन्ट्रोल करता है। घृणा की यह काली छाया फैलती गई। मेरी माँ ने तश्तरी टेबिल पर रखते हुए कहा'—'क्या है किशोर! कितना डाँटो-फटकारोगे उसे? दादा ने कल काफी कह सुन लिया है। तुम क्यों उसे प्रताड़ित कर रहे हो? बच्ची नहीं है वह! एक बार का कहना समझ लेती है। चुपचाप बैठो—नाश्ता करो। इतना देर से उसे सता रहे हो।'

उन्होंने एक विचित्र भाव से माँ की ओर देखा और बोले--'यह जवाब क्यों नहीं देती। मुझसे कतराती घूमती है—कमरे से निकल जाने को कहती है। जिन लोगों से बात करने को मना किया जाता है उन्हीं के पैर चाटती है। यही इसकी धर्म है। छिः छिः!'

मैंने माँ से शान्त कंठ से कहा—'माँ! तुम चली जाओ! क्यों अपनी लड़की के कुकृत्य की बात सुनकर गन्दगी में पड़ती हो। तुम्हारे दामाद को इतनी तमीज़ नहीं कि क्या कहना चाहिए—क्या न कहना चाहिए। तुम क्यों इस कीचड़ में पैर धरती हो? मुझे भोगने दो!

'अभी नहीं। अभी कुछ नहीं हुआ। आगे तुमने दादा की

बात न मानी तो देखोगी मैं कैसे तुम्हारी मरम्मत करता हूँ। तुमने नहीं सोचा और अपना भाग्य सराहा कि ऐसे घर में तुम्हारा सम्बन्ध हुआ और.....तुम हमारे मन के खिलाफ़ करोगी.....हम सहन कर लेंगे! मेरा ख्याल है तुम उसे चिट्ठी लिखती होगी। कब से तुम दोनों की साँठ-गाँठ है कौन जाने? अब तुम्हें सब बन्द करना होगा। ठीक तरह से रहोगी तो रह सकोगी, नहीं तो दुबारा उस घर में पैर रखने का सुयोग न पाओगी।'

म अब भी चुप रही। मैं जानती थी वह कौन-सी ढेर भर वासना की फफूँद है जो इनके शब्दों से झड़ रही है। कौन-सी प्रतिक्रिया, कौन-सी लचक-लचक कर टूटने वाली तिलमिलाहट उनके मानस को रौंद रही है—मैं जानती थी। आश्चर्य यह देखकर हो रहा था कि जो व्यक्ति खुद इतना कामुक है वह अपनी नव-विवाहिता पत्नी पर अकारण, उसकी माँ की उपस्थिति में ऐसे निराधार आक्षेप करे! कैसे यह सब निभेगा? जब बिना कारण इस प्रकार का निर्यातन भोगना पड़ता है तब यदि मैं अपने स्वाभिमान और नारीत्व के गौरव से तनकर चलूँगी तो कब तक निभूँगी? पुरुष की बेहयाई की क्या सीमा नहीं? अभी ऊपर जाकर दादा से कह दूँ ये किस प्रकार की पाशव-चेष्टा करने जा रहे थे तो इनका सारा गौरव धूल में मिल जाय। दादा कितना अपमान इनका न कर डालें? लज्जा की कितनी गहरी और दुर्गन्धित कालिमा इन पर न बरस पड़े? पर नहीं! अभी मैं कुछ न बोलूँगी। अभी मैं उस देव-मंदिर में हूँ—उस पवित्र पुरी में हूँ जहाँ किसी की अमर्यादा और अशालीनता की बात से पाप लगता है। बछड़ा खूँटे के बल पर कूदता है—यह सुनती आई थी। पर ये बछिया के ताऊ जैसे असंस्कृत और अमार्जित मेरे पति अपने पिता के जिस खूँटे के बल पर इतना कूद रहे हैं वह स्वयं उनके प्रति कितना निर्दय और जालिम है इसे वे इस समय पत्नी-उत्पीड़न के लोभ में भूल गये थे। मुझे यह भी लगता है उस समय और उसके बाद जब-जब उन्होंने मुझे डाँटा, फटकारा, गाली और मिथ्या आरोपों से मेरा अपमान

किया—मुझे कुलटा प्रमाणित कर हर प्रकार से मेरे जीवन को नरक बनाने की चेष्टा की तब तब उन्हें सदैव एक गुप्त, ईप्सित और ईर्षालु आनन्द मिलता था। विवाह के बाद बहुत दिनों तक दादा का जो नैसर्गिक स्नेह मेरे प्रति था वह उन्हें जलाया करता था। दादा जब बात-बात पर उन्हें जानवर की तरह मेरे सामने फटकारते थे तब कितनी कुण्ठा और दारुण ग्लानि उन्हे होती थी! इसीलिए बाद में, दादा के इशारे पर उन्होंने जब-जब मुझे प्रताड़ित किया—आततायियों की तरह मुझे उठते-बैठते, चलते-फिरते, सोते-जागते एक क्षण चैन न लेने दिया तब उन्हे भी भीतरी ठंडक मिली होगी। पितृ-भक्ति का श्रेय कुछ न था। दादा से वे स्वयं कितनी संहारक घृणा करते थे--भली-भाँति मैं जानती थी। पर आगे चल कर मुझे यातनाएँ देने में दोनों एक हो जाते थे।

दादा ने ऊपर से आवाज लगाई--'किशोर! तुम अभी गये नहीं होस्टल?'

पतिदेव सिटपिटाते हुए चले गये। मैं अकेली पड़ी-पड़ी जीवन के धब्बे देखने लगी। किस परिहासभरे दर्प से वे मुझे इस प्रकार प्रताड़ित कर गये। उन्हे ऐसा करने का कौन-सा अधिकार है? मुझे अपनी प्रेरणायें पहचानने से रोकनेवाले वे कौन होते हैं? अभी मेरे कानों में पतिदेव के कर्कश शब्द लहरा रहे थे। मेरे सिर पर से जैसे झंझावात बहा जा रहा था। निःशब्द, भैरव और निरीह सपनों का हनन करनेवाला झंझावात जो न जाने किस दिशा से कितने मरे हुए प्रेम का बोझा लेकर आता है और एक शब्दहीन, रक्तहीन, जीवहीन अनुभूति अंग-अंग में भर जाता है—जिसके घृणित अट्टहास में शरीर और मन साँप की त्यक्त केंचुल की तरह बेमानी और तुच्छ बन जाते हैं! संसार में मैं बिल्कुल अकेली हूँ--निपट अकेली! टूटते हुए आत्म-संयम को रोकने की पूरी कोशिश कर रही हूँ, पर कौन रह-रहकर छाती में तपी हुई सलाखें घुसेड़ देता है? कौन मुझे इस प्रकार पतित और तिरस्कृत जानकर उबलती ज्वालाओं से भर जाता है!.....

बाद में दादा दो दिन और रहे। अब वे पहले जैसे अच्छे दादा न थे जो पति की ओर से असंतुष्ट और द्रोही होकर भी मुझे बराबर मानते जाते थे। अपने जीवन में सबसे सदय वे मेरे प्रति ही थे। आज जैसे उनके ममतापूर्ण कुतूहल का स्थान घृणा—केवल घृणा ने ले लिया है। वे चले गये और वर्ष भर बीच-बीच में कई बार आये भी पर वह बात न थी। पतिदेव बीच-बीच में अपनी पाशव लालसा की पूर्ति के फेर में आते थे लेकिन उनके आने के साथ ही मैं कमरे के भीतर जाकर ताला बन्द कर बैठ जाती थी। माँ से प्रकाश के सम्बन्ध में तरह-तरह की कलुषित और अपवादपूर्ण बातें कर—पूछ-ताँछ कर कि वह दुबारा तो मुझसे नहीं मिला—कभी उसे मकान के अन्दर न आने देने की बात दोहराकर वे चले जाते थे। माँ ने कई बार मुझसे कहा कि मेरा व्यवहार ठीक नहीं। पत्नी के द्वारा पति की ऐसी उपेक्षा कदापि सराहनीय नहीं, पर मुझे जीवन में अब सराहनीय की चाह न थी। जो सराहना का साकार ज्योतिपुञ्ज था वह कभी का जीवन से जा चुका था। अब तो मुझे केवल तिरस्कार करने—बदले में और भी कटु, मारक, प्रति-हिंसापूर्ण तिरस्कार पाने की हौंस रह गई है। जीवन के इसी मोड़ पर आकर मैंने पहचाना है—घृणा में कैसा सम्मोहक नशा होता है। पतिदेव ने क्रमशः आना छोड़ दिया.....मैं यही चाहती थी। कॉलेज जाते-आते समय भी अब वे कम दिखाई देते थे। शायद लड़कियों की दूसरी गाड़ियां का पीछा करते हों या अपने सुख के कोई और साधन उन्होंने ढूँढ़ निकाले हों। पर मेरे अन्दर जो आग कभी-कभी बिना किसी सूचना के और अकारण सुलग उठती थी उसके निकास के मार्ग बन्द थे। वह भीतर-भीतर रुँधी-रुँधी प्राण को कुम्भीपाक की तरह पकाया करती थी। इसी प्रकार पूरा वर्ष बीत गया।

****

:५:

वार्षिक परीक्षा में मैं पास हो गई पर पतिदेव फिर फेल हो गये। पिताजी की हिम्मत दादा को पत्र लिखने की न पड़ रही थी। पतिदेव छुट्टियों में प्रयाग न जाकर हमारे घर पर ही रहना चाहते थे। मैंने माता-पिता से स्पष्ट कह दिया कि इस अवसर पर यदि उन्होंने पतिदेव को शरण दी तो दादा जीवन भर क्षमा न करेंगे। साथ ही हम लोगों का पढ़ना भी बन्द हो जायगा। दो-दो बार फर्स्ट ईयर में फेल होना.....मुझे गत वर्ष के उनके क्रोध का जो अनुभव था उससे लगता था कि इस बार वे पागल हो जायँगे। मैं वहाँ होती तो उन्हें कुछ शान्त करने की चेष्टा भी करती। कॉलेज की ओर से सूचना जाते ही वे चौथे दिन आ गये। पतिदेव होस्टल में थे यद्यपि कल ही शाम को आये थे। माँ ने उनसे स्पष्ट कह दिया था कि तुम्हें दादा के पास फौरन चले जाना चाहिए—इस प्रकार उनसे छिपकर तुम कब तक यहाँ-वहाँ रहोगे। दादा आकर अपना सामान घर पर रखते ही सीधे होस्टल गये। पर वे वहाँ से चल चुके थे—संभवतः प्रयाग के लिए। दादा वहाँ से

धूप में तपते-फुँकते जब दोपहर में लौटे तो मेरे पिता घर पर न थे पर माता को उन्होंने न जाने कितनी बातें सुनाईं। सब अधिकतर पिता जी के लिये थीं। उन्हीं का सारा अपराध था। अपनी लड़की की शिक्षा आगे बढ़ाने के लिये वे इतना झूठ बोले! अपने दामाद की देख-रेख करने और पढ़ने की ओर उसका मन लगाने का भार लिया पर यहाँ आकर बिल्कुल छूट दे दी और कभी कोई 'इन्टरेस्ट' न लिया। क्या यही मनुष्यत्व है—क्या यही धर्म है? चाहिये था कि दामाद का हित पहले देखते—पुत्री का बाद में। पर तुम लोगों को केवल अपनी लड़की का और मेरे पैसे का ख्याल है। दामाद की कोई चिन्ता नहीं। वह मूर्ख बना पड़ा रहे पर तुम लोग लड़की के बल पर ऐश करो!'

मेरी माँ कभी कुछ कहती न थी। पिता जी जब उन्हें कोई कड़ी बात कहते थे तब भी वे चुप रह जाती थीं। फिर दादा उनकी लड़की के भाग्य-विधाता—जीवन-प्रणेता थे। उनकी बातों का विरोध करने की प्रवृत्ति उन्हें कैसे हो सकती थी। मुझे बोलने का कोई काम न था। मेरे माता-पिता को जब दादा कुछ कहते थे या कोई कुछ कहता था तो मुझे बुरा अवश्य लगता था पर बीच में बोलने का मुझे हक न था। दुनिया की उनके प्रति जो भावनायें हों उनकी मैं उपेक्षा कर सकती थी। जन-जन की बातों का निराकरण कहाँ तक करती घूमती? दादा क्रोध में बराबर बकते-झकते रहे। यहाँ तक घोषित कर दिया कि अब हम लोगों का पढ़ना बन्द हो जायगा। इस बार मुझे उनके साथ जाना होगा। उनके साथ भेजने में माँ को या जाने में मुझे कोई आपत्ति न थी। पर मेरी पढ़ाई के बन्द होने की बात माँ को बुरी लगी। अधिक शिक्षिता न होकर भी वह शिक्षा का मूल्य जानती थीं और मेरी भावनाओं से भली-भांति परिचित थीं। बोलीं—'आपने शादी के पहले कहा था कि मंजु को जहाँ तक वह चाहेगी आप पढ़ावेंगे। कम से कम उसे ग्रेजुएट बनने दीजिये। उसका क्या अपराध है?'

दादा ने गरज कर कहा—'मेरा बेटा आगे न पढ़ सका तो बहू

को आगे पढ़ाकर क्या घर को नर्क बनाऊँगा ? तुम क्या समझती हो अपनी लड़की को—पहले मेरा बेटा है—उसका महत्व पहले है—बाद में तुम्हारी लड़की का। मैं सोचता था तुम लोगों के सम्पर्क में आकर लड़का कुछ पढ़ने की ओर आकृष्ट होगा। पर एक साल लखनऊ में रहकर वह और चौपट हो गया। बड़े दिन की छुट्टी में जब घर गया था तब दो-तीन बार मुझे शराब का संदेह हुआ। तुम लोगों ने कभी उसकी कोई चिन्ता न की। अपने रास्ते पर जाने दिया।'

बहरहाल इस बार दादा के निश्चय में अन्तर नहीं पड़ने का। शाम को पिताजी ने आकर बहुत समझाया और पश्चात्ताप किया। यहाँ तक कि अपनी दरिद्रता का वर्णन करते-करते वे रो पड़े। दफ्तर में ठीक तरह से काम न कर पाने से उनकी तरक्की रोक दी गई है। इतना अच्छा और पौष्टिक भोजन भी उन्हें कहाँ मिलता है कि अपना काम वे स्वस्थ रूप से कर सकें। यदि वे मुझे पढ़ा सकते तो कदापि दादा से आग्रह न करते। साथ ही उन्होंने मेरे पति के लिये यही राय दी। उनका तर्क था कि चार वर्ष में एन्ट्रेन्स पास किया है तो कभी न कभी इण्टर भी पास कर लेगा। उन्हें नौकरी तो करनी नहीं न दादा को उनकी कमाई की परवाह है। बीच में पढ़ना छुड़ा देने से लाभ क्या होगा ? आवारा और नाकाम हो जायँगे या पतन की ओर.....'

दादा ने गरज कर कहा—'मैं एक पैसा न दूँगा। बहू मेरे पैसे की देख-भाल करेगी। उसे ही मैं यहाँ से जाकर सब बातें समझा-बुझा दूँगा। ताला-कुञ्जी सब उसको सौंप दूँगा। पर एक पैसा वह बिना मुझसे पूछे किशोर को न दे सकेगी। मैं अपने जीवन में अपने पैसे का अपव्यय नहीं देख सकता। जब खर्च के लिये नपा-तुला मिलेगा तब कहाँ से अलल्ले-तलल्ले उड़ेंगे ?'

यह मालकिन बनने का प्रस्ताव मुझे तनिक न भाया। दादा जैसा क्षण-बुद्धि का व्यक्ति होना दुर्लभ था। एक साँस में एक बात कहते थे

और थोड़े समय बाद दूसरी साँस में दूसरी बात। मैं इस प्रकार कब तक इन्हें सन्तोष दूँगी ? मैं जानती हूँ आगे चलकर पिता-पुत्र में पैसे के लिये तुमुल द्वन्द्व होगा। मैं बीच में चक्की के पाट के अनाज की तरह रोज पिसूँगी। थोड़ा-सा अनुभव मैं उस जीवन का कर आई थी। उसकी कल्पना से ही एक असीम सूनेपन की संज्ञा मेरे भीतर जाग्रत हो उठती थी। आधे पेट भोजन पर जीवन व्यतीत कर सकती हूँ पर यह सर्प की तरह फुफकारती हुई अनवरुद्ध जीवन की मरुशिखा ? मैं मन ही मन काँपने लगी। दादा ने दूसरे ही दिन मुझे प्रयाग ले जाने का फैसला किया। वे जिद्दी प्रकृति के थे। जो एक बार कह देते थे उसे आसानी से बदलना न जानते थे। उधर मेरी माँ के बच्चा होने वाला था। उस समय मेरी आवश्यकता पड़ सकती थी। मेरी छोटी बहनें अभी गृहकार्य में इतनी पटु न थीं। पर दादा से कौन यह सब कहे ? संभव है कुछ अपशब्द और सुनने को मिलते। हम लोगों में यह साहस न था। मैं दूसरे दिन भारी मन से अपनी किताबें और सामान बाँधने लगी। भैया की दी हुई सैकड़ों किताबें मेरे पास थीं जिन्हें मैं पिछली बार अपने साथ न ले गई थी। इस बार वे सब ले जाना चाहती थी। प्रकाश की किताबोंका पूरा सेट था। हमेशा भैया उनकी किताबें खरीद कर मुझे भेंट करते थे। आज लगभग आठ महीने बाद मैं फिर ससुराल की ओर जा रही हूँ। मेरे मन की शिखा रह-रह कर विमनस्क हो काँप जाती थी। दोपहर को दादा ने पूछा—'सामान बाँध लिया है न ? अपनी कोई चीज यहाँ छोड़ना मत। रात को गाड़ी से चलना है। देखूँ किशोर प्रयाग पहुँचा है या और कहीं भाग निकला है। मुझे चिन्ता हो रही है। यहाँ आकर यह सब भी सीख गया। मेरा भाग्य !'

शाम को भैया की माँ मुझे देखने आईं। मैं शायद विवाह के बाद केवल एक बार उनके घर गई थी। रस्म अदाई के लिये—पर वे अक्सर मुझे देखने आ जाती थीं। सुबह उनकी नौकरानी कुछ बायना लेकर आई थी। माँ ने कहला दिया था। मैं अपने कमरे में बैठी मन की

शंकाओं के अंकुर कुरेद रही थी। उन्हें देखते ही मेरा रोम-रोम उल्लास से भर गया। भैया की आज सुबह से आती याद जैसे साकार सामने खड़ी हो गई। मैंने लपक कर उनका चद्दर उतारा और कुर्सी पर बिठाया। मेरे शिथिल पड़े शरीर के लोदे में एक बार फिर प्राण और पीड़ा की अनुभूति जाग उठी। 'माँ! भैया का कोई पत्र आया—या नहीं? मुझे तो कभी लिखेंगे नहीं। कैसे हैं?'

मा ने मेरे सिर पर हाथ फेरते हुए कहा—'अच्छा है बेटी! लिखा है छुट्टियों में 'फ्रान्स' जाऊँगा। बड़े भैया के पास भी चिट्ठी कम आती है। उन्होंने हर हफ्ते चिट्ठी लिखने की ताकीद उसे की है पर वह माने तब न! तेरी चर्चा हर पत्र में रहती है। अभी प्रकाश आया था। परसों गया है। उसके कालेज में छुट्टियाँ शुरू हो गई हैं। वह भी तेरी बड़ी तारीफ कर रहा था। चाँद हर चिट्ठी में तेरे विषय में पूछता रहता है।'

'प्रकाश कैसे यहाँ आये? कोई काम था माँ!'

'बड़े भैया कहते थे यूनिवर्सिटी में कोई इम्तहान लेने आया था। इस बार तीन-चार दिन हमारे यहाँ ठहरा था। मैंने तेरे ही साथ पार साल बनारस में देखा था। अब तो कई बार मिला है। बड़ा अच्छा लड़का है। चाँद की चिट्ठीं में उसकी चर्चा भी रहती है। जब वह लखनऊ आये तो उसे किसी प्रकार की तकलीफ न होने पावे—हम लोग उसे कभी कुछ कहें न! गोया हम लोग—बड़े भैया या बड़ी बहू मेहमानों से कहा-सुनी करते-फिरते हैं। पर चाँद की बातें दुनिया से निराली हैं। जिसे चाहेगा—उसे तन-मन-धन से—अपने को पूरा-पूरा भूल कर चाहेगा.... और प्रकाश है इसी लायक। कितना विनम्र और सरल! उस दिन बड़ी बहू से बोला—'भाभीजी! आपको चाँद की बड़ी याद आती होगी।' तुम जानती हो बड़ी बहू कितनी गंभीर है। ज्यादा बोलती तक नहीं। पर उससे बराबर बोला करती है। कहने लगी—'क्यों! तुम चाहते हो न आये? तुम चाँदनी जैसी एक बहू ले आओ तो दोनों की

साथ-साथ याद किया करूँ। पर तुम हमारा कहना मानोगे ? तुम कवि हो—मैंने सुना है कवि लोग अपने में ही मगन रहते हैं। उन्हें कभी किसी दूसरे की चाह नहीं होती—बड़े निर्मोही होते हैं वे।'

इसी तरह दोनों में बातें होती रहीं। बड़े भैया दफ्तर से आ गये। सुनकर बोले—'अगर तुम चाहो तो अपने डिप्टी-सेक्रेटरी की लड़की से तुम्हारे विवाह की बात चलाऊँ। जैसी तुम चाहते हो ठीक वैसी है।'

प्रकाश ने कुछ आश्चर्य से पूछा—'आपने कैसे जाना मैं किस प्रकार की पत्नी चाहता हूँ। कभी आप से मैंने कुछ कहा नहीं।'

बड़े भैया ने बहू की ओर इशारा कर कहा—'ऐसी है—बिल्कुल ऐसी। मेरा ख्याल है तुम अपनी भाभी जैसी 'कमसखुन' गंभीर लड़की चाहते हो। अगर ध्यान से दिल को कोने-कोने देखो तो कहीं न कहीं इनके लिए एक असाधारण अनुराग छिपा होगा .....।'

'क्या भाभी ने आप से खुद कहा है'—प्रकाश हँस कर बोला।

'मैं क्यों बताने लगी'—बड़ी बहू ने कहा। उस समय तुम्हारी चर्चा आई। तुम्हारे प्रति जैसा आदर का भाव उसने दिखाया वैसा कोई किसी के प्रति न दिखाता होगा। तुम उसकी काकी हो यह मुझे उसी दिन मालूम हुआ। पर बेटी ! तुम्हारे ससुर और उसके कुटुम्ब में इतना वैर क्यों है ? ऐसा भी क्या निषेध है कि काकी एक ही कुटुम्ब के भतीजे से बात न करे। यों अपना शील और सम्मान अपने हाथ होता है—पर समझ में न आया बुड्ढा क्यों इतना सन्देह और अविश्वास करता है ? ऐसा न होना चाहिए।'

मैंने मन ही मन प्रसन्न होते हुए कहा—'मुझे मालूम नहीं बड़ी माँ ! मुझे केवल व्यक्तिगत अहंकार की वीभत्सता ही लगती है यह। दादा अपने भाग्य से घोर असंतुष्ट हैं। उनके लड़के में इतनी योग्यता नहीं कि किसी से चार मिनट समझदारी और सफाई से बात कर सके। दूसरी ओर वे विद्या-बुद्धि और प्रतिभा के आगार ! स्वाभाविक है यह जलन माँ ! पर-संतापी व्यक्ति सदा दुखी रहता है। किसी न किसी का

उत्कर्ष और प्रगति बराबर उसकी छाती पर साँप बन कर लोटती रहती है। वे हमारे यहाँ आये नहीं। इधर से निकले भी नहीं? उस बार मैंने उन्हें बुलाया था।'

'बड़ी बहू से सब बता चुका है। मँझली बहू से उतना नहीं खुलता। कहता है उनके हँसी-मज़ाक से घबराता हूँ। यह ठहरी होशियार। सब बातें कविजी इस तरह बता देते हैं जैसे कोई लड़का अपने गुरू से कह दे। कह रहा था—मेरे वहाँ जाने से दादा और किशोर के मन में सन्देह हो सकता है—मंजु का अकल्याण हो सकता है। चाँद के नाते मैं उसे जो मानता हूँ वह शब्दों में प्रकट नहीं कर सकता। इस नये नाते से तो वह मेरे लिए पूज्य हो गई है यद्यपि बड़ा अस्वाभाविक-सा नाता है। यही सब सोचकर वह तेरे घर नहीं आया। दादा का रुख तुझे मालूम है। तू ऐसा क्यों चाहती है? ससुर और पति की आज्ञा के विरुद्ध किसी से मिलना-जुलना ठीक नहीं।'

'अपने विश्वास के लिये प्रताड़ित होने में एक प्रदीप्त आनन्द मिलता है मा! शुरू से भैया के मुँह से उनकी प्रशंसा सुनते-सुनते और उनकी कृतियाँ पढ़ते-पढ़ते मैं मन ही मन उन्हें असीम श्रद्धा की दृष्टि से देखती रही हूँ। बम्बई में भैया उन्हें हर प्रकार से मेरा ध्यान रखने के लिए कह गये हैं। भैया क्या किसी नापाक के हाथों मुझे सौंपेंगे? वे भली-भाँति जान कर ही यहाँ से गये हैं—किसी नामहीन अपरिमेय और अकृतज्ञ दिशा में मेरा जीवन भागा जा रहा है। मुझे सहारा चाहिए माँ! अकल्याण मेरा जो हो चुका है या होने जा रहा है वह किससे कम है! इधर सात-आठ महीने शान्ति और सुख से रही हूँ। अब फिर उस भयानक असंगति के भीतर जा रही हूँ। भगवान जाने कैसे त्राण होगा! किस किनारे जाकर यह जीवन-नैया रुकेगी?'

'यही मैं कहती हूँ बेटी! चाँद बड़ी अक्लमंदी करता है जो तुझे पत्र

नहीं लिखता। जब ये लोग इतने अनुदार और संदेही हैं तो उन्हें कुछ भी कहते-समझते क्या देर लगती है ? इसी से चाँद तुझे पत्र नहीं देता। वर्ना उसे जरूर तुझे चिट्ठी लिखने की इच्छा होती होगी। क्या चिट्ठी न लिखने से या न लिख सकने से वह तुझसे छूट जायगा ? प्रकाश एक महीने बाद रेडियो पर बोलने फिर आयेगा। मुमकिन है प्रयाग में भी कुछ दिन रहे। वहाँ उनके मित्रों की संख्या कम नहीं। तू कुछ भी न कहना सुनना। बात का बतंगड़ बनते देर नहीं लगती। उसे बरकाना ही अच्छा।'

'मैं कुछ कह नहीं सकती माँ ! अपनी शक्ति भर कोशिश करूँगी। पर कभी-कभी अपने पर अपना वश नहीं रह पाता। मैं जिसे पूजूँगी—बाहर-भीतर एक साथ पूजूँगी। आज वे लोग प्रकाश भैया से मिलने को मना करते हैं—कल चाँद भैया विलायत से लौट कर आयेंगे—मुझसे मिलना चाहेंगे तब वे फिर मना करेंगे। मंझले भैया..... बड़े भैया.....सभी मुझसे मिलना चाह सकते हैं। इस वर्जना और मनाही की कहीं सीमा है ! कब तक मैं अशान्त न होऊँगी ? तुमने सुना बड़ी माँ ! अब हम लोगों का पढ़ना बन्द हो जायगा। दादा ने कल साफ-साफ कह दिया है। सोचती हूँ कब तक इस तरह हाथों से खेकर अपने को बहाऊँगी ? कब तक अबाध की खिड़की न खोलूँगी ! पहले जैसा सोचती थी वैसा अब कहीं कुछ नहीं मिलता। दादा को मैं जितना उदार, स्नेहपूर्ण और क्षमाशील मानती थी या दूर से देखने में वे जैसे लगते थे वैसे वास्तव में कुछ नहीं ! कब तक मैं आलोक का पन्थदान न पाऊँगी ? कब तक गति की प्रसरणशील राह न पाकर टकराती रहूँगी--अपने से--अपनी अतृप्ति से और अपने छोरहीन जीवन प्रवाह से ? कब तक जीवन के बन्द कमरे में चक्कर काटती रहूँगी – गिर-गिर कर सिर पटकती रहूँगी सिर पटक-पटक कर गिरती रहूँगी—गिर-गिर कर भी न गिरूँगी—उठ-उठ कर भी न उठ पाऊँगी.....।'

माँ मेरी व्यथा की गंगोत्री से भली-भाँति परिचित थीं। बेचारी क्या कहतीं, कैसे मुझे धैर्य देतीं। उन्हीं की छत्र-छाया में मेरा निर्माण हुआ था। मेरे किस अनुराग-विराग, प्रवृत्ति-विरक्ति से वे परिचित न थीं? एक घण्टे तक इधर-उधर की बात करके चली गईं। पर प्रकाश की सुधि मेरे मन में धूनी की तरह धधक उठी। यहाँ आते रहते हैं पर मेरे घर नहीं आते। इसलिए कि मेरे जीवन के साथ कोई अपवाद न जुड़ जाय.....कहीं से कालिमा की कोई कुत्सित रेखा न आजाय। उन्हें केवल यही ध्यान है? भैया ने उन्हें सब बताया होगा! मैं कहाँ से कहाँ आगई हूँ यह सब वे भली-भाँति जानते हैं? क्या मुझे उनके विश्वासी, प्रवर्तक साहचर्य की आवश्यकता नहीं? आखिर मैं कहाँ से कुछ पाऊँगी? देना तो ठीक है और देती रहूँगी। पर पाने के क्षण यों ही बीत जायँगे? बिना पाते रहने के यह देने का क्रम कब तक चलेगा? क्या यह आत्म-विसर्जन का बाजा आप से आप बज सकेगा? कहीं से तो स्वरों की लय आती रहनी चाहिये। प्रकाश की इस तटस्थता का प्रभाव मेरे ऊपर भीम वेग से पड़ रहा था। कितनी बड़ी सद्भावना है जो मानव को इस प्रकार अपने अनुगत दूसरे मानव से दूर रहने के लिये विवश करती है। यह विवेक से भी बढ़कर कोई शक्ति है जो इस प्रकार दृष्टि को दृष्टि से—प्राण को प्राण से जुड़ने नहीं देती—बीच में दुराव की दीवार खड़ी कर देती है। इस दुख में क्या मैं अकेली रहूँगी? इस भयानक असौख्य और अवसाद में कब तक अपने उच्छिष्ट से ही पेट भरूँगी? मैं उनके बिना कैसे अपने को उबारूँगी? मेरे ससुर का कोई ठीक नहीं—कल ही वे न रहें तो क्या होगा? पति की क्या दशा होगी? वे इस धन को देखकर मदान्ध न हो जायँगे? तब कौन मुझे सँभालेगा? कौन उन्हें सँभालेगा—कौन इस घर की मर्यादा की दीवारों को सँभालेगा? उस समय वे क्या मेरे बुलाने पर न आयेंगे? नहीं! वे जरूर आयेंगे—मेरी गोहार पर कभी न रुकेंगे। रूखी प्यासी धरती के बुलाने पर ऋतुकालीन मेघ नहीं रुकते—दक्षिण पवन

के बुलाने पर फूलों का सौरभ नहीं रुकता—भक्त के बुलाने पर भगवान् नहीं रुकते। चाँद भैया का कुछ ठीक नहीं। उन्हें वापस लौटने में वर्षों लग सकते है। कुछ भी हो वे दूर हैं, जो इतने निकट हैं वे अपने मन से मेरे यहाँ न आयें पर क्या बुलाने पर रुकेंगे ? मैं जान गई यह घृणा से कुचले गये कवि के सपनों के संसार की असह्य देदीप्यमान ज्वाला है जो आनन्द से अपरिचित रहकर केवल पीड़ा से घिर-घिर कर ऊपर उठना जानती है.....

रात की गाड़ी से मैं चली। रास्ते में दादा और मैं....केवल दादा और मैं। गाड़ी का डिब्बा ठसाठस भरा था। लेटने को गुञ्जाइश न थी। केवल बैठे रहना था.....इतनी बड़ी रात भर बैठे रहना था। दादा की चिन्ता बराबर घनीभूत हो रही थी। यदि वे घर न गये हों तो। रह-रह कर दादा को अपने सारे कटुवचन और कटुव्यवहार याद आ रहे थे। मैंने अपनी सास के मुँह से सुना है—बचपन में मेरे पति को दादा ने पढ़ने के विषय में इतना मारा है कि उन्हें सदैव के लिये पढ़ने से घृणा हो गई है। आज भी जब पुरवैया चलती है तब उनकी देह में पीड़ा होने लगती है और कई दिन तक होती जाती है! दादा के मन में रह-रह कर भयानक दुर्भावनायें आ रही है—कहीं भागकर फौज में चला गया तो क्या होगा ? इस धन और इस जवान पतोहू का क्या होगा—यदि न लौटा—या न लौट पाया तो.....दादा अन्धकार में डूबने-उतराने लगते थे।

रास्ते में उन्होंने मुझसे एक बात न की। पैसेञ्जर गाड़ी प्रत्येक स्टेशन पर रुकती आगे बढ़ती थी। मैं गाड़ी रुकते ही मुँह भीतर कर बैठ जाती थी। गाड़ी आगे बढ़ते ही मैं फिर मुँह बाहर निकाल कर देखने लगती थी। लाल ईंटों के बने हुए छोटे-छोटे कमरों जैसे स्टेशन और उनके सामने छाये हुए उतने ही बड़े बरामदे—बगल में मुसाफिरों के बैठने के लिये लकड़ी की बड़ी बेञ्चें जिनके बगल में लोहे की तौलने वाली मशीन। स्टेशनों के पीछे रात का अन्धकार और उसमें डूबे हुए स्टेशन-मास्टर और अन्य कर्मचारियों के रहने के क्वार्टर जो बाहर से देखने

में भी ऊँघते जान पड़ते थे। आकाश में चाँदनी उदित हो आई थी पर एक-दो कोने में छोटे-छोटे बादल के टुकड़े मंडरा रहे थे। स्टेशनों के प्लेटफार्म पर मोटे मैले कपड़े पहने देहाती कन्धे पर चादरा, हाथ में झोली और लाठी लिये चढ़-उतर रहे थे। पान-बीड़ी, ठंडा पानी, शरबत, गोश्त-रोटी, हिन्दू चाय, मुसलमान चाय, ककड़ी, संतरा, खरबूजा और पूड़ी-मिठाई, तरह-तरह की आवाजें गाड़ी खड़ी होते ही आने लगती थीं और कानों में भर जाती थीं! दादा ने बीच में मुझसे पानी वगैरह के लिये जरूर पूछा पर मुझे प्यास न थी। यात्रा में कुछ खाना पीना मुझे असुन्दर मालूम पड़ता है और मेरे स्वभाव के विरुद्ध है। डिब्बे में थोड़ी-थोड़ी जगह के लिये मुसाफिरों में तकरार होती थी। अन्त में गाली-गलौज के बाद हाथा-पाई की नौबत आजाती थी। मेरे सामने की बेंच पर एक बहू चटकीली धोती पहने, कुहनियों मे कलाई तक लाख की चूड़ियाँ और चाँदी के गहने पहने, दाहिने हाथ से थामे घूँघट में उगलियों से आँख भर के लिये जगह बनाये इधर-उधर देख रही थी। मैं पर्दा न करती थी पर दादा के साथ बहू के रूप में चलने पर चादर ओढ़नी पड़ती थी। गर्मी के कारण मैंने वह रेशमी चादर समेट कर रख दी थी और बीच-बीच में पंखा झलने लगती थी। बाहर यात्रियों की पुकार, कुलियों का कोलाहल, ट्रेन की खिड़कियों के खुलने बन्द होने का शब्द। रास्ता कटने नहीं आ रहा था। रात बीतती जाती थीं पर पथ का अन्त नज़र न जाता था। मैं इस प्रकार तकलीफ़ के साथ यात्रा करने की आदी न थी। यात्रा के अवसर विवाह के पूर्व कम आते थे क्योंकि हम लोगों के सम्बन्धी कहीं कोई न थे। केवल चाँद भैया के साथ उनके भाइयों के यहाँ आने-जाने के अवसर आये थे। पर तब यात्रा कितनी जल्द बीत जाती थी। आज गाड़ी की चाल कितनी धीमी थी।

दादा मेरे बगल में भीतर की ओर मुँह किये ध्यानावस्थित बैठे थे। बीच में एक स्टेशन पर गाड़ी पूरे पैंतीस मिनट लेट हो

गई। पूरा डिब्बा गर्मी और प्रतीक्षा की व्याकुलता से कुनमुनाने लगा। जो ऊँघने वाले गाड़ी के रुकते ही जाग पड़े थे वे अभी तक जागते जा रहे थे। स्टेशन के पार दूर के पेड़ घने नीले होकर छोटी-छोटी पहाड़ियों की तरह मालूम होते थे। हमारे डिब्बे में एक ओर दूर तक फौजी सिपाही बैठे हुए थे जो गाड़ी के देर तक रुकी रहने के कारण भद्दी-भद्दी गालियाँ गाड़ी के स्टाफ और कम्पनी को दे रहे थे। जब स्टेशन-मास्टर अपनी दयनीय सूरत लेकर डिब्बे के सामने से निकलता था तो वे और जोर से गाली बकने लगते थे। मेरे ठीक सामने एक भद्र खद्दरपोश बैठे थे जो फौजियों की असभ्यता पर मन ही मन तैश खा रहे थे और उन भद्दी गालियों को सुन कर कभी मेरी ओर—कभी पास की देहाती बहू की ओर देखने लगते थे—शायद उन गालियों की संगति बैठाने के लिये। उनका विदूषक की तरह बनता बिगड़ता मुँह! दूसरी ओर गालियाँ सुन-सुन कर देहाती बहू की पूरे-पूरे पैर साड़ी से ढाँक कर बैठने पर कान उधर ही रखने की चेष्टा! क्यों मनुष्य की अकथ्य घृणित, अचिन्तनीय भ्रष्टाचार की बातों में रस मिलता है? फौजियों के बीच में अब गन्दा मजाक चल रहा था। अपनी भाषा में एक ने कोई अश्लील गीत गाना शुरू कर दिया था जिसकी अश्लीलता दूसरों के चेहरों पर बिम्बित हो रही थी। खद्दर-पोश ने शायद अपनी हीनता की भावना को भुलाने के लिये अब सिगरेट जलाकर धुआँ उड़ाना शुरू कर दिया था। मुझे फिर अपने चाँद भैया की याद आगई और आन्तरिक व्यथा का प्रवाह बहुत तेज़ धारा के समान हृदय में फूट पड़ा.....गाड़ी अब चल पड़ी थी और फौजियों की बात-चीत पहले जैसी स्पष्टता से नहीं सुनाई दे रही थी। पर मैं सोच रही थी—सृष्टि के आरम्भ से तो मनुष्य घृणित पाप-कर्म करता ही आया है पर इस प्रकार उसके बखान और गायन की क्या जरूरत उसे पड़ जाती है? क्या इसका इज़हार किये और ऐसे कुरुचिपूर्ण ढंग से इज़हार किये बगैर वह नहीं रह सकता? यह पशुत्व उसका कब तक चलेगा? विकासवाद की वह कौन-सी पुनीत 'स्टेज' होगी

जब वह अपनी बहू-बेटियों का आदर करना सीखेगा और चलती गाड़ी में ऐसे नंगे गीत न गायगा। न जाने किस बदचलन और यौन रोगों वाली नर्स की बात वे कर रहे थे। बीच-बीच में एक अपूर्व उत्साह से गा उठता था.....डिब्बे की तीखी गरम रोशनी में चारों ओर मुझे सब फीका-फीका लगता था। कभी-कभी जब बाहर से अन्धेरा बह कर डिब्बे में आ जाना था तब रोशनी पीली और फीकी पड़ जाती। सामने बैठी देहाती बहू का पति अब जाग पड़ा और एक अजीब लालसा से अपनी एक दो वर्ष पूर्व विवाहित पत्नी की आकृति देख रहा था जो खिड़की पर सिर रख कर ऊँघ गई थी। जैसे अब वह जल्द से जल्द उसे उपलब्ध करना चाहता है.....जैसे बिजली की तरह कौंध-कौंध कर उसकी लालसा रह जाती है। कल घर पहुँच कर उसे यह दंश न सहना पड़ेगा.....दूर पर एक और स्त्री उठ कर बैठ गई थी जो अब तक सोती आई थी पर भीड़ की ठेल-ठाल में अब उसे जागना पड़ा था। उसकी अलसाई आँखों से एक अधेड़ नशा निकल रहा था। वह जल्द से जल्द लेट कर फिर सो जाना चाहती थी पर सुयोग न पा रही थी। बीच-बीच में मुँह बनाये वह कमर खुजाने लगती थी..... जँभाई लेकर उँगलियों से चुटकी भी बजा लेती थी।

———

:६:

घर पहुँचकर पता लगा मेरे पतिदेव प्रयाग नहीं आये हैं। दादा आशंका से बेचैन हो गये। सबसे अधिक खतरा लड़ाई के रँगरूटोंमें शामिल हो जाने का था। मेरी सास बीच-बीच में छिप-छिप कर रोया करती थीं। मैं उन्हें समझाती पर उनकी समझ में कैसे आता। बुढ़ापे की इकलौती सन्तान की सुधि की आहट से ही उनकी आँखें गीली होने लगती थीं। दादा ने गाँव के लोगों को पत्र-लिखे—इधर-उधर जो रिश्तेदार थे उन्हें सूचनायें दीं और पता लगाया। आठ-दस दिन के बाद नागपुरसे सूचना मिली कि वे वहाँ हैं और आराम से हैं। उन्हें प्रयाग वापस भेजने की चेष्टा की जा रही है। समझाया, बुझाया जा रहा है पर दादा के कारण उनकी लौटने की इच्छा नहीं हो रही। मुझे आश्चर्य हुआ—दादा को जो संतोष और निश्चिन्तता यह खबर पाकर होनी चाहिए थी वह नहीं हुई। चिट्ठी पाकर वह उल्टे और आग-बबूला हो गये। तरह-तरह की उल्टी-सीधी गालियाँ पतिदेव को दे रहे थे और बार-बार अपनी नाक के कट जाने की घोषणा भी कर देते थे। मुझे बाद में सास से

मालूम हुआ वह पत्र प्रकाश के पिता जी का था। वहाँ किसी मिल में 'लेबर आफ़ीसर' थे। दादा उनसे बिल्कुल दूर रहना चाहते थे। उसी विरोधी और खानदानी प्रतिद्वन्द्वी के घर जाकर उनका लड़का पड़ा रोटियाँ तोड़ रहा है। दिल दुखने की बात थी। पत्र में यह भी लिखा था कि यदि वह अकेले आने को तैयार न हुए तो प्रकाश के साथ उन्हें भेज दिया जायगा। दादा निश्चित रहे—वे बम्बई जाने का हठ अवश्य कर रहे हैं पर बम्बई जाने न पायेंगे।'

मेरे ससुर के लिये यह सब असह्य था। न जाने कौन-सा मर्मान्तक आक्रोश उनके भीतर वेग से छलछला उठा था। क्या करना चाहिये—क्या नहीं यह वे तय न कर पा रहे थे। मेरी सास से पूछने लगे—'अब! अब क्या करना चाहिये। भाग कर गया भी तो कहाँ और किसके यहाँ! फेल हर साल हुआ करता था। क्या मैं खा जाता? जिनका अहसान मैं कभी नहीं लेना चाहता उन्हीं शत्रुओं के घर जाकर पड़ा है। और कोई ठौर न मिला।

सास को अपार निश्चिन्तता हो रही थी यद्यपि अन्धा आँख पा लेने तक एतबार नहीं कर पाता। उनकी गीली आँखें और रोते हुए उच्छ्वास अब सूख चले थे। बोलीं—'काहे का अपमान! वे लोग कोई दूसरे हैं! अपना ही खून मांस हैं। उनसे पूछ कर जो रुपया उनका किशोर ने खर्च कराया हो वह दे देना। इसमें कंजूसी न करना। प्रकाश बड़ा चतुर है। वह जरूर किशोर को लाकर यहाँ छोड़ जायगा। उसके बाप को छुट्टी मिले न मिले पर उसकी छुट्टियाँ होंगी। तुम एक तार दे दो कि वे लोग किशोर को अकेला न छोड़ें। इधर-उधर हो गया तो जिन्दगी भर का रोना हो जायगा। मैं मन ही मन फिक्र से मरी जा रही थी। भगवान ने रक्षा कर ली। अब तुम न बिगाड़ना।'

दादा ने कहा—'वह यहाँ आ जाय। मैं कुछ न बोलूँगा। नहीं पढ़ना चाहता न पढ़े, पर घर पर रहे। खाने का बहुत है। बहू पढ़ी-लिखी

है। हिसाब-किताब रक्खेगो। मैं ताली ताला सब सौंप कर इन्हीं लोगों पर छोड़ दूँगा। मुझे कुछ कहना सुनना नहीं।'

जानती थी पतिदेव के लौट आने दादा कितनी फ़ज़ीहत करेंगे। वे अपनी आदत से लाचार थे। मेरा जी हल्का-फुल्का-सा चारों ओर कूद रहा था। एक बार उनके दर्शन होंगे। दादा की कोर भी कहाँ जाकर दबी! अब देखती हूँ प्रकाश के साथ किस तरह पेश आयेंगे। मैं रोज उनकी बाट जोहने लगी। पति की मुझे चिन्ता न थी। मैं जानती थी वे केवल दादा के भय से भाग निकले हैं। उनमें पौरुष और साहस नाम मात्र को नहीं। इतना बल उनमें नहीं कि आत्महत्या या अन्य किसी असाधारण काम की आशंका उनकी ओर से की जा सके। मैं कभी यह न सोचती थी कि वह नागपुर भाग जा सकेंगे। लेकिन दादा के भय और नवविवाहिता पत्नी के सामने गाली-अपमान की मर्म-व्यथा से बचने के लिये वह न जाने किस प्रकार भागते हुए नागपुर पहुँच गये थे। संभव है प्रकाश की ओर से अब दादा का भाव बदल जाय।

वे न आये। दादा का तार पाकर उनके पिता स्वयं मेरे पति को लेकर आ पहुँचे। मैं जानती थी कितना प्रचण्ड अभिमान उनमें है। यदि उतना बड़ा अहं उनमें न होता तो वे इतने ऊँचे कवि न हो पाते। उनके पिता सीधे और लम्बे क़द वाले गैर वर्ण के गठे हुए एक अति विनम्र व्यक्ति ज्ञात हुए। लखनऊ से आने के बाद इस बार भोजन मैं बनाया करती थी, क्योंकि सास को पुत्र की चिन्ता में रोने-धोने से फ़ुर्सत न थी। आने के दिन जब उन्होंने खाना खाया तो थाली के पास दस रुपये रखते हुए बोले—'बहू! तुम्हारा नेग है यह। मैंने आज पहले पहल तुम्हारे हाथ की रसोई खाई है।' बगल में दादा बैठे भोजन कर रहे थे। उन्होंने एक दो बार रोका पर मेरी सास ने दादा को ही रोकते हुए कहा—'क्या हुआ? ले लेने दो। छोटे भाई की बहू को दिया जाता

है। पर अभी तुमने (प्रकाश के पिता) बहू का मुँह नहीं देखा। देखकर देना—जल्दी क्या है। दो चार दिन रहोगे न।'

'नहीं काकी! मैं कल मेल से लौट जाऊँगा। प्रकाश से बार-बार कहा—'तू चला जा! मैं बूढ़ा आदमी काहे को इतनी लम्बी यात्रा करूँ।' पर आज-कल के लड़कों को तुम जानती हो। यों महीनों घूमता रहेगा पर मेरे कहने से एक बार प्रयाग न आ सकेगा। तुम लोगों की घबड़ाहट और चिन्ता का ख्याल था। किशोर वहाँ से कहीं और चला जाता तो तुम मुझे कभी क्षमा न करते। मैं किसी न किसी प्रकार उसे तुम्हारे घर पहुंचाकर अपने कर्तव्य से उऋण होना चाहता था। अब ऐसा करना कि कहीं जाने न पाये। आज-कल के लड़की-लड़कों से डर कर चलने में कल्याण है। आठ साल से प्रकाश की शादी के लिये भींख रहा हूँ पर नहीं करता। कहता है आजीवन अविवाहित रहूँगा—विवाह करूँगा ही नहीं। छोटे लड़के कहते हैं—जब तक बड़े भाई की शादी न होगी हम शादी न करेंगे। इतना बड़ा घर भाँय-भाँय किया करता है। आज-कल छुट्टियों में सब इधर-उधर घूमने चले गये हैं। हम दो प्राणी पड़े-पड़े भाग्य को रोया करते हैं। बहू आती—नाती-पोतों से घर भरता तो हमारी आत्मा ठंडी होती। मेरा कल जाना जरूरी है। प्रकाश की माँ बिल्कुल अकेली है। रुपये उठा ले बहू! तेरा मुँह देखने की क्या जल्दी है! जब घर में ब्याह कर आई है तब कभी न कभी देख लूँगा।'

दादा ने अपने जनेऊ में बँधी चाँदी की दंतखोदनी से दाँत खोदते हुए कहा—'प्रकाश की शादी अब कर लेनी चाहिये। उमर बढ़ रही है। बाद में मुश्किल पड़ सकती है। कारण कुछ बतलाता है! तीस-पैंतीस वर्ष का होने आया। अच्छी-खासी नौकरी है। कोई कमी नहीं। किताबों और रेडियो वगैरह से हज़ारों रुपये साल में कमाता है! चाल-चलन ठीक है न! तुम्हें कोई शिकायत तो नहीं मिली।'

'यही ग़नीमत है। कालेज के बीसों लड़के-लड़कियाँ दिन भर घर

घेरे रहते हैं। कभी-कभी मैं परेशान हो जाता हूँ, लेकिन क्या बोलूँ। नाराज़ होकर दूसरा बँगला ले ले और रहने लगे—यह भी सहन नहीं। सारा शहर उसकी तारीफ करता है—कालेज के प्रिन्सिपल और अन्य प्रोफेसर भी। किसी प्रकार का स्केण्डल वहाँ नहीं। उधर के लोग यहाँ वालों की तरह परछिद्रान्वेषण नहीं करते फिरते। प्रकाश कहता है—जिस दिन मन में दुर्बलता अनुभव करूँगा विवाह कर लूँगा। देखना चाहता हूँ कब तक अपनी रक्षा कर सकता हूँ।'

मैं बैठी-बैठी सब सुन रही थी। मेरी पीठ उनकी ओर थी—मुँह चौके की ओर! पतिदेव बाहर गये थे। मैं अपनी सास के साथ जब खाने बैठी तो बोली—'ये बड़े भले और अपनत्व मानने वाले हैं। कैसे तुम लोग इनकी और इनके लड़कों की इतनी निन्दा करते रहते हो। बेचारे उतनी दूर से तुम्हारे लड़के को यहाँ पहुँचाने आये हैं। तुम लोग कल उनके जाने के बाद फिर उनकी निन्दा शुरू कर दोगे। भगवान् को किसी की अकारण निन्दा और प्रपंच बुरा लगता है। दादा को दूसरों के लड़कों का वैभव और यश भाता नहीं। बेचारे अपनी हीनता में ही सदैव बँधे रहते हैं। पर तुम माँ की जाति की हो। तुम किसी के लड़के की अकारण निन्दा न किया करो.....'

प्रकाश के पिता में मुझे असाधारण सौकुमार्य और सुरुचि के दर्शन हुए। पुत्र के सारे संस्कारों का बीज मुझे उनमें दिखाई दिया। कोमल और सुन्दर ललाट पर प्रतिभा की रेखा शोभा पा रही थी। मुद्रा में, चाल-ढाल में सारे व्यक्तित्व में चारित्र्य और गाम्भीर्य का प्रवाह दीखता था जो वाचालता को सुघरता प्रदान करता था। प्रकाश के चेहरे जैसी सुसंस्कृत चंचलता उनमें न थी पर एक जीवन्त आलोक था जो उन्हें शक्तिशाली बताता था। भाव के आवेश में आकर वे बात करते-करते गद्गद् हो जाते थे। उनके हृदय की अव्यावहारिक निर्मलता फूट-फूट कर बाहर आने लगती थी। बड़ी-बड़ी श्वेत मूछों के

बीच से होकर आदर्शोपासना की चन्द्र-लेखा बीच-बीच में झलक जाती थी।

रात को मैंने पतिदेव से पूछा--'दादा ने कुछ कहा नहीं?'

पतिदेव ने उसी अर्ध-विकसित चतुरता का भाव प्रकट करते हुए कहा—'भैया से मैंने यहाँ कह दिया था। उन्होंने जब वायदा कर दिया कि दादा तुम्हें कुछ न कहने पायेंगे-मैं उनसे लौटते समय वचन ले लूँगा कि मेरे आने के बाद तुम्हें कुछ न कहेंगे तब वहाँ से चला हूँ। बेवकूफ़ नहीं हूँ।'

सचमुच उनकी बुद्धिमानी सराहनीय थी। पर जिसको उस दिन इस प्रकार भला-बुरा कह रहे थे और जिससे मिलने-जुलने और बात करने के लिये मुझे इस प्रकार प्रताड़ित कर रहे थे उसी के पिता के पास आत्मरक्षा की फरियाद लेकर जाना उनकी बुद्धिमानी का परिचायक था। दादा का यह विश्वास कि उनकी सन्तान संसार की सब सन्तानों से गई बीती है निराधार न था। दादा में जो एक अक्खड़पन—संघर्षों के बीच अपने उद्यमी व्यक्तित्व को लेकर उग आने का जातीय अभिमान था वह भी उनके लड़के से दूर था। मैंने पूछा—'प्रकाश तुम्हें लेकर आने वाले थे। वे क्यों न आये? क्या तुम अकेले न आ सकते थे? व्यर्थ में.....।'

पतिदेव ने कहा—'प्रकाश की तुम्हें बड़ी फिक्र रहती है। वह आता तो तुम खुश होती—क्यों न? मेरी फिक्र काहे को रही होगी?'

मैंने कहा—'यों ही पूछा। दादाजी (सास की आज्ञानुसार प्रकाश के पिता को भी मैंने दादाजी कहना शुरू कर दिया था) की चिट्ठी पहले इसी तरह की आई थी। अपने आने की बात उन्होंने लिखी न थी। आपको अब उन लोगों के प्रति बुरी भावना मन में न लानी चाहिये। आप लोगों के हितचिन्तक न होते तो क्यों साथ में लेकर यहाँ दौड़े आते। मेरे चाहने की बात क्या? मैं जरूर चाहती थी वे यहाँ आपके साथ आते। आपसे मैं बयान नहीं कर सकती, उन्हें देखकर—उनके

पास बैठकर मुझे कितनी खुशी होती है। मुझे उन पर अखंड श्रद्धा है.....कहते-कहते मुझे लगा जैसे दिल की सूनी अँधियारी कोठरी के पर्दे को उठाता हुआ कोई सिर लटकाये बाहर निकला और ऊपर सितारों के घने आँचल की ओट ओझल हो गया। सहसा पति ने मेरी बाहों में बाहें डाल दीं। मैं अलग जाकर मुन्डेर के पास खड़ी हो गई। नीचे मंजिल की छत पर सब लोग थे। दोनों में बातें चल रहीं थी। गाँव और रिश्तेदारों की चर्चा थी। मेरी सास को इन बातों में दिलचस्पी थी। वे पास जमीन पर बैठी सब सुन रही थीं।

पतिदेव का यह हाल था कि मुझे देखते ही उनका तन और मन शारीरिक बुभुक्षाओं का घर बन जाता था। पुरुष की कामुकता की बातें इधर-उधर किताबों में पढ़ीं थी पर पता न था—उसके आततायीपन में आजीवन मुझे पिसना होगा। ऐसे पशु-प्रवृत्ति वाले पति की पालतू पत्नि का अभिनय मुझे करना होगा। उनके पास रहने की कल्पना मुझे पतित बनाने लगती थी। इतने बड़े हो जाने पर भी उन्हें पत्नी के मनोभावों की कोमलता का कभी कोई ध्यान न आता था। उठते-बैठते वे मुझे काम-वासना चरितार्थ करने की मशीन बना देना चाहते थे। मैं यह भी जानती थी वे कितने 'टिमिड' और 'बुली' टाइप के हैं। मेरे पीछे आकर फिर एक पाशव ऊत्तेजना लिये खड़े हो गये। मैं सामने दूर तक फैली छात की कतारें देख रही थी जहाँ की शान्ति और सुख का ओर-छोर न था। जहाँ सौख्य, सुभावना, सुकुमारता और सहवास की आनन्ददायिनी लहरें उठ रही थीं। कहीं रेडिओ बज रहा था, कहीं ग्रामोफोन। कहीं बच्चे बैठे खेल रहे थे और कहीं पति-पत्नी आनन्द से दिन भर के कार्य-भार से थक निशीथ की नीरवता का सुख लूट रहे थे। मैंने पीछे मुड़ कर कहा—'आप मेरा कहना न सुनेंगे तो मैं कल दादा से कह कर कमरे के अन्दर अपनी चारपाई ले जाऊँगी। मुझे क्या आपने भोग की गुड़िया समझ रक्खा है कि जब मन में आया पीट

चले। यह सब नहीं होने का। मैं इन बातों से दूर रहना चाहती हूँ। मुझे यह सब बेमानी लगता है।'

पति के लिये अपनी वासना का बाँध रोकना असम्भव था। मेरे लिये इस प्रकार के आत्म-समर्पण दुःखद और भयकारी थे। मैं चुपचाप नीचे उतर आई और कमरे में जाकर जमीन पर लेट गई। पतिदेव की हिम्मत नीचे सबके सामने से होकर मेरे पास आने की न हुई। पड़े-पड़े पछताते रहे होंगे। क्यों न तत्काल बलात्कार कर काबू में कर लिया। सब लोग बात-चीत में लगे थे। मुझे किसी ने देखा भी नहीं। मैंने चुपचाप भीतर से सिटकनी चढ़ा ली। खिड़कियाँ खोल कर रात भर गर्मी के कारण आधी नींद सोती आधी नींद जागती रही। न जाने कैसी भर्त्सना की चमक मेरे कन्धों से चलकर बाहों और पीठ को कँपाती हुई पैरों तक चली जाती थी। मैंने तयकर लिया मैं कमरे में सोऊँगी—भले मुझे पूरी रात पंखे झलकर काटनी पड़े। तब रोज-रोज के अनाचार से जान छूटेगी।

दूसरे दिन दादा जी चले गये। जाते-जाते वे मेरे ससुर को पति के साथ धीरज और विवेक से काम लेने का निर्देश दे गये। पति को अलग बुलाकर बहुत समझाते-बुझाते रहे और हर प्रकार दादा को संतुष्ट रखने का आग्रह करते गये। उनके जाने के बाद दो-चार दिन शान्ति रही। मैं देखती थी, पिता-पुत्र की मूक पारस्परिक उदासीनता में घृणा की लपट और विकराल होती जाती थी। कभी-कभी यदि पतिदेव दादा के सामने पड़ जाते थे तो उनके चेहरे पर अकारण कर्कशता फूट पड़ती थी। यह उबाल कब तक भीतर दबा रहता? इस बीच एक और बात हो रही थी? दादा मेरे पति से बिलकुल बोलते न थे। मेरे पति उनसे बोलना चाहते थे पर हिम्मत न पड़ती थी। बेचारे मन ही मन सकुच कर रह जाते थे। कहीं दादा बरस न पड़े। पन्द्रह-बीस दिन बीतते-बीतते गाँव में बिरादरी से एक लड़के के जनेऊ का निमंत्रण आ गया। दादा मुझे गाँव के असभ्य वातावरण में न ले जाना चाहते

थे। घर पर एक न एक व्यक्ति का रहना जरूरी था। रेहन रखने वालों का पचीसों हजार का जेवर पड़ा था। साथ ही निमन्त्रण में किसी न किसी का जाना जरूरी था। अन्त में मेरी साँस को लेकर पतिदेव चले गये। मैं निश्चिन्तता की सांस छोड़ कर घर पर अकेली रह गई। मन ही मन डर रही थी कहीं दादा का मत न बदल जाय और पतिदेव के साथ मुझे न भेजने लगें! मैं उस दशा में साफ इन्कार कर देती। पति के साथ यात्रा करने की अपेक्षा इन्कारी की बेशर्मी मुझे पसन्द थी। इस बीच एक नई घटना हो गई। दादा के पैर में कहीं मामूली सी चोट लग गई जो लापरवाही से बढ़ गई। धीरे-धीरे उसका जख्म बढ़ गया। एक दिन जब डाक्टर ने आकर उसे 'कारबंकिल-डिक्लेयर' किया और दूसरे दिन पेशाब की जाँच कर दादा को गहरी 'डायबेटीज' से ग्रस्त पाया गया तो चिन्ता बढ़ गई। दादा अपने जीवन से भी निराश होने लगे। मैं उन्हें बराबर समझाती-बुझाती और उनके पास बैठकर उन्हें रामायण, महाभारत, गीता सुनाती रहती। गाँव खबर भेज दी गई थी। मेरी सास लड़के के साथ चौथे दिन आ गई। दादा की दशा खतरे से बाहर न थी और बराबर उन्हें 'इन्जेक्शन' लग रहे थे। पतिदेव भी आकर उनकी सेवा-सुश्रूषा में लग गये। परिवार का ध्यान चारों ओर से सिमट कर उन पर केंद्रित हो गया।

लगभग एक सप्ताह दादा की खतरे की अवस्था रही। अब वे धीरे-धीरे खतरे से बाहर हो रहे थे। जख्म धीरे-धीरे भर रहा था। पर इतने ही बीच में वे कृशकाय रह गये थे और सूख कर काँटा जैसे निकल आये थे। मृत्यु की निदारुण यातना और भविष्य की काली, कुरूप चिन्तना ने उन्हें इस बिमारी की दशा में, जीवित ही कुम्भीपाक में पकाया था। भयंकर चिड़चिड़ापन और स्वार्थपरता उनमें आ गई थी। मेरी ओर से उनकी विरक्ति और घृणा का पारावार न था। जो कोई उनके पास आता उससे मेरा रोना रोते। 'जब से यह कुलच्छनी बहू

आई तब से एक दिन शान्ति न मिली। इसके आते ही दो-दो बार लड़का 'फर्स्टइयर' में फेल हुआ। हजारों रुपयों का कर्ज और सूद का सैकड़ों रुपया डूब गया अब 'कारबंकिल' हुआ है। बीच में लड़का घर से भाग गया सो अलग। भगवान ही रक्षा करें। यह आपत्ति कटे तो आगे का उपाय सोचें।' मैं भीतर कमरे में बैठी सब सुना करती और अपने भाग्य को कोसती। आजकल पुत्र के ऊपर वे आंशिक रूप से संतुष्ट थे। सारे दोषों की जड़ और दुर्भाग्य का कारण मैं समझी जाती थी। मुझे इस सबकी चिन्ता न थी। इसी समय दूसरा और कदाचित् जीवन का सबसे बड़ा आघात लगा। मुझे गर्भ के लक्षण जान पड़ने लगे। मैं कैसे इसे प्रकट करूँ या कैसे इतने बड़े दंश को भीतर भीतर सहती रहूँ—समझ न पाती थी। भगवान ने मेरे किस अपराध का दण्ड दिया। विवाह को अभी एक साल से कुछ ऊपर हुआ था। यह कहाँ का अभिशाप मेरे सिर पर टूट पड़ा! संसार में बालिकायें ऐसे अवसरों पर प्रतिक्षण असंख्य गुने हो होकर बढ़ने वाले सुख से भर जाती हैं। अपने सौभाग्य पर फूली नहीं समातीं—इतराती घूमती हैं। मैं अभागिन यह आग अपने भीतर छिपाये तिल-तिल कर भस्म हो रही थी। कैसे यह अनाहूत अँगार मेरे भीतर आ गया! कभी कभी अपने अधोभाग को कुल्हाड़ी से टुकड़े-टुकड़े कर फेंक देने की इच्छा होती थी और मेरा जी भयानक वेग से मिचला उठता था। मेरी देह का एक-एक तार अस्त-व्यस्त होकर बिखर जाता। न जाने कहाँ-कहाँ की बौखलाहट भरी बातें सोचने लगती। मुझे मालूम पड़ता—मेरे पेट के रन्ध्र-रन्ध्र से धुएँ के लच्छे निकल रहे हैं। जंगली दरिन्दे की तरह हूँ हूँ हूँ करती कोई चीज मेरी कोख में हलचल कर रही है।

———

****

:७:

शाम को पाँच बजे होंगे। दादा बैठकखाने में पड़े रहते थे। उन्हें देखने दिन भर लोग आते-जाते रहते थे। मेरे कारण यह भीतर के कमरे में न हो सकता था। मैं बगल के कमरे में बैठी 'क्रोशिया' बिन रही थी। एक पूर्व परिचित और स्थिर, अपलक स्तब्ध सुख में लहरा देने वाली कंठ-ध्वनि सुनकर चौंक पड़ी। किवाड़ों की सींक से झाँक कर देखा—प्रकाश थे। पर कैसे आये वे और क्यों? दादा के पैर छूकर कुर्सी पर बैठ गये। दादा ने आशीर्वाद देते हुए अपने की गाथा सुनानी आरम्भ की। उन्होंने बताया—'देहली रांडिओ पर 'टॉक' देकर लौट रहे थे। यहाँ दो दिन से ठहरे हुए थे। कल शाम को चौक में किशोर से भेंट हुई और आपकी इस बीमारी का पता चला। आप बिल्कुल दुबले हो गये हैं। मैं बाहर देखता तो पहचान न पाता।'

दादा ने कहा—'अब पहले से अच्छा हूँ। प्राणों की आशा न रह गई थी। जब से किशोरी की शादी हुई तब से मेरी शान्ति जाती रही। ऐसी कुलच्छनी बहू आई है.....'

प्रकाश ने फौरन बात काट कर कहा—'यह व्यर्थ की बात आप कर रहे हैं। मैं उसे जानता हूँ। बहुत अच्छी और भाग्यवती लकड़ी है। यह संयोग की बातें हैं दुर्भाग्य भी मैं इसे न मानूँगा। आप उसे कुछ न कहें।'

दादा एक अनभ्यस्त विस्मय में डूबे चुप पड़े रहे। मैं गर्व और गौरव से फूल उठी। संसार में चांद भैया के बाद कोई और है जो मेरी निन्दा और अवमानना नहीं सहन कर सकता। भूल गई मैं आने वाले संताप को--दादा के भीतर का विद्रूप कितना भयानक विस्फोट करेगा! दादा ने कहा—'तुम पिछली बार लखनऊ में जब उससे मिले थे तब मैं वहाँ था। मुझे बड़ा बुरा लगा था यह जान कर कि तुम जान-बूझ कर मुझसे बिना मिले लौट गये--विशेष कर जब तुम्हें यह मालूम हो गया था--उसी के द्वारा कि मैं वहाँ हूँ। एक मसल है--चोर नहीं पर चोर जैसी बातें। तुम्हारा यह व्यवहार मुझे वैसा ही लगा था।.... तुम्हें यह न करना था।

मेरे गोपन अन्तःपुर में उस दिन की याद जाग उठी। किवाड़े की सन्धियों से मैं सांस रोके देख रही थी। वे कुछ बोलते न थे। शायद कटु सत्य वे जबान पर न लाना चाहते थे। वे केवल मनुष्यत्व और सांसारिकता के कारण दादा की ऐसी कड़ी बीमारी का समाचार सुनकर उन्हें देखने आये थे। किसी प्रकार का आरोप प्रतिरोप करने और कोई अप्रिय चर्चा छेड़ने की उनकी इच्छा न थी। दादा को उनका चुप रहना बदमाशी और अपराध की स्वीकृति जान पड़ी। मैं भीतर से देख रही थी उनके चेहरे पर कैसी भीगी वेदना सिमटी पड़ी है। जिस प्रसंग से बचने के लिये यह यहाँ आते समय प्रार्थना करते रहे होंगे वह इतनी जल्द--बैठते ही इस रूप में शुरू हो जायगा यह उन्होंने स्वप्न में न सोचा था। मैं बैठी देख रही थी--एक व्यापक उत्तेजना उनकी नसों में भर-भर आती थी पर वैसी ही ज्यों की त्यों सूख जाती थी। दादा ने कहा--'तुम उसे जानते हो—वह बड़ी अच्छी लड़की है यह मैंने

सुन लिया। पर मेरी बातें तो पूरी सुन लेते। मैं इस बार मरते-मरते बचा हूँ। जब से यह आयी है मेरी अशान्ति और चिन्ता का ओर छोर नहीं! मैं किशोर का यह विवाह अब पछता रहा हूँ। टीकमगढ़ से एक शादी आई थी। पाँच हजार रुपये वे लोग केवल फलदान में दे रहे थे पर मैंने न किया। सोचा ग़रीब घर की लड़की है तो पढ़ी-लिखी सदाचारिणी, सुशील और पुन्यवती होगी। शादी में मिले रुपये से क्या किसी का गुज़ारा होता है। लेकिन इसके मिजाज़ रानियों महारानियों से बढ़ कर हैं। न किशोर को कुछ समझती है न मुझे। जिस बात के लिये मना किया जाता है वही करती है और शेखी दिखाती है…,

उन्होंने कहा—'आप कोई और बात करें। क्यों उसकी निन्दा तब से कर रहे है। आपको पता नहीं। वह मेरे बड़े प्यारे दोस्त की मुँहबोला बहन है। मुझे उस पर उतनी श्रद्धा है जितनी सगी बहन पर होती है। यहाँ के सम्बन्ध से भी वह मेरी काकी लगती है। आप बराबर उसकी बातें कर रहे हैं। एक निवेदन मुझे करना है। चाँद मुझे जाते-जाते उसे सौंप गया है। आप मेरे दादा हैं। आप से मेरा कुछ भी कहना अनुचित न होगा। उसे अधिक से अधिक सुखी बनाने का यत्न करें। भावुक और तीव्र बुद्धिवाली लड़की है। चाँद के साथ-साथ लिखते-पढ़ते वह इतनी होशियार और ज्ञानवती हो गई है कि ग्रेजुएट लड़कियाँ को पढ़ा सकती हैं। किशोर मूर्ख है पर आप इस 'मणि' का मूल्य सहज ही जान सकते हैं। उसे उसे किसी प्रकार की ठेस न लगने दे। उठते-बैठते हर व्यक्ति से उसकी निन्दा और कलंक कहते होगे उसे छोड़ दें। वह सुनती होगी—उसे पीड़ा पहुँचती होगी।'

छः सात महीने बाद उन्हें देख रही थी। उनके चेहरे पर एक एक नवप्रभा—एक नया आकर्षण लहरा रहा था। मैं उन्हें निकट से देख चुकी थी और उनसे घण्टों बहस कर उस समय उनके प्रति विरक्त हो उठी थी। पर उनकी महानता से परिचित थी। जानती थी उनकी

व्यक्तित्व में कौन-सी दैवी मोहनी है जो मुझे नीम के नये बौर की सुगन्धि जैसी बेहोश और बेहवास बना देती है। मैं मानवता का अपवाद बन जाती हूँ—झंकारहीन पाषाणी जैसी निस्पन्द और कंपनशून्य! मैं दीवार की आड़ से लगी किवाड़े की सांसो से उन्हें देख रही सी पर जी न भरने आता था। एक कोने में सिमटी स्तब्ध अधीरता और अतृप्ति की सजीव मूर्ति बनी बैठी थी। दादा ने उनकी बात को सुनकर कहा—'इस सम्बन्ध में तुम्हारा कुछ कहना अनाधिकार चेष्टा है प्रकाश! वह मेरी पुत्रवधू है। मैं उसके प्रति अपना कर्तव्य जानता हूँ। तुमसे मुझे कुछ सीखने की शेष नहीं। दफ्तर में मेरे नीचे तुम्हारे जैसे पचीसों लौण्डे काम किया करते थे। तुम आज बड़े आदमी हो गये हो! मेरी प्राइवेट बातों में दखल देने का तुम्हें अधिकार नहीं। मैं नहीं जानता वह बदमाश चाँद कौन है जो तुम्हें यह काम सौंप गया है। इस नाम का एक कालेजी छोकरा शुक्लजी के यहाँ आया करता था। पर बात यहाँ तक बढ़ गई है यह मुझे न मालूम था। मुझे पता न था तुम उसका पक्ष लेकर मुझसे बहस करोगे—लड़ोगे और बाद में उपदेश देने लगोगे। चाँद पक्का पाजी है—एक नम्बर.....'

'मुझे कल ही संवाद मिला है कि लन्दन में उनकी मृत्यु हो गई है—एक मोटर एक्सीडेन्ट में। यह समाचार मैं मंजु को सुनाना चाहता था। कल मुझे उसके बड़े भाई का तार मिला है। आप उसे दूसरा आघात न कहें वर्ना मैं एक मिनट न रुकूँगा।'

मेरे सिर पर गाज गिर पड़ी। इतना बड़ा दर्द छाती में भरे ये इतने गंभीर बैठे हैं। मैं सब कुछ भूल कर पागल हो उठी। बीच का खुला दरवाजा झट से खोल कर सामने आ खड़ी हो गई। दादा हकबका कर उठ बैठे। मेरी मुखमुद्रा देखकर वे हैरत में आगये। प्रकाश ने दोनों हाथ जोड़ कर नमस्ते किया।.....मैंने उन्मादग्रस्त स्वर में पूछा—'चाँद भैया! चाँद भैया!! उन्हें क्या हुआ है? आप अभी दादा से क्या कह रहे थे.....बोलिये.....जल्दी बोलिये?'

उन्होंने जेब से तार निकाल कर मेरे सामने फेंक दिया। शोक-विह्वल, करुण, कातर दृष्टि से मेरी ओर देखने लगे.....तार बड़े भैया का था। चाँद भैया--मेर चाँद भैया.....मैं दहाड़ मार कर रो उठी.....वहीं खड़ी-खड़ी कुछ मिनटों के बाद पछाड़ खाकर गिर पड़ी यह क्या हो गया--कैसे हो गया.....कितनी सहजता से हो गया..... बाद में जब होश आया तब मैं अपने कमरे में चारपाई पर अकेली पड़ी थी। प्रकाश जा चुके थे पर मैं कहाँ जाता ? मुझे कहाँ ठिकाना था ? रात में मैं बराबर फूट-फूट कर.....धाड़ मार-मार कर रोती रही। मेरी सास ने तरह-तरह से धीरज दिया। पतिदेव दो-एक बार पास आये पर मेरी उन्मादग्रस्त दशा को देखकर अधिक समझा न सके। रात के बारह बजे के लगभग मेरे कान में दादा की आवाज पड़ी। वे सास से कह रहे थे—'जाकर उस कुलच्छिनी से कह दो—रो-रो कर मेरी जान का अमंगल न करे। भगवान की कृपा से मैं बच गया हूँ, मेरा नया जन्म हुआ है—इस प्रकार अगर रोयेगी और विलाप करेगी तो यह मेरा अशुभ चेतना होगा। इससे मेरा अकल्याण होगा। जाओ उससे कह दो—शोक-सभा अब बरखास्त करे और चुपचाप सोये। दुनिया ऐसे ही रोती-धोती रहती है। जिसको जाना है वह चला जाता है। कौन सगा था—अपनी जात बिरादरी, कुटुम्ब-कबीले का भी न था। यह सब लगा रहता है। अगर मेरी मृत्यु मनाती हो और सर्वनाश चाहती हो तो बात दूसरी है। मैं जानता हूँ उसे गैरों की जितनी परवाह है उतनी घर के आदमियों की नहीं। उनके साथ मजे उड़ाती रही है.....लेकिन अब कुछ न हो सकेगा।'

मैंने किसी भाँति भैया की स्मृति को हाथ जोड़ कर अधूरा प्रणाम करते हुए कहा—तुम इनकी कुत्सित बातें सुन रहे हो तो कानों में उंगली लगा लेना। 'मुझे लगता था जैसे मेरा कंठ-स्वर किसी दूसरे लोक से आ रहा.....मुझे स्वयं उसे सुनकर डर मालूम हो रहा है। हाँ! डर ही तो है.....जैसा बालक को किसी विच्छिन्न का

प्रलाप सुनकर होता है····जैसा बिल्ली के मुँह में दबे और कड़कड़ होते हुए अस्थिखंड को देखकर बिल के भीतर से झाँकते हुए छोटे चंचल चूहे को होता है। हे मेरे भगवान! हे मेरे स्वामी! मेरे देवता—मेरे महादेवता! किन पापों का दण्ड तुमने मेरे ऊपर डाल दिया। मेरे भैया! मेरे--केवल मेरे! किसी के नहीं वरन् मेरे·····उठते बैठते, चलते-फिरते, सोते-जागते.....दिन, दोपहर, रात, साँझ, सवेरे जो मेरे ही होकर रहे और चले गये.....मेरे ही होकर एक युग तक जला किये..... दूर बड़ी दूर जाकर बुझ गये। जिस काल के गर्भ से इतना विस्फोट होने वाला था—शाम को इतना भयानक गोला जिसके तलातल से इस विदारक गति से फूटने वाला था वह ऊपर से देखने में कितना शान्त था! और प्रकाश! उनके मुख पर विवश भावों की जो चमक थी उसके भीतर एक इंगित पर बड़े-बड़े अंगार बरसाने की विदारक क्षमता है, यह मैं केवल दरवाजे का सन्धियों से देखकर कैसे जानती!! मैं कैसे शान्त रहूँ! दादा नहीं चाहते मैं जार से रोऊँ!! मैं कोशिश करूँगी मैं इस दारुण जगद्दहन में शान्त रहूँ.....गले पर धीरे-धीरे यह आरी चलने दूँ। पर भीतर के दबे आवेगों को उबल कर फूटने से कैसे रोकूँगी? मेरे अहंकार और इस शरवेधक वेदना के द्वन्द्व का अन्त कहाँ जाकर होगा! मैं रात भर रोती रही। दादा की बात के बाद यह यत्न करती रही कि मेरी आहें मेरे गले में घुल जायें। सुबकते-सुबकते जब गला बिलकुल बेवश हो जाता था तब मेरे चीत्कार बाहर निकल एक घुमड़न बन उस कमरे में फैल जाते थे। सुबह सूजी-सूजी लाल आँखों के भीतर से फटी पड़ रही मेरी प्रमत्तता को देखकर सास ने मुझे छाती से लगा लिया और बोली—'रो मत बहू! जो चला गया वह क्या रोने से कभी वापस मिला है। आज उसकी माँ पर क्या बीतती होगी? भगवान से विनती कर कि उसकी आत्मा को शान्ति दें।'

'भगवान पर उनका दृढ़ विश्वास था माँ!'—मैंने सास के आँचल में अपना फफकता मुँह ढाँप कर कहा—जाने के पहले मुझसे कह गये थे—

'कभी भगवान् के ऊपर एक क्षण के लिए अपनी आस्था डुलने न देना। वे भगवान् की शान्तिदायिनी मंगलमयी गोद में गये होंगे। मैं पापिनी कौन मुँह लेकर भगवान् के आगे उनकी आत्मा की शान्ति की भिक्षा माँगू ? किस मुँह से भगवान् के आगे जाऊँ ?'

सास ने कहा—'कोई उपाय नहीं बहू ! जिस भगवान् ने तुम्हें ऐसा भाई दिया था उसी ने वापस ले लिया। उसके आगे कभी किसी की चली है ? रोने और दुःख करने से तो हाथ न आयगा। तुम्हारे दादा की तबियत खराब है। तुम्हारे रोने-धोने और दुःख करने से उन्हें दुख होता है। अभी उनमें कितनी कमजोरी है तुम जानती हो। इसलिये धीरज धरो·····अपनी तबियत को संभालो। दादा के कहने का तुम बुरा न मानना। बीमारी ने उन्हें बिल्कुल चिड़चिड़ा बना दिया है। पर होगा—ये दिन भी बीत जायंगे। जब तेरा उसके ऊपर इतना प्रेम और भ्रातृत्व है तो वह जरूर तुझे अगले जन्म में मिलेगा।'—कहती-कहती माँ आँसू पोंछती उठकर दादा के कमरे में चली गई।

दादा कह रहे थे—'आखिर कौन है उसका जिसके लिए इतना रोती है ! रात भर क्रन्दन करती रही—मेरी नींद हराम हो गई। मुहल्ले के लोग सुनेंगे तो क्या कहेंगे ? यह बड़ी बदनामी की बात है। एक भले घर की बहू पर-पुरुष के लिए इतना दुःख मनावे। मुझे कुछ दाल में काला मालूम पड़ता है। साला किशोर किसी लायक न निकला। अपनी औरत को भी काबू में नहीं रख पाता।'

मेरी सास ने कुछ उत्तर न दिया। भैया की माँ के दुःख की कल्पना से उनका मन इतना भरा-भरा था कि वे चुपचाप कमरे में झाड़ू लगाती रहीं। भीतर मैं सिसक रही थी। जमीन पर पड़ी-पड़ी रह-रह कर इधर-उधर करवट बदलती थी। अब भी रोते-रोते आँखें फाड़ डालने की इच्छा हो रही थी। बराबर यह प्रेरणा होती थी—क्यों न मैं अपने झूठे और पापी जीवन का अन्त कर डालूँ ? क्यों न इस सारे उत्तेजन, कर्षण, तनाव और खिचाव को—शरीर का पोर-पोर क्रन्दन कर देने

वाले दुःख के आवेग को उस परम शमन में डुबो दूँ ? क्या मुझमें इतना साहस है ? क्या मैं अपने प्राण नष्ट कर सकती हूँ ? नहीं है तो मुझे इतना रोने और हाहाकार करने का अधिकार क्या ? जो सदैव के लिए पहले ही छूट गया था, उसका प्यार, केवल वेदना है—ममन्तुद और स्याही के तीखे काँटे की तरह छाती में गड़ी वेदना·····केवल वेदना·····वेदना को कभी मुखरित होने का अधिकार नहीं। उसे केवल चुप रहना चाहिये। उसे केवल अपने भीतर अपने को समाहित रखना चाहिये। मैं क्यो यह शोक-प्रदर्शन करती हूँ और बार-बार सास-ससुर के समझाने पर नहीं मानती ? मेरे इस वैकल्य और खण्डन की—आत्मदाह और आत्महिंसा की सार्थकता कहाँ रही ? कहाँ रह गई मेरी वह चुनौतीभरी ललकार जिसे मैं उठते-बैठते अपने को सुनाया करती थी ? वह भी विडम्बना थी ! लगातार बहलानेवाली और अवसर आने पर खीस निकालकर अलग हो जानेवाली गहरी विडम्बना, जो न छोड़ी जाती है—न स्वीकार की जाती है। जिनमें लौ होती है—धुआँ भी होता है। पर वस्तुतः है वह विडम्बना ही·····एक छलने वाली रंगीन छाया से अधिक कुछ नहीं !

शाम को मैं अपने कमरे में विषण्ण भाव से पड़ी ऊपर छतकी भीत पर लगे गौरैया के घोंसले के तिनके देख रही थी। दादा अब उठने-बैठने लगे थे। कभी-कभी बाहर जाकर डाक्टर के यहाँ तक हो आते थे। पतिदेव उनके साथ गये थे। मेरी सास घर का काम कर रही थीं। मैं उठने की इच्छा करते हुए उठ न पा रही थी। मैंने सुना—कोई आकर दादा के कमरे में बैठ गया। मुझे आज प्रकाश के आने की आशा थी। कल वे मुझे मूर्छित अवस्था में छोड़ गये थे। आज उनके मन में मेरी दशा जानने की अधीर उत्सुकता अवश्य होगी। यद्यपि इस घर में आना उन्हें बिल्कुल नहीं भाता पर मेरे लिये वे आयेंगे। चाँद भैया का ख्याल—उनके अन्तिम शब्दों का कैसा ज्वलन्त महत्व उनके निकट होगा, क्या मैं जानती नहीं ? सँभल कर

उठ बैठी। अस्त-व्यस्त जैकेट को ठीक कर, माथे पर वस्त्र डाल जब दादा के कमरे में आई तो देखा वही थे। मुझे देखते ही नमस्ते करते हुए उठ खड़े हो गये। मैं उनसे कुर्सी पर बैठने का संकेत करते हुए देहरी पर बैठ गई और फटी आँखों से उनका मुँह देखने लगी। मेरी एक-एक साँस क्रन्दन कर रही थी। वे क्या मेरी उन्मादक पीड़ा को जानते न थे! क्या उन्हें पता न था, चाँद भैया मेरे लिए कितने बड़े थे—कैसे उनकी छाँह में विलीयमान होकर मेरी आत्मा घुली-घुली फिरती थी। बोले—'तुम्हारा जी अच्छा है न! कल तुम्हें जिस दशा में छोड़ कर गया था वह सारी रात मुझे अशान्त किये रही। दादा भीतर हैं? किशोर भी नहीं दिखते।'

'डाक्टर साहब बगल में रहते हैं। उनके यहाँ तक गये हैं। आप आ गये, इस अनुग्रह को मैं भूल नहीं सकती। कल दादा ने बाद में तो आप को कुछ नहीं कहा? मुझे जब होश आया तब आप जा चुके थे।'

'मैंने उनको समझाने की चेष्टा की। चाँद के निधन का समाचार सुनकर तुम्हारा इस प्रकार विकल और पागल होना कितना स्वाभाविक है—कैसे छुटपन से वह तुम्हें स्नेह करता रहा है और तुम्हारे निर्माण का श्रेय उसे ही है—यह सब मैंने बता दिया। पर दादा को चाँद से क्या लेना-देना है? वह न जाने कहाँ चला गया! उन्हें चिढ़ तो मुझसे है। मैं यहाँ आऊँ और तुमसे मिलूँ—बात करूँ, यह वे नहीं सह सकते। न जाने मुझमें कौन-सा ऐब है जो उन्हें मुझसे ऐसी उत्कट घृणा है। तुम भीतर जाओ। मैं कल सुबह जा रहा हूँ। अपने दिल को सँभालो। जो हो गया उसे सहन करो। जिस ईश्वर को उठते-बैठते पुकारती हो वह तुम्हें इस महान् दुःख को झेल ले जाने का बल देगा। मुझे तुम्हारी फ़िक्र बनी रहेगी—तुम्हारे ऊपर ध्यान लगा रहेगा—दादा के व्यवहार कैसे होंगे—कैसे तुम उनकी अभद्र बातों को सुना करेगी। लखनऊ जाना चाहो तो पिताजी को लिख दो। वहाँ जाकर रहने से मन बहलेगा।'

'जाना क्यों न चाहूँगी। इस समय वहाँ जो हाहाकार मचा होगा

उसमें अपने प्राण का स्वर मिलाना चाहती हूँ। अकेले मुझे जाना न मिलेगा। दादा यह कभी देख नहीं सकते।'

'किशोर के साथ चली जाओ। वह तुम्हें पहुँचाकर लौट आयगा। चल मैं भी सकता था पर.....जाने दो। जैसा ठीक जान पड़े करना।'

'क्या आप लखनऊ जा रहे हैं? आपको जाना चाहिये।'

'मेरी इच्छा नहीं होती मंजु! अभी महीने दो महीने जान बूझकर वहाँ न जाऊँगा। मेरा दिल वहाँ की सुधि आते ही डूबने उतराने लगता है। पर जाऊँगा जरूर। जहाँ हृदय का भार हल्का हुआ—जा पहुँचूँगा। मेरे लिए अब लखनऊ का आकर्षण जाता रहा! यों भाई हैं, भाभियाँ हैं—स्नेहभरी माँ हैं, पर अब सबके प्रेम से वंचित कर लूँगा अपने को। जानता हूँ जहाँ अपना कोई वश नहीं वहाँ मोह करना गलती है। पर दिल नहीं मानता। चाँद के साथ मेरा क्या-क्या नहीं चला गया?'

जैसे बिजली के धक्के से मेरा सारा निस्पन्द शरीर सिहर उठा। चाँद भैया की याद ऐसी ही धमक लेकर आती है। मैंने कहा—'फिर.....फिर आप कब यहाँ आयेंगे? एक मेरा काम न कर दें। यहाँ से लखनऊ चले जायँ और मेरे घर पर जाकर माता-पिता से यहाँ से मुझे ले जाने को कह दें। मैं स्वयं लिख भी पाऊँगी? शायद नहीं। आप मेरी स्थिति बता देंगे। वे आ जायेंगे तो संभव है दादा को कुछ दया आ जाय और वे मुझे भेज दें। मैं बड़ी माँ के पास जल्द से जल्द—उड़कर पहुँचना चाहती हूँ। प्राण में छिपा कोई कहता है—तू जल्द जा वहाँ। तुझे देखकर उस पुत्रगता माँ को शान्ति मिलेगी। मैं इस आवाज की अवहेलना नहीं कर सकती। मुझे जाना चाहिये। चलती.....आपके साथ चल सकती हूँ। पर जाने दीजिये। अभी वह समय नहीं आया। आप भूलियेगा नहीं। आपके वहाँ पहुँचने के दूसरे दिन पिताजी को चल देना चाहिये। एक-एक लमहा यहाँ मुझे खाये जा रहा है। चाँद

भैया की मृत्यु की यह यन्त्रणा उन्हीं के घर जाकर शान्त होगी.....आप इतना कर देंगे ?'

'क्यों न कर दूँगा ?' उन्होंने संभ्रमभरी दृष्टि से मुझे देखकर कहा—'वहाँ जब जाऊँगा—तुम्हारे पिताजी से मिलने, तो एक-दो दिन चाँद के यहाँ भी रह जाऊँगा। इस मामले में मेरी बात तुमसे उल्टी है। मैं ज्यों-ज्यों लखनऊ के निकट पहुँचूँगा—त्यों-त्यों मेरी यातना फैलेगी .....तुम वहाँ जाकर शान्ति पाओगी.....मैं अधिकाधिक विद्ध होऊँगा.....'

'यह नर और नारी का अन्तर है.....मेरा आपका यहाँ प्रश्न नहीं।'

मेरी सास घूम कर उस कमरे में आ गईं। प्रकाश को देखकर वे पास बैठ गईं। प्रकाश ने उठकर उनके चरण स्पर्श किये। मैं चुपचाप सिर झुकाये बैठी थी। लोग ऊपर शून्य की ओर टकटकी लगाकर जीवन भर देखते जाते हैं—मुझे क्या ऐसे ही भूमि की ओर देखते रहना होगा। आकाश की शून्यता में आशा का आहत उन्माद तो है पर भूमि की जड़ स्थिरता में—भयावह एकरूपता में निराशा है.....केवल निराशा .....खाक में मिल जाने की उजड़ी-उजड़ी निराशा! मेरी सास को चूल्हे की चिन्ता थी। दस-पाँच बातें कर चली गईं पर मैं बैठी-बैठी अवाक् और हतबुद्धि हो रही थी। प्रकाश ने कहा—'मैं चलूँ या दादा से मिल लूँ ? वर्ना लखनऊ में केवल चोरकी-सी बात थी.....यहाँ सचमुच चोर समझ लिया जाऊँगा।' मैंने कठोर स्वर से कहा—'चाहो उनसे मिल लो पर अब जल्द इसका फैसला हो जायगा। मैं जिससे चाहूँगी मिलूँगी—बोलूँगी.....अपने घर बुलाऊँगी। कोई मुझे रोक नहीं सकता। इस घर पर मेरा भी अधिकार है। खरीद कर या मंगा कर नहीं लाई गई हूँ। आज यदि दादा ने कुछ कहा—मेरे ऊपर कोई प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष आक्षेप किया तो मैं मुँहतोड़ उत्तर दूँगी। अब मुझे कोई संकोच—कोई शील नहीं। चाँद भैया के साथ मेरा सब कुछ चला गया। आप चाहें

तो बैठें और मिलें। मुझे इस बात में दिलचस्पी नहीं। वे आपके दादा हैं.....आप जानें।'

'और तुम्हारे! तुम्हारे भी तो ससुर हैं? तुम्हारे पूज्य पति के पिता हैं। तुम उनकी बात का उल्लंघन कर सकोगी? मैं नहीं समझता तुम में यह साहस है? तुमने और तुम्हारे चाँद ने जीवन को केवल 'बटरबाल' (मक्खन का लोदा) की तरह देखा समझा है। है तुममें संघर्ष की क्षमता?.....है तुम में संघर्ष का दर्प? मैं मान सकता हूँ—विवाह के पूर्व तुम्हे इन लोगों की क्षुद्रता और अनुदारता का पता न था। पर अब तो डेढ़ साल से भोग रही हो। अवसर आने पर बाहर निकल कर जीवन के खुले प्रकाश में सीधी खड़ी हो स्वाधीनता की साँस ले सकोगी? पहले पहल जब बनारस में तुमसे मिला था और तुम्हारी बातें सुनी थीं तब तुमसे बड़ी आशाएँ बांधी थीं। न जानता था तुम यहाँ आकर इस प्रकार सड़ोगी।

अत्यन्त हताश भाव से मैं अर्ध-निमीलित नेत्र और पूरे खुले हुए प्राण से उनकी ओर देखने लगी। उसकी बातें दिल को काटती थीं, पर अच्छी लगती थीं। मैं कितनी बँधी हुई और परवश हो गई हूँ—इस विवाह ने मुझे कितना अपदार्थ बनाकर छोड़ दिया है—मैं जानने लगी थी। कल से भैया के जीवित न रहने का ध्यान आने के बाद मेरा सारा जीवन आँखों के आगे नंगा-सा घूमने लगा था; प्रकाश की आँखों से विद्रोह की धूम्र-रेखाएँ निकल रही थीं—जैसी अगरबत्ती से निकलती हैं—सुगन्धिपूर्ण और पूजा का अर्घ्य साजनेवाली। मुझे लगा—जैसे मुझे आज इन्हीं की तलाश है। प्रकाश की आँखों में चपलता या भ्रूक्षेप की उत्तेजना न थी। उनमें जीवन की गम्भीरता थी। उनमें लालसा नहीं, साधना थी। जैसे वे सजीव प्रकृति आराधना में डूबी थीं—जैसे वे कर्तव्य की समष्टि की गोद में खेल रही थीं।.....मेरी चुप्पी को तोड़कर प्रकाश ने फिर कहा—'तुम सोच रही हो ये बातें भारतीय नारीत्व के लिए अपमानकर हैं। पर भारतीय और नारीत्व—ये दोनों परस्पर-विरोधी

शब्द हो गये हैं। नारीत्व को लेकर इस प्रकार के भौगोलिक विभागीकरण नहीं किये जा सकते। वह एक अखण्ड और परिपूर्ण जीवन-ज्योति है। विवाह के पहले तुममें जो एक स्वतंत्र-चेता गति थी वह आज कहाँ खो गई? विवाह इस प्रकार पङ्गुता और पंगु बनाने वाला विधान नहीं। पर हमारे यहाँ की बात ही दूसरी है। परसों एक साहब जो बड़े शुभेच्छु बनते हैं, कहने लगे—'प्रकाश' एक लड़की बहुत विदुषी है—तुम्हारा विवाह लगाना चाहता हूँ।' मैंने झल्लाकर कहा—'विवाह कहीं किसी के लगाने से लगता है या करवाने से होता है। जो इस प्रकार के होते हैं उन्हें मैं विवाह नहीं, केवल परम्परा की गुलामी मानता हूँ। यह गतानुगति का विधान मुझे स्वीकार नहीं! मेरी शादी जब होनी होगी आप से आप हो जायगी। कोई बीच में पड़कर उसे तय कराये—दो व्यक्तियों को एक-दूसरे की ओर आकर्षित कराये—यह कोई सम्मिलन है?' मुझे उठते-बैठते ऐसी बातें सुनने को मिलती हैं। मैं उनसे नफ़रत करता हुँ—केवल नफ़रत.....नफ़रत.....!'

कहते तो ठीक थे। पर-पुरुष थे। जीवन के निर्माता थे वह। ऐसा कह सकते थे। नारी की विवशताओं को एक बार यदि जान पाते—यदि आंशिक रूप में ही उन्हें भोग लेते तो यह अहंकार टूट जाता। मैं उनके सामने कुछ न थी। पर नारीत्व स्वयं एक ज्ञान है—अनुभव है—विश्वास है। कुछ दबे स्वर से बोली—'आप जैसा कहेंगे करूँगी। यदि जीवन का त्राण इसी में दिखाई देगा तो चारा ही क्या है? पर आप एक काम करें। मुझे लेकर आप दादा से कोई बहस न करें। वे मुझे चाहे जो कहें, उनका परम्परागत् अधिकार है यह। आप क्यों मुझे लेकर पहले की कटुता को और बढ़ायें? आप जिस भावना से यह सब कहेंगे उसे समझने लायक उनके संस्कार हैं नहीं। वे उसमें कुवासना की गन्ध ढूँढ़ेंगे और आपके चरित्र के साथ एक व्यर्थ का अपवाद जुड़ जायगा। आप जानते हैं मैं आप से परिचय के पहले मन ही मन आपको पूजती थी। मेरे आराध्य स्वयं आपकी पूजा करते थे। मेरी उस आन्तरिक

आराधना के मूल को तो कोई समझ न सकेगा—दुनिया केवल यही समझेगी कि मैं अपने घरवालों की आज्ञा ठुकराकर आपको अपने साथ आबद्ध करना चाहती हूँ। आप यह सब न होने दें, मुझे मेरे भाग्य पर छोड़ दें। तब तक मैं भी बल-संचय कर लूँगी और लड़ूँगी'

'जरूर लड़ना! अपने अधिकारों और जन्म-सिद्ध सुविधाओं के लिए लड़ना ही जीवन की कला है। जो लड़ता नहीं—केवल सहता है, वह स्थूल स्वार्थों को भले साध लेता हो, पर व्यापक मानवी वृत्तियों और लक्षणों का तिरस्कार करता है। एक व्यक्ति को दूसरे के साथ स्नेह, प्रेम और मैत्री का पूरा अधिकार है। यहाँ नर और नारी का अन्तर नहीं उपस्थित होता। यह तुम्हारा ही नहीं तुम्हारे जैसी करोड़ों के जीवन और मरण का प्रश्न है। अभी-अभी दादा के आने पर कोई न कोई काण्ड घटित हो सकता है। वे आसानी से तुम्हारा और मेरा यहाँ बैठे रहना सहन न करेंगे। पर उन्हें मालूम हो जाना चाहिये कि तुम दबोगी नहीं—हारोगी नहीं—रुकोगी नहीं। आदर्शों का सारा सपना झूठा है, यदि जीवन उनसे परे हो केवल पशुवत् और अवास्तविक रह जाय। मैं यहाँ से जाकर तुम्हारे पिता और माँ से मिलूँगा—सारी परिस्थिति उन्हें बताकर आनेवाली 'क्राइसिस' के लिए उन्हें तैयार करने का प्रयत्न करूँगा। पर असली लड़ाई तुम्हें लड़नी है। यदि तुम्हीं आगे न बढ़ोगी तो हम लोग क्या कर लेंगे? हम लोग तुम्हें सहारा दे सकते हैं—तुम्हारी उखड़ती साँसों में बल भर सकते हैं। लेकिन तुम्हें खींच-खींचकर आगे बढ़ा नहीं सकते। यह गति तुम्हीं को अपने भीतर पैदा करनी होगी।'

जीने पर जूतों की आवाज सुनाई दी। मैं चाहती तो उठ कर भीतर जा सकती थी पर ज्यों की त्यों बैठी रही। पतिदेव के कंधों का सहारा लिये छड़ी बगल में दबाये दादा भीतर प्रविष्ट हुए। प्रकाश उठकर खड़े हो गये और दोनों हाथ जोड़ कर प्रणाम किया। दादा ने मेरी उन्मादिनी मुद्रा देखी। समझ गये—मैं देर से बैठी यहाँ अकेली प्रकाश से बातें कर रही हूँ। मेरे पतिदेव के चेहरे पर क्रोध और खीझ की क्रुद्ध रेखाएँ फूट

पड़ीं। मैंने मुँह के ऊपर थोड़ा घूँघट खींच लिया और बैठी-बैठी धड़कते दिल से आगे की सोचने लगी। दादा ने चारपाई पर लेटते हुए पति से कहा—'यह यहाँ क्यों बैठी है? इससे कहो भीतर जाकर घर का काम करे। यहाँ मरदों के बीच इस बेहयाई से बैठने की जरूरत नहीं। तुम्हें आये कितनी देर हुई?'

'लगभग पौन घंटा हुआ होगा। आपको कहाँ इतनी देर लग गई? मैं कल जा रहा हूँ—सोचा आपको देखता चलूँ।'

'तुम मुझे नहीं इन्हें—अपनी 'मंजु' रानी को देखने आये हो। किशोर! कल तुम्हारे सामने इन्होंने जो नाटक किया था, वह क्या तुम्हें इतने जल्द भूल गया? क्यों झूठ बोलते हो? जिस लिए आये वह उद्देश्य तो पूरा हो गया। इतनी देर बैठकर बातें कर लीं पर अभी जी न भरा। साथ ले जाओ इन्हें और इनके पिता के घर पहुंचा दो। मैंने जाने के लिए कहा फिर भी यहीं बैठी है। इस उच्चपतन की सीमा है! अच्छा होने पर मैं इसके यहाँ आने की बात का फैसला करूँगा। मैं अपनी आँख के नीचे यह अनाचार न होने दूँगा। किशोर! यह फौरन उठकर न चली जाय तो इसको घसीट कर भीतर ले जाओ। अगर तुमसे न हो सके तो मुझसे कहो। अभी मुझमें सामर्थ्य है। मैं घसीट कर फेंक दूँगा। अगर जुबान से एक भी बात निकलेगी तो तुम्हें भली-भाँति इसकी मरम्मत करनी होगी। प्रकाश! तुम अब जा सकते हो। जब तक मैं स्वयं न बुलाऊँ यहाँ दुबारा न आना-मेरे मरने पर भी नहीं। तुम मेरे घर में ज़हर घोलने पर आमादा हो।'

पतिदेव खुद ही गुस्से से ऐंठ रहे थे। उनकी छाती पर ईर्षा का काला साँप लोट रहा था। झपट कर उन्होंने हाथ पकड़ा और घसीट कर भीतर डाल दिया। मैं कुछ न बोली—न कोई प्रतिकार कर सकी! प्रकाश ने खड़े होकर कहा—'ठहर जाओ किशोर! मंजु!! तुम खुद चली जाओ अन्दर। क्यों अपनी दुर्गति कर रही हो। ये लोग किस धातु के बने हैं यह तुम्हें भली प्रकार ज्ञात हो गया न! इनके सामने

औचित्य की मर्यादा का कोई महत्व नहीं। ये वह सब कर सकते हैं और कह सकते हैं जिसे हम-तुम कभी सोच भी नहीं सकते। किशोर! मुझे तुमसे ऐसी आशा न थी। तुम आज के युग के हो और नारी का मूल्य समझते हो। दादा उस ज़माने के हैं जब नारी को एक जीवित माँस की गठरी से अधिक न समझा जाता था। तुम नवयुग की ज्योति हो। मुझसे भी एक पीढ़ी उतर कर तुम्हारा विकास हुआ है—भले तुम मेरे काका हो। तुम्हें क्या यह सब करना अच्छा लगता है? मैं नहीं आऊँगा दादा। जब तक मंजु पर कोई अत्याचार न होगा। पर जिस दिन आप लोगों ने उस पर अत्याचार किया उस दिन मैं और मेरी आत्मा तपे तन्दूर की तरह इस मकान के आस-पास मँडराती रहेगी। किशोर! मनुष्य बनो।'

पतिदेव ने लौटकर बैठक की सिटकिनी उधर से बन्द कर ली। फिर कठोर दृष्टि से प्रकाश की ओर देखकर बोले—'तुम कौन होते हो हमारे बीच में बोलने वाले? बिना बुलाये तुम्हें इस प्रकार हमारे घर आने का अधिकार क्या है? आज मैंने केवल घसीट कर भीतर डाल दिया है। आयन्दा उसने ऐसी हरकत की तो जूतों से उसकी चाँद गंजी कर दूँगा। औरत की ज़ात नमकहराम होती है। जिसका खाती है उसी की इज़्ज़त उतारती है। तुम्हारी हिम्मत हो तो ले जाओ यहाँ से। देखूँ कैसे ले जाते हो। तुम्हारा अपमान मैं नहीं करना चाहता, पर जब आबरू पर आ जायगी तो किसका लिहाज! सगे भाई का ख्याल नहीं किया जाता।'

दादा ने अभिमानपूर्वक पुत्र की ओर देखा। शायद जीवन में पहले-पहल उन्हें अपने सुपुत्र पर गर्व हुआ था। बोले—'किशोर को तुम अपने जैसा उच्छृंखल और अपने मन का न समझ लेना। पढ़ने-लिखने में उसका मन नहीं लगता वर्ना वह किसी से कम दिमागदार नहीं। तुम्हारी चाल उस पर न चलेगी। तुम बाप-बेटे में वैर कराना चाहते हो। मैं उसका दुश्मन हूँ जो उसकी बहू को अकारण गाली दूँगा। वह अपना भला-बुरा समझता है। कल से वह तुम्हारे ऊपर कुढ़ा बैठा है।

अच्छा हो तुम उससे न उलझो, नहीं तो मेरी तरह वह हीन नहीं। व्यर्थ तुम्हारा अपमान हो जायगा और तुम्हारे पिता को बुरा लगेगा। तुम उसकी औरत पर घात लगाओगे और वह तुम्हें छोड़ देगा। ऐसे मौके पर इन्सान-इन्सान के खून का प्यासा हो जाता है। अपना भला चाहो तो चुपचाप चले जाओ। फिर इधर की ओर मुँह न करना। किसी कुली-कबाड़ी का मकान समझा था?'

मैंने किवाड़ की ओर आड़ से फिर देखा। प्रकाश क्रोध से थर-थर काँप रहे थे। उन्हें कदाचित् दादा पर—पतिदेव पर इतना क्रोध न था जितना मुझ पर था। मैंने पलक मारते ही निश्चय कर लिया। किवाड़ के पास खड़ी हो बोली—'प्रकाश भैया! हाथ जोड़ती हूँ—तुम तुरन्त यहाँ से चले जाओ। मेरी लाश गिरने पर भी न आना। देर न करो.....फौरन जाओ.....यह हत्यारों की बस्ती है..... यहाँ उमंगों के काफ़ले लुटवाये जाते हैं। बाहर निकल जाओ। न आना.....कभी.....कभी न आना.....जाओ!'...कहती-कहती मैं दरवाजे के पास गश खाकर गिर पड़ी। गिरने से पहले मैंने प्रकाश को सीढ़ियों की ओर बढ़ते देख लिया था—इसके बाद जब होश आया तब मेरे शरीर में भयानक दर्द हो रहा था जैसे किसी ने बेरहमी से उसे रौंदा हो·····जैसे किसी ने अपनी आसुरी शक्ति से मुझे जकड़ रक्खा हो। एक-एक जोड़ दर्द कर रहा था। माथे पर बड़े-बड़े गुम्मे पड़े थे। पति ने बेहोश हो जाने के बाद भी मुझे नहीं छोड़ा और मारते-मारते बेदम कर दिया। उस मार का यह पीड़क खुमार था जो सारी देह में प्रज्वलन भर रहा था। चेष्टा करने पर भी उठ न सकी। रात भर उस गर्म कोठरी में पड़ी भाग्य को रोती रही। यही मेरा जीवन है!

तीसरे दिन माता-पिता दोनों आ गये। प्रकाश ने जाकर कच्चा चिट्ठा उनसे बता दिया था। सुबह सात बजे मैं अपनी उसी कोठरी में झाड़ू लगा रही थी। आज-कल मैं बराबर उसी कोठरी में रहती थी। सास जब कृपा कर कुछ खाने को दे जाती थीं तो लेती थी, वर्ना भूखी सो जाती।

थी। सुबह पिता के कंठ का स्वर सुनते ही मुझमें जैसे नया बल आ गया। मैंने ज़ीने पर जाकर दरवाजा खोल दिया। उदास-मुँह लिये अम्मा और बाबू खड़े थे। मैं माँ को देखते ही हलहला कर रोने लगी और उनकी देह से चिपट गई। अपनी कोठरी में जाकर अपनी देह की दुर्गति दिखाने लगी। मेरे पिता ने देखा तो वे भी रोने लगे। पर अधिक रोने का भी जीवन ने अवकाश नहीं। दादा के पुकारने पर उनके पास चले गये। दादा में कहा—'आप लोगों को आये आधा घंटा हो गया पर मुझसे जैसे कोई मतलब नहीं। मेरा इतना बड़ा आपरेशन हुआ है—एक प्रकार से नया जन्म हुआ है। आप यहाँ न आकर औरतों की तरह अपनी लड़की से लिपट कर रो रहे हैं। इसके लिए उसकी माँ काफी हैं। आपको सीधे मेरे पास आना चाहिये था। कैसे आये आप? क्या यहाँ से कोई चिट्ठी गई थी·····या स्वप्न देखा था?'

पिताजी ने कहा—'मैंने सुना मंजु बीमार है और यहाँ आना चाहती है। उसे लेने चला आया। उसकी माँ को यहाँ एक रिश्तेदार से मिलना था। साथ में वह भी चली आई। अब आप बिल्कुल अच्छे हैं। दुर्बलता धीरे-धीरे जायगी। आपने कोई सूचना भी न दी।'

'क्या मतलब है आप लोगों को मेरे सुख-दुःख से। आप को केवल अपनी लाड़ली से सम्बन्ध है। आप उसे देखने आये हैं। जाइये और जी भर उसे देखिये। लेकिन उसे आप समझा दीजियेगा। किशोर उस दिन बहुत मारता, पर मैंने मना कर दिया। पराये मर्दों के साथ ऐसा कलमुँहापन कौन मर्द बरदाश्त करेगा। मैं जानता हूँ आप उसे ले जाने के लिये आये हैं और कोई न कोई बहाना सोच रहे होंगे। यह मनचलापन न अब वहाँ चलेगा न यहाँ। आप को यही करना था तो उसकी शादी करने की क्या जरूरत थी? बैठाकर आराम से उसकी कमाई खाते। कोई मना करनेवाला था! यह पर्दा डालने की क्या जरूरत थी। कोई आप का हाथ पकड़ने जाता था?'

मैं भीतर से सब सुन-सुन कर माँ की गोद में गड़ी जा रही थी। इस

प्रकार किसी की गरीबी को बेपर्दा किया जा सकता है ! यह तो सरासर अत्याचार है। मैंने माँ से कहा—माँ ! मैं चलूँगी तुम्हारे साथ। मैं अब एक क्षण यहाँ तुम्हारे बगैर न रहूँगी। लखनऊ से आने के बाद यहाँ मुझ पर जो-जो बीती है—जिस प्रकार नाली के कुत्ते की तरह मेरे साथ व्यवहार किया गया है वह मुझे जीवन-पर्यन्त न भूलेगा। मुझे यहाँ से ले चलो माँ ! मैं यह मर जाऊँगी। यदि मुझे मारना चाहती हो तो यहाँ छोड़ जाओ। पूरे एक जन्म को बिछुड़ जाओगी। में तुम्हें दुबारा न मिलूँगी। ये लोग मुझे ज़िन्दा जला देंगे।'

माँ ने मुझे बोध देते हुये कहा—'इसीलिये आई हूँ बेटी ! मुझे न मालूम था ये लोग तेरे शरीर पर हाथ चलायेंगे। तेरे माथे के बड़े-बड़े सूजे हुए गुम्मे ! आज ही तुझे लेकर चल दूँगी। विवाह के पहले कैसी मीठी-मीठी बातें करते थे। वह बुढ़िया कहाँ गई जो लखनऊ जाकर मिन्नतें किया करती थी। तनिक मुझसे आकर बात तो करे। लड़की पैदा की होती तो उसकी पीर जानती। मैं अभी जाकर दादा से बातें करती हूँ। यह कहाँ का न्याय है ? कोई किसी से बोले न—बात न करे ! तू चाँद या प्रकाश से यहाँ का रिश्ता तो मानती नहीं। मायके का नौकर भी भाई होता है। इन लोगो के मन में इतना पाप भरा हुआ है यह मैं जानती होती तो कदापि यह विवाह न होने देती। हमारे यहाँ ऐसा चलन नहीं है।'

इसके बाद जो जो हुआ—दिन भर मेरी माँ और दादा के बीच जो कटुक्तियाँ चलती रहीं और जिस प्रकार की बातें मेरे पिता और माता को कही गईं, उनका विस्तार से न कहना ही उचित है। मैंने माँ से बता दिया—मेरी सास का कोई दोष नहीं। मेरे पति तो लज्जा के कारण मेरी माँ के सामने ही न आये। मेरी माँ के स्वभाव में असाधारण उग्रता थी जो शायद अधिक बच्चे जनते-जनते बढ़ती गई थी और कभी-कभी नंगेपन का रूप ले लेती थी। दादा चारपाई पर पड़े-पड़े मेरे कलंको को बढ़ा-चढ़ाकर बता रहे थे और मैं अपना सामान ठीक कर रही थी। मेरी

माँ ने घोषित कर दिया कि वे मुझे अपने साथ ले जायँगी। मैंने अपनी भीतरी दशा अभी किसी से न बताई थी। माँ से भी नहीं। मैं चाहती थी यह मेरा भ्रम हो और बात यहीं की यहीं ठिठक कर रह जाय। दादा ने कह दिया—अगर मैं जाना चाहती हूँ तो चली जाऊँ, पर यहाँ से कभी कोई बुलाने न जायगा। जिस प्रकार मेरी माँ और पिता उनकी ऐसी बीमारी में बलात् मुझे लिये जा रहे हैं उसी प्रकार उन्हें वापस भेजने आना होगा। वे मेरे लिए रुकेंगे नहीं। उनके लड़के के लिए लड़कियों की कमी नहीं। रात की गाड़ी से मैं चलने के लिए तैयार हो गई। उस दिन जब प्रकाश का इस प्रकार अपमान हो रहा था तब एक बार मेरे मन में आया था.....चल दूँ प्रकाश का हाथ पकड़ कर। देखूँ किसकी ताब है जो मुझे रोक सके। यदि मैं अपनी इच्छा से इस घर में न रहना चाहूँगी तो कौन है जो मुझे विवशात् रोक सके। लेकिन न जाने क्या सोचकर रुक गई थी। प्रेरणा के सूत्र को पकड़ने और सुलझाने का मौका तब कहाँ था—केवल एक कर्कश विक्षोभ था जो प्रत्येक स्वर पर प्रतिवाद कर उठता था। आज मैं निश्चय कर चुकी थी। आज मेरे सामने मेरा मार्ग बिल्कुल साफ़ था जो मुझसे भी आगे था। वही मेरा सहचर और कर्णधार था। चलते समय दादा चारपाई से उठकर कमरे में आ खड़े हुए और मेरी सास से बोले—'इससे कह दो अपने सारे गहने यहाँ छोड़ जाय। यहाँ की कोई चीज अपने साथ न ले जाय। यह हमारी इच्छा और सहमति से नहीं जा रही। अपने मन की हो गई है न। लेकिन यहाँ का सारा सामान तुम संदूक देखकर निकाल लो और सेफ़ में रख दो। अपने मायके की चीजें ले जाय। मैं उन्हें भी छीन सकता हूँ। पर मुझे नहीं चाहिये। यहाँ की कोई चीज़ न ले जाने पाये। जो जैसा होता है उसके साथ वैसा व्यवहार किया जाता है।'

दादा समझते थे गरीब घर की होने के कारण गहनों पर मेरा अत्यधिक मोह होगा। पर वे भूल गये—नारी-जीवन में ऐसी भी संबन्ध

और अनुराग होते हैं जो गहनों से बड़े होते हैं। मुझे गहनों से कोई लगाव कभी न था यद्यपि उन्हें देखकर जब-तब खुश हो लेती थी। मैंने फौरन बक्स खोलकर उनके सारे गहने और साड़ियाँ दे दीं। मेरी माँ भौचक देखती रह गईं। उनकी चलती तो इतनी आसानी से वे मुझे हारने न देतीं, पर मैं.....मैं अब यहाँ की हवा में भी न जानें कहाँ की भयावनी आवाजें सुन रही थी। ससुर अपने सामने सब सहेज कर और सेफ़ में बन्द करवाकर ताली ले चारपाई पर चले गये। सास किंकर्तव्यविमूढ़ बनी एक कोने में बैठी रहीं। चलते समय मैंने उनके चरण छुये और उन्होंने मुझे हृदय से लगा लिया। रात की गाड़ी से मैं माता-पिता के साथ लखनऊ आ पहुँची। जिस समय भड़भड़ाती हुई ट्रेन शहर के बाहर के खेतों, ढूहों और कच्चे देहाती मकानों को पार कर सुबह शहर के भीतर दाखिल हुई उस समय मैं जोर से आर्तनाद कर उठी। एक अचीन्ही और निःशब्द वेदना वायुमण्डल में अंगारों की तह जैसी जमी पड़ी थी। इञ्जन के धुएँ के बादलों द्वारा बनते और प्रतिक्षण परिवर्तित होते भिन्न-भिन्न आकारों के चित्र मुझे श्मशान के बबूलों और झाऊ के कँटीले कुञ्जों की याद दिला रहे थे। माँ ने कहा—'क्या हुआ बेटी! कहीं दर्द हो रहा है क्या?' मेरा आर्तनाद सचमुच गहरा और दो टूक था। मैंने रोकर कहा—'कुछ नहीं माँ! चाँद भैया की याद आ रही है। उन्हीं के शहर में जैसे मैं सब ओर से लुट कर आ रही हूँ। पर जब यहाँ का रास्ता भी बन्द हो जायगा.....तब! तब क्या होगा? मुझे बचाना भगवान्! मेरे अन्तर्यामी!'

दोपहर में मैं चाँद भैया के यहाँ पहुँची। मेरे माथे पर की सूजन अब तक अपनी नीलिमा को अपने साथ न ले जा सकी थी। मैं अकेली थी। पैर लड़खड़ा रहे थे, पर मैं बढ़ती चली जाती थी। मुझे देखते ही एक बार फिर वहाँ सुषुप्त क्रन्दन उत्थित हो पड़ेगा—फिर एक बार एक सिरे से लेकर दूसरे सिरे तक हाहाकार हहराने लगेगा। बाहर के बरामदे में प्रकाश बैठे अखबार पढ़ते दिखाई दिये। मैंने गेट पर से ही प्रणाम

किया और वे बढ़ते हुए चले आये। बोले—'मैंने तुम्हारे संदेशा आते ही तुम्हारे घर पर पहुँचा दिया था। पर तुम आ सकोगी—माँ-बाप के जाने पर भी यह मुझे विश्वास न था। अच्छा किया तुम आ गईं। माँ तुम्हारे लिए विकल हैं। हम लोग इतना समझाते हैं पर उनकी जलती आत्मा जैसे ठंडी होने नहीं आती। चलो, भीतर चलो।'

मैं छलछलाये नेत्रों को रूमाल से ढाँपे भीतर की ओर चली। पैर नहीं उठ रहे थे। पहले भी फाटक के पास पहुँचते ही भैया बरामदे के पासवाले कमरे की खिड़की से मुझे देखकर इसी प्रकार लपक कर मेरा स्वागत करते थे। आज वे नहीं हैं। पर जो है, वह जैसे उन्हीं के पग-चिह्नों पर चलता हुआ मुझ तक आया है! मैं आगे बढ़ न पाती थी। दोनों पैर जैसे दलदल में धँसे जा रहे थे। और मैं जितना आगे को कढ़िलती थी उतनी ही बेवश हो उठती थी। घबराकर वहीं धम्म से बैठ गई·····।

प्रकाश ने पास आकर बिना मेरे शरीर को स्पर्श किये कहा—'क्या हुआ? गश तो नहीं मालूम पड़ता। तुम यहीं रहो—मैं भाभी को बुलाये लाता हूँ। वे तुम्हें उठाकर ले चलेंगी। उठना मत!'

'नहीं, नहीं—मैं चलती हूँ। कभी-कभी मन और शरीर पर काबू नहीं रह जाता। एक अवचेतन ढलन में डूबने-उतराने लगती हूँ। मेरे बेरंग चेहरे और धुँआली आँखों को शून्य दृष्टि से देखकर प्रकाश ने कहा—'चलो भीतर चलो! वहाँ माँ हैं—बड़ी और छोटी भाभी हैं। और भी परिवार की औरतें हैं! मा तुम्हारी रट लगाये रहती हैं। मैंने वहाँ से लौटकर इन लोगों को सब बताया है। वहाँ की बातें सुनते ही जैसे सब को काठ मार गया। पर क्या कर लेगा कोई? सुनकर सब लोग हमदर्दी और करुणा ही प्रकट कर सकते हैं। चलो!'

मुझे अपने बराबर किये प्रकाश वैसी ही भावहीन मुद्रा से आकर बीच के गोल कमरे में खड़े हो गये। सामने एक सोफ़े पर बड़ी माँ पड़ी पीछे की दीवाल देख रही थीं। मैंने नीचे जमीन पर बिछी दरी पर बैठ उनके

घुटनों पर अपना सिर रखते हुए कहा—'माँ·····बड़ी माँ ! कहाँ हो तुम !-मैं आ गई मंजु !'

माँ में हड़बड़ा कर मुँह फेरा और मुझे छाती से लगाते लगाते स्वयं सोफ़े से नीचे गिर पड़ीं। मैंने उठाकर बिठा दिया और धाड़ मार-मार कर रोने लगीं। दोनों भाभियाँ उठकर पास आ गईं और मेरे कुम्हलाये गात को अपने स्नेह-स्पर्शों से थपथपाने लगीं।

सबकी आँखें मूसलाधार जलवर्षा कर रही थीं। प्रकाश चुपचाप बाहर चले गये थे। एक घेरने वाला विलाप उस गोल कमरे की सन्धि-सन्धि में जाकर आलोक की झलकियों को ढाँपने लगा। रोते-रोते मेरी आँखों से किसी को टकटकी बाँध कर देखा भी न जाता था। आँखों में मकड़ी के जाले-से तन आते थे। शरीर में कमजोर कँपकँपाहट गूँज रही थी। मैंने उखड़ी सांसों को बटोर कर फटे बाँस जैसे स्वर में प्रति-चीत्कार करसे हुए कहा—'चले गये मेरे चंदा भैया ! एक ज़िन्दगी को छूट गये ! हे भगवान् ! मेरे किन पापों का यह दंड दे डाला। मुझे मार डालते पर मेरे भैया ने तुम्हारा क्या बिगाड़ा था ? उन्हें क्यों ले बीते ? बड़ी माँ ! अब मैं किसका सहारा जोहूँगी ? कौन है जो मुझे ज़िन्दगी की चट्टानें झेलने का बल देगा.....कहती-कहती मैं फिर चीख पड़ी। ऊपर वेन्टीलेटरों के पास बैठी चिड़ियाँ मेरी चीख से चौंककर पर फड़फड़ाती हुई दहशत खाकर भाग निकलीं।

माँ के मुँह से चेष्टा करने पर भी बोल न निकलता था। वे केवल रोये जाती थीं। कैसा जीवनव्यापी रोना है यह ! जैसे कभी इसका अन्त न होगा। जैसे मरने के बाद भी बड़ी माँ की आँखें ऐसी ही परिप्लावित रहेंगी। चिता पर जलते समय भी उनके आँसू चटचट करती ज्वालाओं में भाफ बन कनकर उड़ेंगे। कौन है जो उनके क्रन्दन को रोक सके····· उनकी वेदना·····मेरी वेदना·····दोनों की हदें नहीं मिलतीं।

सारी दोपहर रोकर जब मैं शाम को घर लौटी तो प्रकाश साथ थे। पहले जब कभी शाम को वहाँ से लौटती थी तो भैया स्वयं मुझे घर पहुँ-

चाने आते थे। कैसे अज्ञात भाव से ये भी उनके सारे कर्तव्यों की पूर्ति करते जा रहे थे। मैं इस समय अपने आपे में न थी। दरवाजे के पास आकर मैंने केवल इतना कहा—'आप अभी रह रहे हैं? जाने की जल्दी.....'

'कुछ है पर अभी माँ जाने नहीं देतीं। कहतीं है तुम लोग चाँद के बाद उसकी यादगार हो। तुम लोग चले जाओगे तो कैसे मुझे बोध होगा। पर रुकूँगा भी कब तक! तुम अभी बराबर माँ के पास आती रहना। कल.....'

मैंने कहा—'कल सुबह आप यहीं चाय पीजिये और खाना खाइये। दोपहर को आपके साथ चलूँगी। आइयेगा न।'

'आ जाऊँगा। तुम मेरे कारण तकल्लुफ़ न करना।'

—:०*०:—

:८:

दूसरे दिन सुबह चाय पीते-पीते प्रकाश ने कहा—'चाँद पर निर्भर रहते-रहते तुम कितनी दुर्बल.....अपने को असहाय समझने वाली हो गई हो। याद रक्खो मंजु! जीवन में केवल स्नेह के टूटे तार को लेकर झनझनाने से काम नहीं चलता। यहाँ फैसला करना पड़ता है और जल्द फैसला करना पड़ेता है। वर्ना जीवन-सम्बन्धी सारे व्यापार अर्थ-शून्य होकर रह जाते हैं। तुम दादा के यहाँ की दुनिया देख चुकी। वहाँ लौटकर जाना चाहो तो मुझे कुछ नहीं कहना। पर वहाँ तुम्हारे जीवन की धारा अप्रतिरोध बह सकेगी? क्या वहाँ तुम मस्तक उठाकर—ऊँची गर्दन लेकर रह सकोगी? यदि नहीं तो तोड़ो इस घृणित पाश को! एक झूठी, समझ में न आने वाली जीवन-व्यापिनी यन्त्रणा का अवहनीय बोझा सिर पर लाद कर आजीवन बौनी और कुबड़ी बनकर चलना क्या तुम्हारी जैसी को शोभा देगा? बराबर झुकते .....झुकते ही जाना और एक निष्फल आडम्बर की सृष्टि! क्या है यह सब? अन्तःपुर की बेड़ी पड़ी बाँदी की तरह रहकर भी गृहस्वामिनी के

मिथ्या अभिमान को कन्धों पर लादे लादे घूमना। अपने विवेक और जागृत संस्कारों का गला घोंटना !! कर सकोगी यह सब—है हिम्मत ? सामाजिक मर्यादा का मैं भी क़ायल हूँ पर वह सामाजिक मर्यादा नहीं जिसे समय के साँप ने त्यक्त केंचुल की तरह छोड़ दिया है·····जिसमें केवल युगों का आघात सहते-सहते अब एक फफूँद बाक़ी बची है।'

शाम को भैया के यहाँ से आने के बाद स्वयं घण्टों यह सब सोचती रही थी·····बराबर अपने को तौल रही थी। कब तक इस प्रकार का ढकोसला मैं निभा सकूँगी। लौटकर उस घर में जाने को अब किसी भाँति अपने को तैयार न कर पाती थी। वहाँ जाकर सुखी होना तो दूर कभी जीवन को निर्लिप्त और निर्विवाद हो भी न सकूँगी। वही घृणित, कुत्सित आक्षेप·····उन्हीं लोगों का वितृष्ण संसर्ग। मैं अब वहाँ न जाऊँगी। जिस घर से इतने दर्प और दीप्ति के साथ चल पड़ी हूँ वहाँ अब विनीत भाव से जाना·····उन्हीं लोगों के तलवे चाटना मुझे सह्य नहीं। मैं कमा सकती हूँ—अपना और साथ में दो-चार का भी पेट भर सकती हूँ। मैंने तय किया था, मैं किसी स्कूल में नौकरी कर लूँगी···यहाँ माता-पिता के साथ रहूँगी। मेरे भीतर प्रतिहिंसा है·····बदले की ज्वाला है। मैं दादा को दिखा दूँगी—तुम्हारे टुकड़ों को ठुकरा कर मैं जी सकती हूँ। अपने सामाजिक दायित्व का पालन कर सकती हूँ·····मैं सक्षम हूँ। मुझमें बल है जो जीवन की पथरीली चट्टानी राहों से टक्कर खाकर बराबर निखरता रहेगा·····'

मैंने कहा - 'भैया का इसमें दोष नहीं। दोष है मेरे कर्मों का। अब मैं उस घर में न जाऊँगी। मैंने तय किया है, मैं यहाँ रहकर किसी स्कूल में नौकरी करूँगी और और आगे पढ़ूँगी। अपने छोटे भाइयों और बहनों को पढ़ाऊँगी। आप मेरी ओर से निश्चिन्त हो जाइये। कभी कोई विशेष आदेश मेरे लिये हो तो पत्र लिखियेगा। पहली ही बार आप को देखकर आप पर विश्वास उत्पन्न हो गया था जो बराबर बढ़ता गया। मुझे मालूम पड़ने लगा है—पहले मैं अपने को जितना निर्बल समझती

थी उतनी निर्बल नहीं। समय ने मेरा साथ नहीं दिया पर मेरे मन के विश्वास ने मेरा साथ नहीं छोड़ा। ईश्वर ने चाहा तो आप मुझे अब सदैव अन्तःकरण के इस कठोर संकल्प से उद्भासित पायेंगे। मैं अपने संपूर्ण नारीत्व और जीवन को लेकर आगे बढ़ूँगी.....'

उन्होंने चायका दूसरा प्याला बनाते हुए कहा—'फूँक दो इस अकिंचनता की पापिनी वृत्ति को—आग लगा दो मन के इस अचल, अडिग, जड़ धर्म में जो जीवन में किसी भी परिवर्तन को स्वस्थ और सुन्दर नहीं मानता। मैं जानता हूँ तुम्हारे मूल संस्कार क्या हैं? उनमें कैसा भयानक आघात लगाने तुम जा रही हो। भूल जाओ उस अन्धी, पातिव्रत की मूढ़ निष्ठा को जो जीवन-व्यापी क्लान्ति और मलिनता के बीच पलती है। युग-युग से इस सत्यानाशी अशुचिता ने न जाने कितने नारी-प्राणों का हनन किया है और करेगी। तुम इसके अंगार में शिखा की तरह जलो—एक कभी न रुकने वाली आँधी की धौंकनी बनकर लहराओ! यही पगडंडी एक दिन जीवन का राजपथ बन जायगी और क्षितिज को चीरती हुई अडिग पाँव—अचंचल मन.....तुम इस पर अपनी चूड़ियाँ बजाती भाग सकोगी.....?' कहते-कहते उनकी उदास' अनमनस्क आँखों के अन्तराल से न जाने कब-कब और कहाँ-कहाँ की दबी बातें निकल आईं। दो मिनट भाफ़ देती हुई केतली की ओर स्थिर दृष्टि से देखकर बोले—'भूल जाओ अपने अतीत को.....जैसे एक भयावना स्वप्न था वह.....केवल वर्तमान और उसके भीतर से झाँकते हुए आलोकदानी भविष्य को देखो। कभी अपने को अपनी दृष्टि में इसलिये छोटी न मानना कि पति के रहते हुए तुम यह स्व-आरोपित वैधव्य वहन कर रही हो.....तुम महान् झूठ को सत्य का गौरव देकर कभी अपने को ठगने की चेष्टा न करना। ऐसी कोई स्वतःसिद्ध पवित्रता मानव के जीवन में नहीं। तुम कभी उसके माया-जाल में न फँसना.....आँखें खोलकर चलना.....मानता हूँ' पूरी पेचीदा जिन्दगी तुम्हारे सामने

पड़ी है। पर उलझनों को जितना तूल दोगी उतना वे उलझेंगी। आशा वह है जो असफल हो होकर भी नित-नूतन होती है। बहादुरी मैं उसको मानता हूँ जो हार कर भी जीत के कंधों पर बैठकर सवारी करने का बाना पहनती है। कभी थकान मालूम हो—सिर झुकने लगे—साँसों का सिलसिला उखड़ चले तो मुझे लिखना। कोई प्रण ठान कर उसे अधूरा न छोड़ना। कभी अपने को इस सामाजिक विद्रोह और आत्म-सम्मान की रक्षा की चेष्टा के लिये हेय न मानना। संघर्ष कभी व्यर्थ नहीं जाता·····कुर्बानी कभी गायगाँ नहीं होती·····तुम अपने को मिटाकर भविष्य की पथ-ज्योति बनोगी·····"

अब तक मैं धीरे-धीरे बोल रही थी·····अब मेरे स्वरों के बन्धन खुल गये। मेरा अन्तर—न जाने कैसी नशीली सुरभि से गमक कर पुलकित हो उठा। जैसे जीवन की श्याम घटाओं के ऊपर मार्ग बुहारने वाली चाँदनी छा गई। अतीत की कहानी के न जाने कितने धुँधले-धुँधले पृष्ठ मुझे साफ़ दिखने लगे। किस इष्ट की—किस अप्राप्य प्राप्ति की—किस संपूर्ति-प्रदायक आदर्श की टोह में मार्गक्रमण करती निकली थी पर मिला क्या·····क्या·····एक विस्फारित, रिक्त, प्यासा हृदय जहाँ प्रणय, कर्तव्य, वासना, प्रेम, अनुभूति, ज्ञान के लिये कोई स्थान नहीं। जहाँ संघर्ष ही संघर्ष हैं—एक भयानक जड़ता भीतर लेकर बाहरी दुनिया से जूझते जाना है। मैंने उद्ग्रीव हो कहा—'मैं सारी आपदायें झेल लूँगी। मुझे विश्वास है चाँद भैया होते तो वे भी मुझे यही प्रेरक आह्वान सुनाते जो आपने सुनाया है। आज नारीत्व का कौन-सा अनजाना ओज मेरे भीतर भर गया है, जो सारी कठिनाइयों की चट्टानों को अपने पदाघात से चूर कर देने की शक्ति मैं अपने में पाती हूँ। दादा अपने लड़के का दूसरा विवाह कर लेंगे—मैं जानती हूँ। पर आज मुझमें दीनता का आत्म-विस्मरण नहीं, अविचल आत्म-विश्वास की कड़कड़ाहट और बिजली है। आज मैं भिक्षा नहीं चाहती—जीवन की प्रतिकूलता में कोई दान नहीं माँगती। मुझे आज किसी की अपेक्षा नहीं। केवल आप

अपना अविनाशी आशीर्वाद मुझे देते रहें·····जहाँ भी रहें मेरे अन्दर की रुद्ध होकर छटपटाती शक्तियों को बलिदान और आत्म-त्याग की क्षमतायें प्रदान करते रहें। पहले सोचती थी—इस विवाह के द्वारा अपने परिवार को सुखी बनाऊँगी। आज देखती हूँ—इस बन्धन से छूटकर ही मैं अपने कुटुम्बियों का सच्चा जीवन-निर्माण कर सकूँगी। मानती हूँ—भैया ने मुझे भावुक·····अतिशय भावुक बना दिया। उनके दुलार ने मेरे भीतर अहंकार की जड़ें जमाईं·····मैं आनन्द की झूठी कल्पनायें लेकर बात-बात में लड़खड़ाने लगी। लेकिन मेरी छलना के वे घट फूट गये हैं। मैं ठोकरों से ध्वंस हो होकर आज उत्सर्ग की कड़ी भूमि में आई हूँ। अविश्वास, शंका और कुरूप विकृति का दामन चीर मैं उल्का की तरह आगे बढ़ी हूँ·····अब धारासार आगे बढ़ूँगी·····बढ़ती जाऊँगी।

प्रकाश ने दोपहर को हमारे घर खाना खाया। उनकी साधुता, सौम्य-सुशीलता और निष्काम भंगिमा देखकर—उनकी तेजस्वी मुद्रायें देख-देखकर मेरी माता बार-बार ठंडी साँसें लेती थी·····न जाने क्या सोचती-सोचती अपने आप में खो जाती थीं। पिताजी को प्रकाश का स्वभाव बहुत भाया था और पहली भेंट के बाद से ही उन पर अखंड विश्वास हो गया था। वस्तुतः प्रकाश को देखकर किसी भी व्यक्ति के हृदय में विश्वास·····एक अखंड और भक्ति की सीमा तक आ-आकर और गहरा होने वाला विश्वास उत्पन्न न होना असम्भव था। उनकी छाया में जैसे आप से आप रक्षा का बोध जड़ जमाने लगता था·····झूठे सम्मान या गर्व की रक्षा का बोध नहीं वरन् अपने श्रेष्ठ चरित्र और गौरव की रक्षा का। खाना खाकर प्रकाश सो गये। मैं बड़ी माँ के पास चली गई और दिन भर बैठी रही। रात को भाभियों के आग्रह पर वहीं सो गई। इधर प्रकाश को माँ ने रोक कर रात भर बात कीं। सुबह जब मैं बड़ी माँ के पास से लौटी तो प्रकाश जाने की बात कर रहे थे। मैंने कहा—"मैं अभी आई हूँ·····आप कैसे जा रहे हैं। रुकिये! रात को आप वहाँ गये नहीं। बड़ी माँ बार-बार पूछती थीं।'

प्रकाश ने आलोक के सतरंगी पुलिन जैसी अपनी स्थित-प्रज्ञ आँखों को मेरे चेहरे पर फेंकते हुए कहा—'तुम वहाँ रह गईं·····मैं यहाँ रात भर नानी से गप्प लड़ाता रहा (मेरी माँ को उन्होंने नानी कहना आरम्भ कर दिया है, यह मुझे उसी समय मालूम हुआ)। मैंने कहा—'सुनती हो माँ ! तुम नानी हो गईं।'

माँ ने गर्व से कहा—'नानी हूँ उसकी। तू उसकी काकी है पद बड़ा होता है—वय का ख्याल नहीं किया जाता। प्रकाश ! तुम जाने के पहले यहाँ आना। तुमसे बहुत बातें करनी हैं·····इसके भविष्य को लेकर। मैं जानती हूँ तुम जो सलाह दोगे वह इसके लिये वास्तविक कल्याण-प्रद होगी। मैं घबराने लगती हूँ। क्या सोचती थी·····क्या हो गया ? वे लोग ऐसे नीच निकलेंगे वह स्वप्न में न सोचा था। दुर्भाग्य है।'

'कुछ नहीं नानीजी!' प्रकाश ने दृढ़ स्वर से कहा—'ये जीवन के उलट-फेर हैं। आदमी अपने को राजा सोचता रहा है·····पल में जोगी हो जाता है। मन का भ्रम है। समझो तो सब कुछ है·····नहीं तो कुछ नहीं। लेकिन कोई किसी के नर्सीव की मुश्कें नहीं कस सकता। मुझे बनारस में चाँद ने बताया होता तो मैं प्राण देकर भी यह शादी रोकता·····मंजु को मना करता·····बिना बुलाये तुम्हारे घर आकर यह पाप करने से रोकता·····पर जाने दो·····जो हो गया वह हो गया। जो न होना चाहिये वह अब न होने पाये।'

'कब तक ऐसे चलेगा ? नारी का अन्तिम आश्रय उसका पति है चाहे वह उसे भाये चाहे न भाये। नारी स्वतन्त्रता के नाम पर जो क्लबों में नाचती-गाती है·····बड़े-बड़े भाषण देती है वैसी हम नहीं। वैसा खोखला 'नवीन' हमें न चाहिये। तुम कोई ऐसा रास्ता निकालो कि इस बच्ची का जीवन न नष्ट हो। यह वहाँ न जाय पर पति को अपने पास बुलाकर उस घर के ज़हरीले वातावरण के प्रभाव से उसे आजाद कर सके। इसको अपने असन्तोष के विष को बहलाने

के लिये कोई आधार चाहिये। मैं सोचती हूँ लड़का अब भी सुधर सकता है.....'

'आपका ख्याल ग़लत है। पिता के बाद वह दोनों हाथ से धन लुटाता हुआ अपना सर्वनाश करेगा। उसके भीतर शारीरिक वासना के सिवा कोई चेतना नहीं। वह मंजु जैसी सुकुमार मानसिक तारों और गुञ्जारों वाली पवित्र लड़की के हँसने-रोने को पहचान नहीं सकता। वह पशु है नानी! बिल्कुल सींग-पूँछ रहित पशु! तुम्हें पता नहीं अपनी माँ तक को मारता है वह!.....' कहते-कहते वे अपनी सूनी-सूनी आँखें खिड़की के बाहर फेंक आकाश में दूर-दूर तक उड़ती चिड़ियों की ओर देखने लगे। उनकी आँखों में करुणा जैसे सिर झुकाये चल रही थी।

मैंने कहा—'देखा जायगा। अभी मैं नौकरी करती हूँ.....आगे की परीक्षायें पास करती हूँ। उस घर में लौटकर मैं न जाऊँगी। जहाँ मुझे अपने देवता जैसे भाई की मृत्यु पर आँसू बहाना मना हो—जहाँ उनकी याद में दो क्षण छाती न पीट सकूँ—वहाँ का सारा सुख, वैभव, सौख्य मेरे लिये हेय है। क्या उस रात को रोने से मेरा भाग्य गल जाता? पर नहीं वह सब हृदय-हीन पिशाच हैं। वे मेरे मुख के रोदन को शान्त कर लेंगे पर मेरा हृदय जो सहस्र कंठों से प्रतिक्षण रोता है उसे कौन रोक लेगा? मुझे उनकी चुनौती स्वीकार है.....मुझे किसी की भी चुनौती स्वीकार है। आज मुझे दुनिया का कोना-कोना धोखे की प्रवंचना से परिपूर्ण लगता है.....मेरी प्रत्येक साँस में प्रतिहिंसा सुलग रही है।..... मैं यहीं रहूँगी.....कहीं न जाऊँगी।'

माँ ने कहा—'वे लोग बुलाने आयें या इस प्रकार का कोई आग्रह उनकी ओर से आया, तब जाना पड़ेगा। लाख हो वही घर तेरे लिये अपना है। वहाँ जाने में तुझे क्या इन्कार हो सकता है? इस बार मैं उन लोगों से वचन ले लूँगी—किसी प्रकार का कुव्यवहार तेरे साथ न होगा। मेरी बच्ची के शरीर को पशुओं की तरह रौंदा जाय—जब वह

'हिस्टीरिया' के फिट में पड़ी हो--मैं नहीं बरदाश्त कर सकती। उस घड़ी की कल्पना करते ही मेरी छाती के अन्दर मसोस उठती है·····पढ़े-लिखे लोग ऐसा अत्याचार कर सकते हैं·····मैं सोच भी न सकती थी·····'

'अभी तुम्हें नहीं मालूम नानी! कान्यकुब्जों के यहाँ लड़कियाँ लकड़ी और कंडे रखने वाली गन्दी अँधेरी कोठरियों में सोने के लिये मजबूर की जाती हैं ताकि उन्हें साँप काट ले और उनके सास-ससुर लड़के की दूसरी शादी कर दहेज का पैसा पा सकें। सारे भारत में नारी-समाज पर ऐसे हृदयहीन अत्याचार किये जाते हैं। अखबारों, पत्रिकाओं, पुस्तकों में जो निकला करता है सब सच है नानी! यही कारण है सदियों से हम गुलामी के बूटों की ठोकर सह रहे हैं। ऊपर से शान्त सुव्यवस्थित दिखने पर भी हमारे समाज के प्राण में प्रलय और विनाश चिल्ला रहा है·····हम पशु की तरह कमीने जघन्य हो गये हैं। हमारे पतन की सीमा नहीं। भगवान के विषय में अधिक न जानते हुए भी मैं कह सकता हूँ--माफ़ कर देते हैं। पर नर, नारी को कभी नहीं माफ़ करता। भूखे भेड़िये की तरह गले में निरंकुशता का पट्टा डाले चारों ओर दौड़ा करता है·····मौका पाने पर क्या-क्या नहीं करता·····'

'ठीक कहते हो भैया! ऐसे लोग किसी भी सीमा तक जा सकते हैं। उन्हें स्वर्ग-नर्क का भय नहीं होता। मैं अभी चुप हूँ·····बाद में चुप न रहूँगी। उस दिन मैं इसे यहाँ लाने की धुन में थी। अब मैं उन लोगों में खोल कर बात करूँगी। उन्हें जो करना होगा करेंगे। मेरे कहने-सुनने से कुछ बनता-बिगड़ता नहीं। एक बार जब तक बाप-बेटे को जी भर फटकार न दूँगी तब तक शान्ति न मिलेगी। कमीनेपन की हद है! अभी दूसरी बार ससुराल गई थी·····अभी से ऐसी प्रताड़ना! कुछ दिन बीत जाने देते। उनकी तो हो गई सदा को अब! चाहे जैसे रखते। नई बहू होने का भी ध्यान न आया। वह गँवार मारता रहा·····यह दोनों चुपचाप बैठे रहे·····'

'बैठे ही न रहे होंगे·····उसे कुरेदते रहे होंगे—उसके क्रोध की

आग में ईंधन डालते रहे होंगे। बुढ़िया उतनी सीधी नहीं जितनी देखने में मालूम पड़ती है। जहर की पुड़िया है। जवानी में सुना है दादा उसे बेरहमी से मारते थे। ऐसी सासें भला बहू को पिटवाये और पुत्र द्वारा नुचवाये बिना मान सकती हैं? उनके भीतर जहर पला करता है। एक गंजी निराशा उन्हें काटती रहती है। आशा और आकाँक्षा की ज्योति नहीं—बीते युग की उत्पीड़क आकृतियाँ उनकी आँखों से झाँकती हैं। कोई भावात्मक या दिमागी लगाव उन्होंने कभी मंजु के लिये अनुभव नहीं किया। दाम्पत्य या विवाहित जीवन की अति साधारण, टुकी-पिटी ऐन्द्रिक परम्परा में आगे वे लोग कभी उसमें एक सर्जीव चित्र न देख सके। यही कारण है, मंजु की जीवन्त कल्पनाओं को कभी रक्त का प्राणद प्रवाह न मिल पाया। एक गुड़िया से अधिक—अपनी कामना की पूर्ति की पुतली से अधिक किशोर उसे समझ ही न पाया।'

'भाग्य की बात है बेटा! नहीं काहे को आज इतनी बड़ी दुश्चिन्ता झेलनी पड़ती। सोचा था भले घर में बेटी जायगी·····उसे सुख पाते देख हमारी छाती ठंडी होगी। पर वहाँ इसे कितने मिथ्या-चार, निर्लज्ज बर्बरता, कुटिलता और अपमान न सहने पड़े! विवाह के पहले दो चार साल जो सपनों को सजाते-सजाते बीतने थे, रोते-कलपते बीते। तुम इसे रास्ता दिखाओ। ऐसा करो कि यह अब और दुख न पाये। जो हो गया वह मिट नहीं सकता। लेकिन अभी कितनी कटी हैं! अभी पूरा जीवन बाकी है। उन लोगों की ओर इसकी सुमति बनी रहे यह मैं चाहती हूँ। कोई न कोई रास्ता भगवान् निकाल देंगे।'

वे चले गये। मैं घर में आकर एक ओर थकी-थकी चारपाई पर लेट गई। मुझे फैसला करना है! प्रतिक्षण बहते रहने वाले को कर्म की तूफानी धारा में ठहराव कहाँ? कहाँ है उसे एक पल का विश्राम? भले उसके मन का आदमी दुनिया में न मिले और वह संगीहीन हो। भीतरी प्रयोजन के लिये मैं एकाकिनी थी ही·····बाहरी प्रयोजनों के लिये—सृष्टि और स्वार्थ के लिये भी मैं अब अकेली रह गई। कैसी

निरासक्ति और निर्लिप्तता का निरुद्देश्य अभिनय मुझे करना होगा! जीवन-यात्रा के पथ में अब जैसे कोई नहीं, कोई आयोजन नहीं।' मैंने माँ को अलग बुलाकर सहमते-सहमते अपने गर्भ की बात बताई। माँ को विशेष आश्चर्य न हुआ। इतनी बड़ी अवस्था में विवाह होने पर लड़की को माँ बनने में अधिक समय नहीं लगा करता--वे जानती थीं। लेकिन.....इन नई स्थितियों के बीच इस समाचार ने उनके भीतर कौन-सी प्रतिक्रिया उत्पन्न की यह मैं जान न सकी। बोलीं--'तूने अपनी सास से बताया या नहीं? कितने दिन से.....!'

'अधिक नहीं माँ! अभी महीने-डेढ़-महीने से अधिक नहीं।' माँ की समझ में जैसे कुछ न आ रहा था। मैंने सास-ससुर तक यह बात नहीं पहुँचाई यह जान कर वे डूबने-उतराने लगीं..... जैसे क्षितिज सिमटकर उनकी गर्दन को रस्सी की तरह जकड़ने लगा। वे दूसरे ही क्षण बड़ी सतर्कता से अपने चेहरे का भाव छिपा कर कुछ लज्जित हो चलीं। उनके दिन भी जल्द निकट आ रहे थे.....इस बार शायद उन्हें अपनी इस परिणति पर लज्जा अनुभव हुई। माँ और बेटी का साथ-साथ बच्चे जनना--यहाँ तक कि पुत्र-वधू और सास का साथ-साथ लड़के पैदा करना हमारे देश में साधारण बात है। मेरी माँ साधारण स्त्रियों से अधिक सुसंस्कृत और ऊँचे मानसिक स्तर की थीं। मन ही मन लज्जा के उमड़ते भराव को छिपाकर बोलीं--'भगवान् की महिमा है। वह जो करता है कल्याण के लिये करता है। तू चिन्ता न कर। पहले पहल का मामला है—बड़ी सावधानी से रहना होगा। अपने मन को हर प्रकार से प्रसन्न, प्रमुदित रक्खा कर। तुझे अपनी सास से जिक्र कर देना था।'

मैंने कहा—'माँ! तुम बाबू से कुछ न कहना। मुझे बड़ी शर्म आयेगी। यह कहाँ का जंजाल पीछे लगा। मेरा दिल घबरा उठता है।'

मा उठते बैठते मुझे धीरज बँधाती। प्रकाश दो-तीन दिन के भीतर मेरे लिये ईसाइयों की कन्या-पाठशाला में ८०) मासिक की नौकरी ठीक

कर और मुझे नियुक्ति-पत्र दिलाकर चले गये। मैंने तुरन्त जाना शरू कर दिया। माँ ने रोका भी—अभी तुझे जल्दी क्या है। पिताजी को सहारा मिल गया। बड़ी माँ, भैया के भाइयों और भाभियो ने बहुत रोका पर मैंने स्वीकार न किया। जीवन का प्रश्न-चिह्न साँप के काले फन की तरह कढ़-कढ़ कर फुंकार रहा था। मैं किसी का उपकार क्यों लूँ? बड़ी भाभी ने यहाँ तक कहा कि चाँद की अन्तिम इच्छा का उनके निकट विशेष मूल्य है। मैं बाहर नौकरी करने न जाऊँ। घर के बच्चों को पढ़ा दिया करूँ—वेतन-स्वरूप जो चाहे ले लूँ। मैंने इन्कार कर दिया। बड़ी माँ ने रोते-रोते गले से लगा लिया पर मैं न डुली। जिस घर में बहिन का गौरव और वैभव पा चुकी हू वहाँ 'ट्यूट्रेस' बन कर कैसे रह सकूँगी? भैया के न रहने के बाद उस घर की प्रत्येक चीज़ छल से भरी ज्ञात होती थी। वहाँ पहुँचते ही कोई मेरी नसों को झकझोर देता था। फेफड़ो में जैसे कोई फुफकारती नागिन घुस आती थी। उद्विग्नता के कारण देह में आग की आँधी चलने लगती थी। मेरी सारी ममता, सहानुभूति·····प्रेम धुआँ हो जाता था। पर अब पढ़ना और पढ़ाना·····मुझे बड़ा बोध मिलता था। कभी-कभी उन छोटी-छोटी, बड़ी-बड़ी लड़कियों को पढ़ाते-पढ़ाते मैं सोचने लगती—इनमें से न जाने कितनी मेरी तरह जीवन के रेगिस्तान में बन्द कर दी जायेंगी। मन में दुशकायें अपना जाल बुनने लगतीं। मैं ज्वराक्रान्त न होते हुए भी एक कठिन चिन्ता और पीड़ा से क्षीण-प्राण हो उठती। यौवन और प्यार के गीत का प्रथम चरण लिखनेवाली ये कोमल-वयस गुलाब और चम्पे की कलियाँ भावना के सुकुमार बन्द खोलना सीख रही हैं! जीवन की चक्की की घर्र-घर्र में एकाकार हो ये ही सामाजिक अत्याचार के इतिहास का निर्माण करेंगी। इन अभागिनो का दर्दीला अतृप्त स्वर तब कौन सुनने जायगा? पढ़ाते-पढ़ाते मैं देखा करती—कल्पना की आँखों द्वारा—किस प्रकार कादम्बरी पति के द्वारा पीटी जाती है—कुसुमा सास के द्वारा प्रताड़ित की जाती है और नयना एक दिन

गर्भावस्था में किसी कारणवश घर से निकाल दी जाती है। एक अति मानवीय वरन् दानवीय आक्रोश से मैं भर जाती·····ज्ञान और विकास का अभिशाप मुझे स्पष्ट दिखाई देने लगता। देहात की बेपढ़ी-लिखी कृषक-बालायें कितनी सुखी रहती हैं! सूखी रोटी और मेथी-चौराई का साग वे कितने प्रेम से खाती हैं। उनके सन्तोष की सीमा नहीं होती। लहराते बादल-सी वे खेत की मेड़ों पर मुस्काती चलती हैं। 'सबसे अच्छे मूढ़—जिन्हें न व्यापे जगत-गति'—के अनुसार उनका मन सांसारिक विद्रोहों से कितना अछूता रहता है! बाद में तकलीफ में घुल-घुलकर जलते रहने पर भी अपने पति के लिये साधन और सुविधा जुटाने वाली वह गरीबिन नारी खगकुल की भाँति जीवन के वातावरण को मुखरित करती है। पर रङ्गीन साड़ियों में छोटी और बड़ी तितलियों जैसी दीखने वाली इन निम्न और ऊच मध्यवर्ग की लड़कियों का क्या होगा? कब तक यह आनन्द और आह्लाद की मुद्रा टिकेगी? जब इनकी पावनता, शील, नारीत्व पर जीवन का कलंकित ठप्पा पड़ेगा तब यह मीठी मुस्कान और सीधे जवाब कहाँ रह जायँगे। जब मजदूरों की तरह जीवन में जुतना पड़ेगा·····कहीं किसी ओर से निकास न दिखेगा तब क्या होगा? जब शरीर की सारी शक्ति पति-रूपी मशीन के टुकड़ों पर उतार कर रख देनी होगी तब इनकी नसों की प्राण-वाहिनी शिराओं में शेष क्या बचेगा? क्यों इन सबको नारी-योनि मिली? क्यों न ये किसी मशीन का टुकड़ा हुईं? पिटती जातीं·····केवल पिटती जातीं। कब तक ये जीवन का काला मैल छीलती रहेंगी? मैं इन बच्चियों को पढ़ाते-पढ़ाते न जाने कितनी बातों की कल्पना कर मन ही मन खून का घूँट पी रह जाती। पैसा मिलेगा ·····रोटियाँ मिलेंगी; पर इनका अचल सोहाग इन्हें खा जायगा—जैसे इनका पूरा व्यक्तित्व खा जायगा। जीवन का अच्छा, बुरा, कूड़ा-कंकड़, कीचड़-बदबू सब न जाने कहाँ-कहाँ समा जायगा। नारी कही जाने वाली ये सब पैसे के मोल अपने को बेच कर ज़िन्दगी जियेंगी। जब मन का यौवन ढल कर राख हो जायगा—मेरी तरह—तब चाँदी के

टुकड़ों का या सन्तान-रूपी हड्डियों के टुकड़ों का मोह केवल इनके सामने रह जायगा। उनके बदले ये जीवन की शान्ति बेचेंगी! यह सोचते-सोचते मेरे तन के कंपित रोम-रोम में झुटपुटा अन्धेरा छाने लगता। इन्सानियत के कोरस को ठुकरा कर यह नाचना, थिरकना, बहकना कब तक चलेगा? रात की काली चादर मेरे शरीर से लिपट कर जैसे खून चूसने लगती.....

अध्यापन से जो समय बचता उसमें मैं बी० ए० की तैयारी करती थी। प्रकाश के पत्र बड़ी माँ के पास आते रहते थे। उन्हें सुनकर व्यग्र .....मतवाले उल्लास के उर्ध्वंग शरों से विद्ध जीवन मेरे भीतर जाग उठता था। मर-मर कर भी जी उठने वाली मानव की जो सुख और संपूर्ति पाने की शाश्वत लालसा होती है, वह जीवन और जागृति की गलबहियों में बद्ध द्रुति गति से उमड़ पड़ती थी। मैं माँ के पास से उन पत्रों को ले आती.....कभी-कभी जब काल-चक्र की भीम गति में पैर उखड़ने लगते तब उन्हें पढ़ लेती। न जाने क्यों वे मुझे पत्र न लिखते थे.....मेरे भीतर उनकी मनुहारभरी मूर्ति जब प्रलय-घन-घटा की तरह उमड़ पड़ती तब मैं उन्हें पत्र लिखने के लिये बेचैन हो जाती। क्यों वे मुझे इतनी दूर रखते हैं? मेरे पास तक आने के लिये क्या बड़ी माँ का माध्यम जरूरी है? आइने में ऐसा सोचते-सोचते जब अपना मुँह देखती तो गाल की नसों से रक्त बरस उठता। पर मेरी झुकी गर्दन झुकी ही रह जाती। भैया की सुधि आने पर वह जैसे गर्व और अभिमान से तन जाती थी वैसी उस समय तन न पाती थी। आज-कल प्रकाश नागपुर में थे। थोड़े समय के लिये प्रान्तीय सरकार ने उन्हें पब्लिसिटी आफ़ीसर का पद प्रदान किया था। लेकिन काम उनसे हो न पाता था.....वे शीघ्र अपने कालेज में लौट जाने वाले थे। वेतन अधिक होने पर भी काम उनकी रुचि के अनुरूप न था। मैंने बड़ी माँ से एक दिन कहा—'आप उन्हें लिख दीजिये दशहरे की छुट्टियों में यहाँ आ जायँ। मैं उनके साथ पढ़ना चाहती हूँ। बड़े दिन में वे आ न सकेंगे

और गर्मियों तक क्या होगा कौन जाने। जिन्दगी किस चट्टान से टक्कर न खा जाय!'

बड़ी माँ ने उन्हें लिख दिया। वे कभी उन्हें पत्र न लिखती थीं पर मेरी बात कैसे टालती? मैं एक-एक दिन अधीरता से बिता रही थी। जैसे बैसाख का आकाश बादलों के लिये आकुल हो उठता है उस प्रकार मैं उनके लिये कभी-कभी एक परम आह्वान का अनुभव करती थी। उनकी काल्पनिक मूर्ति का ध्यान आते ही जैसे जड़ता से मुक्ति मिल जाती थी। शरीर में उत्साह भर आता था·····गति को चंचलता मिलती थी। अपने इस परमुखापेक्षी मन को देख तो न सकती थी पर उसके कंपनशील आनन्द की पुलकाकुल अनुभूति कर लेती थी, उनके सामने जाने में कुछ लाज लगेगी क्योंकि पहले जैसी हल्की-फुल्की अब न रह गई थी। स्कूल पढ़ाने जाती थी—बाहर निकलती थी पर मन के भीतर अपने आप छिप न पाती थी। प्रतिमास बढ़ता हुआ भीतर जो एक बिजली का रूप, नाम-गन्ध और गूँजहीन किन्तु प्रसरणशील ज्योति-बिन्दु है उसे कब तक प्रकाश से छिपा सकूँगी—कैसे छिपा सकेगी? एक अविजानित कँप-कंपी मेरी देह में दौड़ जाती। इस बीच माँ की 'डिलिवरी' हो चुकी थी·····मैंने इस बार अपने भवितव्य की ओर देखते हुए उनकी प्रसव-पीड़ा अधिक ध्यान से देखी·····इस बार दाई के साथ मैं बराबर अन्दर रही। बिखेर देने वाली असह्य·····विदारक वेदना होती है·····जब माँ का सातवें-आठवें दफे यह हाल है, तो मैं····· किसे पुकारूँगी·····कौन इस आततायिनी पीड़ा से मेरी रक्षा करेगा। कैसे इस अन्धकार को फाड़ सकूँगी? कौन भय इस पाशविक हिंस्र गति से मुझे सता रहा था! कौन मेरे भीतर बढ़ते·····प्रतिमास अङ्गों को काढ़ने के लिये अधिकाधिक परिपक्व होते इस जीवन की यादगार को स्पन्दनशीलता प्रदान करता है·····कौन रात को सो न पाने से हो जाने वाले वाले सिर-दर्द की तरह हल्का-हल्का-सा बोझ मेरे तन-मन पर डालता रहता है मेरी लाज की सीमा नहीं·····

:६:

दशहरे की छुट्टियाँ हो चुकी थीं। दोपहर में घर में अपने कमरे में मैं पढ़ रही थी। माँ ऊपर के अपने तिमंजले कमरे में नवजात शिशु को लिये पड़ी थीं। पिताजी दफ्तर गये थे। एक मीठा-मीठा सा—कुआँर की दोपहरी वाला सन्नाटा छाया था। सीढियों पर जूतों की आहट पा मैं सँभल कर बैठ गई। वस्त्र सँभाल लिये·····सामने प्रकाश को देखते ही खड़ी होकर प्रणाम करने लगी। आज और दिन वाली मंजु मैं न थी। प्रतिक्षण मुझे अपने दोहरे अस्तित्व का अहसास था। ठीक से खड़ी न हो पाती थी यद्यपि अभी कोई ऐसी बात न थी। प्रकाश ने सामने कुर्सी पर बैठे हुए कहा—'कहो! तुम मज़े में हो! तुम्हारा आदेश गया—मैं आया।'

'आदेश क्यों—विनय कहिये। आने ही से काम न चलेगा। आप को छुट्टी भर यहाँ रहना होगा·····मेरा कोर्स तैयार कराना होगा। न मेरे पास किताबें हैं न नोट्स। आप कहाँ ठहरें हैं?'

'होटल में ठहरा हूँ इस बार। वह मेरे किये होटल नहीं। मेरे एक सहपाठी ने खोल रक्खा है—

स्टेशन रोड पर। चाँद के घर से आ रहा हूँ। तुम कैसी हो? कुछ बीमार जान पड़ती हो—ढीली-ढीली, उदास! चेहरा इतना पीला क्यों पड़ गया है। मेहनत अधिक करनी पड़ती है। हफ्ते में कितने 'पीरियड' लेने होते हैं?

'जी नहीं बिल्कुल अच्छी हूँ। आपने खाना खा लिया?'—मैंने खड़े खड़े, पर आँखें फर्श पर स्थिर किये हुए कहा—'मेरे बहिन हुई है! आप को सुनकर खुशी होगी। माँ ऊपर हैं? शायद उसके तेल लगा रही हैं। आप को नागपुर से सीधे आना पड़ा?'

'मैं कलकत्ते से आ रहा हूँ। एक सरकारी काम था। दादा की बड़ी बेहूदी चिट्ठी मेरे पिता के पास गई थी जिसमें तुम्हारी और मेरी अकथनीय, अवर्णनीय शिकायतें थी। मेरे चरित्र पर भी आरोप थे। मेरे व्यवहार में परिवर्तन न हुआ तो फल भयानक हो सकता है यह धमकी दी गई थी। वे थोड़े दिनों तक तुम्हारे माता-पिता की राह देखेंगे। वे तुम्हें ले जाकर .....हाथ जोड़ कर उनके चरणों पर डाल आवेंगे तब तो तुम्हारे लिये रोटी-कपड़े का प्रबन्ध है। वर्ना वे अगली गर्मी में अपने लड़के की दूसरी शादी कर लेंगे? तुम्हारे पिताजी के पास भी इस आशय का पत्र आ गया होगा?'

'अभी तक मेरे यहाँ उनका कोई पत्र नहीं आया। न आये अच्छा है। उन्हें जो करना हो करें। मैं उनके घर अब जीवित न जाऊँगी। आपको होटल में ठहरने की ज़रूरत क्या थी? आकर मेरे मकान में ठहरते। यह आप का अन्याय है! भैया के यहाँ ठहर जाते तो मुझे संतोष होता लेकिन.....लेकिन.....'

'लखनऊ मैं मेहमान हो कर नहीं आता। यहाँ की मिट्टी से मुझे प्रेम है। मेरा घर है यह! तुम मेरी फ़िक्र छोड़ो! आज बड़ी माँ के पास से जब भाभी के कमरे में गया तो वे तुमको लेकर मज़ाक करने लगीं।' मैंने उनसे केवल इतना कहा—'तुम मेरे लिये पूज्य हो। तुम्हारे सम्बन्ध में इस तरह की बात उन्हें मुझसे न करनी चाहिये। तुम जानती हो उन्हें।

मज़ाक नहीं करती·····जब करती हैं बेरहमी से करती हैं। इसके बाद वे शपथ खाने लगीं·····तब मैं स्तब्ध रह गया·····मज़ाक में आदमी शपथ नहीं खाता·····'

मैं समझ गई। पर उनकी सरलता पर पहले की भाँति मुग्ध न हो पाई। उनकी दृष्टि में एक कोमल तीखापन था। मैंने कहा-'आपने ठीक सुना है। बड़ी भाभी मुझको लेकर मज़ाक न करेंगी। यह अगर मज़ाक है तो वाक़यात का मज़ाक हैं। आप को उनकी बात पर अविश्वास क्यों हो रहा था? क्यों मुझसे आपने पक्का करना आवश्यक समझा? बात ठीक है। मैं जनवरी फरवरी तक माँ बन जाऊँगी। जिसकी कभी कल्पना न करती थी·····जिसे भूल कर इस जीवन में न चाहती थी वह हो रहा है·····वह आ रहा है। मैं कैसे उसे प्यार करूँगी·····कैसे उसके प्यारे को सह सकूँगी·····क्या सन्तान के साथ शक्ति आती है·····मैं कैसे उसे जीवनदान दूँगी जो मेरे अङ्ग-अङ्ग का दंश है·····' कहती-कहती मैं सारी लज्जा खोकर सीधे उनकी ओर देखने लगी। पहले व्रीडा जाती रही। वे जान गये हैं। बड़ी भाभी से सब सुन आये है·····मैं अब होश में थी।

'व्यर्थ का 'क्राइसिस' आ गया है तुम्हारे सिर पर। कोई बात नहीं। तुमने खुशी-खुशी ब्याह किया था तो इसकी परणति जानती थीं। जो होगा देखा जायगा। एक काम जरूर करना। अपने पिता जी के साथ बड़े अस्पताल में जाँच करा लेना। बराबर हर महीने या पन्द्रहवें दिन कराती रहना। बड़ी भाभी को सब पता रहता है। मुझे सुनना गवारा न था···· जाने कैसा लगने लगा।'

'अब देखना पड़ेगा। क्यों आप को यह सब इतना असंभावित, अकल्पनीय लगता था? बड़ी माँ ने कुछ नहीं कहा···उन्हें पता होगा।'

'पता सबको होगा। कोई किसी से कहता फिरता है! मेरे लिये इसमें कोई विलक्षणता या असंभवता न थी पर मैं तुम्हें इस दलदल से दूर

देखना चाहता था। आश्चर्य है दादा ने पिता जी को पत्र में यह बात न लिखी!'

मैं कुछ न बोली। उन्होंने फिर पूछा—'उन लोगों को ज्ञात है न तुम्हारा यह कृतित्व! न लिखा हो तो अब लिख देना। कम से कम किशोर को मालूम हो जाय। अपने पिता से कहो—वे दादा को लिख दें। अक्सर इस तरह के मामलों में ग़लत-फ़हमियाँ हो जाती है। तुम्हारे स्वतंत्र विकास में यह मातृत्व बाधक होगा.....'

'मैं जानती हूँ'—गीली मिट्टी जैसे आर्द्र स्वर में मैंने कहा—'पर करूँ क्या? चुपचाप यह चोट सहूँगी। घुट-घुट कर इस अपमान को पियूँगी.....एक अमानव के प्रतिरूप को मानव बनाने का यत्न करूँगी.....कैसे.....कब तक.....मैं अपने को कुचल कर—अपने को कूट कर उसे तैयार करूँगी--कर रही हूँ।'

तरह तरह की बातें होती रहीं। शाम को उनके लिये चाय बनाकर लाई तो वे उतावली से आती हुई मुझको एकाएक अपने पास ठिठकते .....रुक-रुक कर धीमा पड़ते देख विस्मित हो चले। जैसे मेरी मनःशक्ति को परख न पा रहे थे। चाय पीते-पीते बोले—'किशोर का ब्याह दादा ने किया तो उनसे बढ़कर नराधम दूसरा न होगा। किशोर इस ताक में है। वह नारी को लेकर अधिक से अधिक उन्माद लूटना चाहता है। नारी उसके लिये पूजा.....आदर की नहीं भोगे जाने की पाशव क्रिया है। वह यों भी नई-नई ढूँढ़ा करता है। जबसे दादा का पत्र गया मैं बराबर यह सोचा करता हूँ। मैं जानता हूँ तुम वहाँ न जाना चाहोगी.....'

मैंने कहा—'आप दूसरी बात करिये। उन लोगों की चर्चा में मुझे कोई दिलचस्पी नहीं। वे एक नहीं चार करें। मुझे शान्ति से यहाँ रहने दें। आप इस प्रसंग में उनसे कभी कुछ न कहें.....न कोई पत्र लिखें।'—कहती-कहती मैंने अपनी आँसूभरी आँखें दूसरी

ओर फेर गम्भीर विषाद की उलहने-भरी मुस्कराहट प्रकट करने की चेष्टा की—पर सफल न हो पाई।

बड़े-बड़े टूटे से झोंकों में खिंचने वाली मेरी साँस और अस्पष्ट हिचकियों से वे मेरी वेदना पहचान गये। पढ़ने-लिखने और स्कूल की बात करने लगे। कल से वे नियमित रूप से मुझे पढ़ायेंगे ताकि मेरा समय नष्ट न हो·····आगे चलकर जो महीने दो महीने खराब हों उनकी कसर निकल आये। चाय पीकर वे चले गये। मैं नीचे दरवाजे तक उतर उन्हें भेजने आई। नीचे की आखरी सीढ़ी पर जब वे पहुँचे तो मुझे ऊपर लौटने के लिये कहते हुए उन्होंने मुँह फेरा। उनकी साँसों का मर्मर बहुत मीठी पुरानी शीराजी के फेन की तरह मेरी नासिका के रन्ध्र-रन्ध्र में प्रविष्ट हो गया। मैं अतिशय कंपन के आवेग से अपना आँखों को दबाती लौटी।

कमरे में टेबिल पर चाँद भैया का बड़ा-सा फोटो रक्खा था जो मैं बड़ी माँ के कमरे से ले आई थी। प्रकाश को नीचे तक भेज आने के बाद मैं आकर उनके सामने खड़ी हो गई। एक दुर्दम प्रेरणा से मैं चित्र के फ्रेम पर अपनी ठोड़ी रखकर जोर-जोर से लम्बी गहरी साँसें लेने लगी।·····एकाएक मुझे झटका लगा जैसे किसी ने बिजली का जीवित तार छुआ दिया हो। किसी प्रकार फोटो को नीचे जमीन पर गिरने से रोक उसे यथा-स्थान रख मैं फिर पलँग पर बैठ गई। मेरा चित्त ठिकाने न था। न जाने किससे क्या-क्या पाने की अत्यंत उत्कट अनुभूत जाग्रत हो रही थी। शरीर तन-तन कर काँप उठता था—काँप-काँप कर तनता था·····मैं देर तक भैया की तस्वीर के सामने टेबिल पर सिर टेके रोती रही। रोने से—केवल अविराम अश्रुधार से शरीर मे शीशा उबालने वाली यह तपिश मिटेगी! मैं बीच-बीच में आँखें खोल फिर मूँद लेती थी। क्यों मेरी परीक्षा ले रहे हो देवता? जो तुमसे न मिला—विवाहित स्वामी से न मिला (पाने की चेष्टा करने पर भी) वह अब और किससे मिलेगा?

मन के भीतर यह कहाँ का उन्माद है जो आज सँभाले नहीं सँभलता? ज्वालामुखी से सदेह निकल आने के बाद यह फूलों पर बैठने की साध कैसी? कहाँ हो मेरे स्वामी? मेरे युग-युग के प्रेरणा-दाता? रक्षा करो? मुझे बल दो? पूरा जीवन रोते बीतना है। दुख मुझे चाहे जितना दे दे पर ये प्रवृत्ति के प्रेरक संकेत अब न दो! जो सह चुकी उसी को लेकर अब जीवन का रीता पात्र भरने दो।

× × ×

छुट्टियों भर में उनसे पढ़ता रही। उनका अधिकतर समय मेरे साथ बीता। न जाने कहाँ-कहाँ से चिट्ठियाँ, तार उनके पास आये पर वे न गये। जाते भी कैसे! मेरा कितना ख्याल था उन्हें। पर मैं उन्हें बदले में क्या दे सकी थी—दे ही क्या सकती थी? कितनी अकिंचन अपदार्थ थी मैं। भीतर-भीतर तबियत घुमड़ कर रह जाती थी। कौन नारी होगी जो उन जैसा पुरुष पाकर अंगीकरण की लालसा से प्रोज्ज्वल न हो उठे? मेरे पास क्या बचा है जो उन्हें दूँगी? कभी उन्हें कुछ देने योग्य थी भी? मेरी आत्मा में एक काटने वाली—हो-हो कर काटने वाली—काट-काट कर होने वाली पीड़ा लहरें लिया करती। पर मन की सारी उद्भ्रान्ति और असंयम को दबाकर पढ़ने में ध्यान लगाती। पढ़ाते-पढ़ाते जब कभी वे आवेग में आ जाते तो किताब ढँक देते। मैं उनकी बातें—उनके विचार और गहन चिन्तन की सूक्तियाँ बराबर सुना करती। घंटों बीत जाते पर मेरा मन न भरता। सामने छत पर मेरे पिता, भाई, माता सब अपने काम किया करते.....मैं मन ही मन उनकी प्रतिभा के नोट्स बनाया करती। कितना छोटा था मेरे मस्तिष्क का घट! उसमें ज्ञान और पाँडित्य को यह परिपूर्णता कैसे रह पाती? उनके चले जाने के बाद मैं याद करने की—उनके पढ़ाये विषयों को दोहराने की चेष्टा करती.....हाथ लगती केवल एक मानसिक, आत्मिक परिपूर्णता जो मेरे जल से भरे जैसे शरीर ने छलक पैदा कर देती। मैं

उनका अगाध अध्ययन देखकर मुग्ध हो जायी। मुझे उतने ही सहज आत्म-विश्वास और सरलता से पढ़ाते जैसे मैं बी० ए० की छात्रा न होकर शिशु-वर्ग की विद्यार्थिनी होऊँ। मनुष्य क्या है—उसके जीवन का अर्थ और संगति कहाँ है—उसके उद्भव—उसकी जीवन-व्यवस्था .....उसकी चरम परिणति—उसके भाग्य की निर्माणक रेखा कहाँ तक चली जाती है—किस सीमा तक वह अपने ज्ञान और वश के बाहर परिस्थितियों का प्राणी है—कहाँ से वह प्रकृति का खिलौना और देवताओं के विनोद की सामग्री बन जाता है—यह सब वे मुझे बताते न थकते थे।

लेकिन वह केवल अकर्मक सृष्टि नहीं निर्माता भी है। सृष्टि के निर्माण की चेतना उसके भीतर अनादि काल से विकसित होती रही है। कैसे वह जगत के 'रा-मेटीरियल्स' को लेकर अपने प्रतिरूपों का सृजन करता है। सूर्य की गर्मी, पत्थर, पेड़, मिट्टी, अपने शरीर और अंगों की सहायता से वह इस दुनिया को अपने मन के साँचे में ढालने की चेष्टायें करता जाता है। यहाँ तक कि प्रकृति का अधिकतर भाग उसी की छाया बनकर रह जाता है—उसकी इच्छा और जीवनादर्शों को प्रतिबिम्बित किया करता है। इन्हीं सनातन-प्रश्नों का ऊहापोह वे करते रहते थे। मानव संस्कृति की प्रत्येक सीढ़ी-प्रत्येक युग और सामाजिकता के क्रमिक विकास के विराम-चिह्नों को समझाया करते थे। मानव-जीवन से सम्बन्धित सारे प्रश्न 'मृत्यु' की समस्या से और बहुमुख हो जाते हैं। ज्ञान से अभिशप्त होने के कारण समस्त प्राणियों में मानव ही ऐसा प्राणी है जो अपनी मृत्यु की चेतना से अवगत रहता है। इतर प्राणधारियों की भाँति वह अपने अन्त को इतने स्वाभाविक रूप से, आसानी से नहीं स्वीकार करता। अमरता की उत्कट आकाँक्षा आजीवन उसके भीतर क्रन्दन करती रहती है। ज्ञान के जिस वृक्ष के सेव ने मानव को—आदि मानव को असद् और सद् का विवेक दिया, उसी ने एक दूसरा, पर अधिक कड़ुआ फल भी उगाया जिसे मानव ने उसकी शाख से तोड़ा। वह था मानव के वैयक्तिक जीवन की

लघुता का ज्ञान और मृत्यु की 'फाइनेलिटी ।' इसी मृत्यु का अवरोध करने के लिये मानव नाना प्रकार से जीवन पर आग्रह करता है.....उसे बली बनाने का प्रयास करता है । अधिकाधिक और जीवनपर्यन्त उसका यह क्रम चलता है । यही नहीं मानवीय इतिहास को पढ़ने से पता लगता है कि उसके सर्वाधिक मूल्यवान प्रयत्नों का केन्द्र यही मृत्यु रही है.....जैसे समुद्र के किनारे खेलता बालक बालू का महल बनाता है.....अगली लहर के आने के पूर्व ही उसे तैयार कर लेना चाहता है । चट्टानों से काट कर बने मन्दिर, रेगिस्तानों की ऊँचाई चीरकर उठे 'पिरेमिड', काव्य और साहित्य में ईश्वरत्व की सर्वशक्तिमत्ता की हदों तक पहुँची मनुष्य की उपहासास्पद शक्ति की स्वप्नशीलता, चिरजीवी पाषाण प्रतिमाओं के रूप में अनूदित मानव-सौंदर्य.....कला के बन्दीपाश में आबद्ध, समय की विपुलता और असीमता.....अमरत्व की कैद में फड़फड़ाता हुआ उदात्त मानवी अनुभव.....ये सब क्या हैं ? मृत्यु प्रत्येक सजीव प्राणी पर घटित होती है लेकिन इस मृत्यु के सतत भय के भीतर से चिर-जीवन और अमरत्व की आकांक्षा केवल मानव ने निर्मित की है । अमरत्व और स्थायित्व की लालसा के भिन्न-भिन्न रूपों के बीच मनुष्य ने जीवन का अधिक अर्थपूर्ण रूप पा लिया है..... व्यक्ति की क्षुद्रता को उसने मानवता के 'अहं' के भीतर एक भरा-पूरा शक्तिसंगत स्वरूप प्रदान किया है—उसका माँगलीकरण किया है.....

पढ़ाते-पढ़ाते वे विषयान्तर कर देते पर मेरे ज्ञान की तृष्णा और धधक उठती । समाजशास्त्र की बातें और मानव की जीवन-संचयक और जीवन-प्रसारक क्रियाओं का इतिहास बताते-बताते जब वे वर्तमान सामाजिक व्यवस्था और अचल मर्यादा की कड़ी आलोचना करते, तब मैं अपने को भूल जाती । एक तीव्र मारात्मक विद्रोह और संहारिणी घृणा से मेरा रोम-रोम फूल उठता—मुझसे अधिक किसने इस जहर को पिया है.....कौन है जो मेरी तरह इसकी कठोरता का साक्ष्य दे सके ? उनकी बातों में मेरी जैसी न जाने कितनी उत्पीड़िताओं की आत्मा की भाषा

बोलती थी। रह-रहकर इन सबके विरुद्ध एक सर्वनाशकारी ध्वंस का कठोर स्वर ध्वनित हो उठता था। मुझे लगता मेरे मन के कमल के दल एक-एक कर खुलने शुरू हो गये हैं·····मैं पूर्ण विकास की ओर चली जा रही हूँ। भीतर-भीतर एक महान् जीवन को स्पर्श करने का अनुभव मैं करती थी। अनन्त प्रीति—सीमाहीन महासागर जैसी तरंगायित·····फेनायित ममता मेरे भीतर उमड़ आती थी। एक बार 'वर्डस्वर्थ' की पंक्तियो का भाव समझाते-समझाते वे आवेश में आ गये जो अपनी प्रखर ज्योति के कारण मेरे लिए असह्य था·····मैं अपने आपे में न रह सकी·····मेरे भैया जैसे आ कर प्राण से सट गये·····

She gave me eyes, she gave me ears,
And humble cares, and delicate fears,
A heart, the fountain of sweet tears,
And love, and thought, and joy.

वर्डस्वर्थ द्वारा अपनी बहन के प्रति लिखी गई इन पंक्तियो में मेरे जीवन की खंडित करुणा साकार हो उठी। मैं भी परिस्थितियों पर शासन करती हुई क्या लक्ष्य की अमर्त्य सिद्धि की ओर न बढ़ती जाऊँगी? मानती हूँ यह सब आदर्श है—over की चीज। लेकिन आदर्श मानकी शक्ति के परे होते ही हैं·····वर्ना पाने की प्रेरणा कैसे शेष रहे! 'वर्डस्वर्थ' की अधिकतर कवितायें मेरी समझ में न आती थीं। लेकिन 'कोलरिज' के लिये लिखी गई उसकी पंक्तियों को पढ़ाते-पढ़ाते वे जैसे चाँद भैया की याद से गद्‌गद् हो गये·····चित्र की ओर देखकर उनकी आँखें छलछला आईं·····पहली बार मैंने उनकी आँखों में आँसू देखे बड़े-बड़े, बिना टूटे गिरने वाले आँसू·····

There is a change--and I am poor
Your love hath been, not long ago

A fountain at my fond heart's door
Whose only business was to flow
And flow it did not taking heed
of its own bounty, or my need.

सचमुच मेरी यही दशा थी। मेरे भीतर ऐसी अन्तर्धारा नर्मदा के तेज पहाड़ी प्रवाह की तरह बहती रहती थी। यह धारा कहाँ-कहाँ न जाती थी·····चारों ओर तब लगने लगता था जैसे ईश्वर नहीं, सृष्टि नहीं—जन्म, जरा, मृत्यु और अवसाद, असंगति और अप्राप्य····कहीं कुछ नहीं। जहाँ तक दिखाई देता था मैं अपने को पाती थी। मेरे सुख का पथ चिर-दिन·····चिर-रात को पार कर लोक-लोकान्तर, जन्म-जन्मान्तर—ग्रह, नक्षत्र, जगत के पार महाकाश के सीमाहीन आलोक-सागर पार कर स्वर्गलोक को उद्भासित कर आता था·····

What happy moments did I count!
Blest was I then all bliss above!
Now, for that consecrated fount
Of murmuring, sparkling, living love
What have I ? shall I dare to tell.
A comfortless and hidden well

और अब ? अब जैसे जीवन में उच्च परिणति·····वह निष्पाप प्रेम····· वह अकलंकित नारीत्व, वह स्वर्ग-मर्त्य-विप्लाविनी प्रीति की माँगलिक चन्द्रलेखा·····कहीं कुछ नहीं·····कहीं कुछ नहीं·····

A well of love—it may be deep
And trust it is—and never dry
What matter ? If the waters sleep
In silence and obscurity
Such change and at the very door
Of my fond heart, hath made me poor.

कहाँ जाकर यह वेदना रक्खूँ·····किसके हृदय पर यह विषण्णता का दुर्वह भार उतारूँ·····कहाँ से हृदय को चैन लाकर दूँ·····कैसे अपने को भूलूँ·····भुलाऊँ·····!

मेरा मस्तक हिमवान जैसा ऊँचा हो गया। मुझे भी ऐसा, स्तर-स्तर को जगमगा देनें वाला प्यार मिला है। उसी ईर्षाशून्य, कपटशून्य भ व-जगत में बिना सीमा-रेखाओं के असंख्य मर्यादायें बँधी हुई हैं जो मेरे किसी मनोभाव, मेरी किसी क्रिया को नीचे के तल पर गिरने नहीं देतीं। ·····लेकिन आज मैं किधर जा रही हूँ·····मेरे जीवन की नौका कामना के किस बवंडर में पड़ कर दिग्भ्रान्त हो रही है! लालसा का यह कैसा महापात मेरे भीतर आता रहता है। क्यों प्रकाश के अधिकाधिक निकट—और ज्यादा·····और ज्यादा निकट होने की आकाँक्षा सुलगती रहती है! मुझे प्रकाश की वक्रता क्यों दिखती है! पढ़ते-पढ़ते मूक स्वर में भैया को पुकार उठती—आकुल हो हो पुकारती रहती·····तुम आओ·····समग्र हृदय को अपनी सत्ता से परिपूर्ण कर दो। अपने आसन पर आकर बैठो·····तुम्हारी स्मृति से ही काम नहीं चलता···मन के घने अंधकार के भीतर क्यों तुम्हारी मूर्ति बिजली की ज्योति-धाराओं की तरह नहीं फूटती·····क्यों यह नया अभिशाप बराबर मेरा पीछा करता है·····जहाँ न जाना चाहिये वहीं ले जाता है।

पढ़ाते-पढ़ाते एक स्थल पर प्रकाश ने मेघदूत के 'केन्टो' को पीछे छोड़ दिया और प्रेम की व्याख्या करने लगे। प्रेम की जिस अनुभूति ने मेघदूत और ताजमहल जैसी अमर कला-कृतियों को जन्म दिया है उसकी तृष्णा ·····आकुलता का अन्त नहीं। उस प्रेम की पुकार को सुनना पड़ता है—उस स्वर्गीय आत्म-निवेदन और आत्मा की माधुरी की गति को पकड़ना होता है। उसे संसार में कभी नष्ट न होने देना चाहिये। विवेक-स्थान जीवन में है·····बहुत बड़ा है। पर वह झूठा विवेक न होना चहिये। उस विवेक के पीछे आत्म-संतोष की साँसे होनी चाहिये·····दुःख भोगने की अशान्त वितृष्णा नहीं। उसमें अंगीकरण का वेग होना

चाहिए—निषेध और अस्वीकरण की विकृति नहीं। अपने सिर के बोझे को हल्का करने का, अपने दुःख को विदा कर उसके स्थान पर संतोष और सम्पूर्ति प्राप्त करने का दूसरा उपाय नहीं। मुझे लगा प्रकाश का हृदय असंख्य कथनीय·····अकथनीय बातों से भरा है जो कंठ से एक साथ बाहर निकलने के लिये धक्कमधक्का कर रही है। मैंने अनुभव किया—सचमुच हमेशा दुःख भोगते चलना जीवन का उद्देश्य नहीं।

———

:१०:

दशहरे की छुट्टियाँ बीत आई थीं। कल प्रकाश के जाने की तैयारी थी। पूर्णिमा की रात। छत पर हम दोनों बैठे उगते चाँद की कला देख रहे थे। चाँदनी जैसी निर्मल हँसी की छटा से उनकी दोनों आँखें चमक उठीं। पिताजी के किसी मित्र ने उन्हें सिनेमा का पास दिया था। तीन महीने की बच्ची लेकर मेरी माँ सिनेमा गई थीं। घर में हम दोनों थे। सारे भाई-बहिन माँ के साथ गये थे। पूरे परिवार का पास था। केवल मैं न गई थी। मेरा जी कभी-कभी भारी रहा करता था। उन्होने कहा—'तुम सिनेमा देखने चली जातीं तो क्या बुरा था? मन को मनोरंजन भी चाहिये। घर में दिन-रात पड़ी रहती हो। स्कूल जबसे बन्द हुआ तुम बाहर निकलती नहीं। इस तरह स्वास्थ्य बिगड़ जाता है! चलो टहल आयें। मुझसे तुम्हारा क्लेश नहीं देखा जाता.....'

मैंने कहा—'क्लेश कोई नहीं। भगवान् ने जो बोझ दिया है उसे ढो रही हूँ। सोचती हूँ—दो-तीन महीने स्कूल कैसे जाऊँगी। शरीर उठाये नहीं उठता.....मन भी अवश होता रहता है। लगता

है मैं बचूँगी नहीं। मेरे भीतर का पातक मुझे खा जायगा ? मानसिक मृत्यु हो चुकी·····शारीरिक भी हो ले·····'

सामने कुर्सी पर बैठे थे। उठकर खड़े हो गये। कोमलता से बोले—'ऐसी बातें नहीं सोचनी होतीं। मैं जानता हूँ नारी के जीवन में इतनी बड़ी शारीरिक यातना और वेदना दूसरी नहीं। पर तुम बहादुर औरत हो। सब झेल लोगी। स्कूल न जाओ। छुट्टी ले लेना। बिना तनख्वाह की देंगे न—और क्या करेंगे ? पर आराम से रहना। पढ़ने-लिखने में ज्यादा मेहनत न करना। नियमित समय से धीरे-धीरे थोड़ा-थोड़ा पढ़ना। अपने मन को निश्चित बेपरवाह रक्खा करो····· अब कोई उपाय नहीं। इस 'ऑरडियल' को पार करना होगा।'—कहते-कहते वे चुप हो गये। पर उनके मस्तिष्क की क्रिया की प्रतिच्छाया उनके चेहरे पर नाचने लगी·····मैं मुग्ध हो उसे देखती रही·····उनकी आँखों से मेरी यह मुग्धता छिपी न रह सकी। मुझे बराबर उनके पास अनुभव होता कि मेरा कोई है—अपना—अत्यन्त अपना·····बिल्कुल समीप का·····अपना तो यही। वर्ना क्या है मेरे पास ? इसे न खोऊँगी ·····इसे न जाने दूँगी। जैसे होगा इसे रोकूँगी—बनाये रखने की चेष्टा करूँगी·····अपना कर लूँगी। लेकिन उड़ते पंछी को पाना·····उड़ते बादल को बाँधना·····

मैंने कहा—'कहाँ चलियेगा ? घर पास कोई पार्क नहीं। यहीं बैठिये। ज्यों-ज्यों चाँदनी भरेगी त्यों-त्यों अच्छा लगेगा। आप जहाँ कहें चल सकती हूँ पर मुझे उत्साह नहीं रह गया। स्कूल खुलने पर क्या होगा ? कैसे इतने लोगों के सामने इसे लेकर निकलूँगी ?'

'तुम्हें शारीरिक आलस्य उतना नहीं जितनी लज्जा है। इस लज्जा में कोई सार नहीं। तुम्हारे मन में ग्लानिप्रद असौख्य है जिसका प्रतिबिम्ब तुम औरों की आँखों में देखती हो। लेकिन और लोग तुम्हारे भीतर की बात नहीं जानते। उन्हें इन सब असंगतियों और विरोधों का पता नहीं। वे क्या जानें तुम्हारे भीतर इतनी गहन वेदना इस गर्भ के साथ-साथ चल

रही। मन में विश्वास रक्खो·····जीवन-संग्राम में जूझने के लिये नया स्वास्थ्य, बल अपने में भर कर कर्म-क्षेत्र में उतरो। आजीवन लड़ने का संकल्प लेकर फिर लौटो·····ऐसी कायरता तुम्हें शोभा नहीं देती·····'

मैंने भीतर प्राण-शक्ति की उष्णता का अनुभव करते हुए कहा—'आप कल चले जायँगे। मैं रह जाऊँगी अकेली·····आत्महारा। मुझे क्यो लगता है—मेरी जीवन-शक्ति क्षीण होती जाती है····· अंगो में एक निःसत्वता आ रही है। बराबर लगता है अभी मुझे और अपमानित, तिरस्कृत होना है·····जैसे मेरे पापों का घड़ा अभी भरा नहीं·····अभी मेरा मुँह पूरा-पूरा काला नहीं हुआ·····' —कहते-कहते मैं जाने क्या सोचकर रो पड़ी·····मेरा सीना हिचकियों से उछलता था पर रोने का स्वर कंठ से निकल न पाता था·····अपना विकृत चेहरा मैं बिना आइने के देख रही थी।

उन्होंने कुर्सी और निकट घसीट ली। गालों पर टपकते मेरे आँसुओं को छुने की इच्छा जैसी कोई वस्तु अपने भीतर रहते हुए भी बिना हाथों को मेरी ओर बढ़ाये बोले—'रोओ मत मंजु! बड़ा निर्दयी विधान है यह! पर सहना होगा। यहाँ विद्रोह निष्फल रहेगा। इसे अब अघटित नहीं किया जा सकता। इस सम्बन्ध में मैं तुम्हें अन्यथा सलाह नहीं दे सकता। लेकिन तुम अपने को अपनी दृष्टि में दोष न दो। तुम्हें उस जानवर से कभी प्रेम की अनुभूति नहीं हुई तो उसकी सन्तान को कोख में पाल कर भी तुम माँ न कहला सकोगी—केवल बलात्कार कहलायगा यह·····वैधानिक बलात्कार·····सामाजिक और धार्मिक कर्मकाण्ड का 'सेन्कशन' पाकर इतराने वाला कानूनी बलात्कार·····इसकी कुण्ठा तुम जाने दो। जीवन में होता ही रहता है। आदमी कब कहाँ अवश नहीं हो जाता? यही समझ कर इसे स्वीकार करो।'

मैं भी उनकी तरह अपने को समझाने की चेष्टा करती थी पर बेर-बेर आँसू छलक आते थे·····वे अकंपित दृष्टि से देख रहे थे। मेरे दुख....निराशा को क्या ऐसी ही अलिप्त दृष्टि से ये देखेंगे·····मुझे

लगा मैं ढीली होकर कुर्सी की बाहों से निकली जा रही हूँ·····बेहोश होती जाती हूँ। मन अवश हो रहा था। मैंने कहा--'आप यहाँ बैठिये·····मैं नीचे जाकर लेटती हूँ·····मेरी तबियत खराब है·····' पर उठकर खड़े होते ही मैं गिर पड़ी·····बेहोश हो गई।

होश आने पर देखा चारपाई पर मैं लेटी हूँ। सामने कुर्सी पर बैठे वे पंखा झल रहे हैं। मैंने निर्बल स्वर में कहा--'कैसे होश आया मुझे? कितनी देर मैं बेहोश रही?·····आपने मुझे उठाकर चारपाई पर लिटाया है·····'·····जैसे उनके पूर्ण स्पर्श की सुधि से मैं आन्दोलित हो उठी। पाप-पुण्य की परिधि कहाँ आकर मिल जाती है·····

मैंने झपटकर उठते हुए कहा--'आपको बड़ी तकलीफ़ हुई। आप घूमने जाने को तैयार बैठे थे·····कहाँ यह झंझट हाथ लगा। महीनो बाद आज 'फिट' आया है। फिट आने के बाद छाती में असह्य पीड़ा होने लगती है। बेहोशी से जल्द जान छूट जाती है पर उससे घण्टों नहीं छूटती। इस समय भी हो रही है। आपके मुख पर कैसी दुश्चिन्ता है? क्या सोच रहे हैं? मैं ठीक हो गई अब। 'फिट' आने के बाद दिल, दिमाग हल्के हो जाते हैं·····आप क्यों इतने उद्विग्न हैं?'

'मुझे दूसरी बात की ग्लानि है मंजु! अपनी इच्छा के विरुद्ध तुम्हारे असंज्ञ शरीर का स्पर्श करना पड़ा·····कोई चारा न था। कब तक किसी के आने की राह देखता। तुम मेरे विचारों से परिचित हो। सोचोगी कैसा विचित्र आदमी है। ऐसी बातें करता है पर अवसर आने पर कितना दक़ियानूस बन जाता है। मानता हूँ पर-नारी को छूने में पाप नहीं। लेकिन तुम्हें लेकर मेरे भीतर एक अहं है·····इस अहं से बड़ा ज्वलंत विवेक है जिसके समान जल्द देखने को नहीं मिलता। मुझे उसी की जलन हो रही है। सोचता हूँ--तुम्हें न छू पाता--न छू सकता तो अच्छा होता।·····तुम्हारा सिर

घूमते ही मैं सजग हो गया। मैंने तुम्हें भूमि पर गिरने नहीं दिया। मेरी फैली हुई बाहों में तुम रुक गईं.....'

मैंने कहा—'आपके हाथों में गिरकर कोई नारी आपा नहीं खो सकती। ऐसी बातों को महत्व न दें। आप घर पर न होते तो क्या होता ? मैं घन्टों बेहोश पड़ी रहती। आपने मेरी रक्षा की। जितनी देर मैं फिट में पड़ी रहती उतनी देर मेरे भीतर यह भयानक उथल-पुथल चलती। आपने मेरा त्राण किया। मैं आप की कृतज्ञ हूँ.....आप के भीतर शक्ति का देवता क्यों दुबला पड़ रहा है ?.....'

'औचित्य की तलवार मेरे भीतर चल रही है मंजु ! मुझे दावा था तुम्हें ऐसी ही दूर-दूर रक्खूँगा.....जो तुम्हारे लिये कर सकूँगा करता रहूँगा। आज मेरा वह सब ढह गया। जानता हूँ—मैंने जो किया असहाय .....बेवश होकर किया। पर बेवशी से किये गये काम की गुरुता नष्ट नहीं ही जाती.....'

मुझे लगा मैं भीतर-भीतर उजली हो गई। मेरी सारी पिपासा की जलन शीतल हो गई। प्रकाश के मनोभावों में दुराव और अलगाव नहीं। एक ईमानदारी—घोर ईमानदारी.....कर्तव्याकर्तव्य का द्वन्द्व है। उसके भीतर वह है, जो देवताओं के हृदय में भी ऐसे अवसर पर न होता। यह भद्रता नहीं आन्तरिक आदर-उपासना की गूँज है। यह वह अति-मानवीय पूजा-भाव है जो जीवन को सरस और चैतन्यपूर्ण बनाता है। यही वह है जिसे युग-युग की बौद्धिकता.....बर्बर वैज्ञानिकता के बावजूद मानव त्याग नहीं पाता.....जो बिना आँख से झाँके—जिह्वा पर आये होठ के कगार फूटे भीतर-भीतर पनपता रहता हैं। अपनी अपूर्णता में भी मानव को जो अति-मानवीय —कुछ-कुछ देवत्वपूर्ण उपलब्धि का आभास देता है। मैंने अपनी पुलकित हार्दिकता को यथासंभव छिपाते हुये कहा—'यह संकोच मुझे होना चाहिये। मर्यादा के बन्धन और जकड़न हमारे लिये है। आपको क्यों कुंठा होती है ? आपने किसी बुरे इरादे से ऐसा किया होता तो.....आप ऐसी बात न करें।'

'न करूँगा मंजु ! तुम्हारी तबियत ठीक है न ! पानी चाहो ला दूँ। घूमने चलना चाहो तो ताँगा ले आऊँ। शायद तुम्हारी तबियत ठीक हो सके। तुम्हें कमज़ोरी तो न लगेगी ? 'फिट' के बाद अक्सर कमजोरी आ जातीं है ताँगे पर चल सकोगी ? घण्टे डेढ़ घण्टे में लौट आयेंगे। उसके पहले वे लोग सिनेमा से न लौटेंगे। इच्छा हो चलो। मेरे कहने का ख्याल न करो। बनारसीबाग़ तक चलेंगे, लौट आयेंगे। बोलो !'

'चलिये। मेरी इच्छा की बात क्या ? आप जो कहेंगे मेरी इच्छा बन जायगी। पाँच मिनट में आई। आप नीचे ताँगा करिये। ताला तलाश किये लेती हूँ।'

कपड़े बदल, सर पर यूडी-कोलोन लगा ताँगे पर बैठकर चली तो ठंडी हवा लगने से मन को शान्ति मिली। रास्ते में—बिजली की रोशनी और चाँदनी में प्रतिद्वन्द्विता छिड़ी थी। ताँगा धीरे-धीरे चल रहा था .....आगे की सीट पर मेरी ओर मुँह किये प्रकाश बैठे थे। उनके कथनानुसार मैं पैर फैलाकर बैठ गई थी.....टेक का सहारा दोनों हाथ से लिये थी। बनारसीबाग़ में फौवारे के चारों ओर हम धीरे-धीरे टहलने लगे। मेरी निर्बलता जाती रही....एक आनन्ददायी स्फूर्ति से परिचालित हो घूम रही थी। बहुत दिन बाद—वर्षों बाद यहाँ आई थी। मैं उनके साथ न रह पाकर अक्सर आगे हो जाती थी.....ख्याल आते ही ठिठक कर रुक जाती थी। चाँदनी पूरे उन्मेष पर आई हुई थी। पार्क में स्त्री-पुरुषों के जोड़े घूम रहे थे। में भी उनके साथ सदैव ऐसे ही घूम सकती .....कितनी सुखी होती मैं.....कौन तब मेरे सुख की समता कर सकता ? मैंने अपने सुख का घड़ा अपने हाथों पटक कर फोड़ दिया। चाँद भैया की मृत्यु की उत्तरदायिनी मैं अब किस मुँह से सुख की आशा करती हूँ ? कौन-सा अधिकार है ऐसी बेशकीमती जान लेने के बाद मुझे सुख की माँग करने का ? आज मैं इस पवित्र आत्मा से क्या चाह रही हूँ जो मेरे साथ ताँगे में नहीं बैठा—जो मुझे स्पर्श करने की कल्पना नहीं कर पाता.....आज जिसने ऐसी मजबूरी में मुझे छुआ भी तो मन ही मन

परिताप और आत्मदाह से भर गया। मैंने एकाएक उनका हाथ पकड़कर उनसे कहा—'आपसे एक विनती करना चाहती हूँ—वायदा करें, आप उसे खाली न जाने देंगे।'

'विनती नहीं। तुम मेरी काकी हो—मुझे आज्ञा दो। उमर में छोटी होने पर भी तुम मेरे कुटुम्ब की देवी हो। विनती आदमी बड़े से करता है। बोलो! क्या कहना है? यहाँ कोई नहीं—इस पेड़ के नीचे बेंच पर बैठें।'

बेंच पर बैठकर मैंने कहा—'आप मुझे अपने से दूर क्यों रखते हैं? मैंने क्या अपराध किया है? कौन दोष आप मुझमें पाते है? मैं आपके दिल की दुनिया जानती हूँ.....पर यह प्रकारान्तर से नफ़रत है.....केवल नफ़रत.....मैं इसे सह न सकूँगी? आप जितने विशाल हैं उतनी मैं छोटी। मुझे क्यों दंड देते हैं?.....'

वे कुछ न बोले। चाँदनी में चुपचाप मुझे देखते रहे। मेरा हृदय इतना रुँधा-रुँधा था कि अधिक कह न पाई। इतना कैसे कह सकी, यही समझ में न आ रहा था। थोड़ी देर इस प्रकार मौन रह वे—फिर धीरे-धीरे टहलने लगे और ताँगे पर वापस लौट आये। मुझे उनसे कहने के लिए कोई बात न मिलती थी। वे.....वे कितने गभीर और आत्मनिष्ठ हो गये थे। अपने हृदय में कहाँ का परायापन वे आज की असाधारण उदासीभरी शाम के निपट शून्य प्रहरों में पा रहे थे? मेरे अन्दर.....मेरे अन्दर न जाने कैसी कठिन चिन्ता और कल्पना मँडरा रही थी। जिस पर आज मैं सबसे अधिक निर्भर और झुकी हूँ, वह मुझे छूने में संकोच करता है.....कल मैं चारों ओर से निर्वासित होकर—कहीं और शरण न पाकर उसके पास जाऊँगी.....साथ रहना चाहूँगी तो उसकी क्या दशा होगी? क्या वह मुझे इतने निकट स्वीकार करेगा? यह सब आखिर क्या है?—कौन अलगाव है.....कौन निषिद्ध

अस्वीकृति है जो मुझे उनसे दूर फेंक देती है--कितने प्रच्छन्न और अज्ञात वे मेरे लिए हो उठते हैं। मेरा कर्म-सूत्र उन्हें मुझसे कितनी दूर—किधर खींचे लिये जा रहा है? क्यों मैं आज अपने भीतर ऐसे भाव की तेजी का अनुभव कर रही हूँ जो रोक कर नहीं रक्खा जा सकता? किन अशान्त लहरों के आघात से मेरे मन की तटभूमि काँप-काँप उठती है?····

थोड़ी देर बैठकर वे चले गये। कल मेल से जा रहे थे। मैंने नीचे आकर कहा--'आप मुझे पत्र नहीं लिखते! बड़ी माँ के पास आपके पत्र आते हैं—उनमें मेरे लिए कभी-कभी कुछ रहता है····· संसार के पिच्छिल पथ पर पैर फिसल जाना स्वाभाविक है·····इसमें आश्चर्य नहीं। पर गिरने के बाद किसी को पड़े रहने देना मनुष्यता नहीं। उसे हाथ पकड़ कर निरापद स्थान पर पहुँचाना होता है। आप मेरा हाथ पकड़ने से इन्कार कर देंगे--शरीर की शुचिता का इतना ध्यान रक्खेंगे तो मैं जिन्दगी के कीचड़ में गिरने पर कैसे निकल पाऊँगी·····आप क्यों मुझे इतनी दूर रखते हैं?—मैं कौन बल लेकर उठने का उपक्रम करूँगी?·····देवत्व हो सकता है, पर मानवीयता यह नहीं। मुझे देवत्व न चाहिये·····सहगामी का जीवन-स्पर्श चाहिये।'

वे चले गये·····दोनों हाथ जोड़कर अभिवादन करते हुए। एक शब्द उन्होंने न कहा। मैं ऊपर आकर लेट गई। दुर्बलता अभी थी··· साथ-साथ मानसिक पीड़ा भी। दूसरे दिन वे चले गये, पर मैं कहाँ जाती? स्कूल खुलने के बाद वही जीवन-क्रम आरम्भ होना है। अब के गये वे कब मिलेंगे? इतने थोड़े समय में मेरे भीतर उनके लिए ऐसी घनीभूत लिप्सा उत्कट रूप में प्रवाहित हो जायगी, यह पहले अनुमान न लगा सकती थी। पर·····पर·····कहाँ इसका अन्त होगा जाकर? कब तक इस ऐन्द्रजालिक प्रभाव से अभिभूत रहूँगी····· स्वप्नाविष्ट की तरह इस शून्य पथ पर चलती जाऊँगी·····जहाँ पग-पग पर शून्यता है—भीषण शून्यता·····एक स्नेह का लघु स्पर्श जहाँ

वर्जित है। किस आत्म-वंचना की ज्वाला है.....किस अनुताप का आघात है.....किस अनुशोचना का आन्दोलक प्रहार है? मैं दिग्भ्रान्त हो रही हूँ.....मुझे प्रकाश क्यों नहीं मिलता? बिजली की क्षणस्थायी चमक क्यों नहीं दूर होती?--कुटिया में सारी रात स्नेह से छीज-छीज कर जलनेवाले दीपक का स्थाई आलोक क्यों नहीं प्राण को उल्लसित कर जाता? अपने भाग्यहीन विडम्बना-भोगी मन को क्या करूँ? हृदय के भीतर-भीतर फूलते रहने वाले क्षोभ, अभिमान, वेदना, सहानुभूति की उत्कट पिपासा कहाँ ले जाऊँ? कब तक इस प्रकार मृगतृष्णा में भटकूँगी?

समय बीतते देर नहीं लगती। अपने बँधे कालक्रम के भीतर उठती-गिरती मैं जीवन के मार्ग पर चली जा रही थी। जब अपने विपुलाकार पेट को लेकर बाहर निकलने में लज्जा मालूम पड़ने लगी तब मैंने स्कूल से छुट्टी ले ली। प्रकाश मेरे लिए हर प्रकार का प्रबन्ध कर गये थे। मुझे पूरी तनख्वाह पर छुट्टी मिली। स्कूल के अधिकारी सदय और सहानुभूतिमय जान पड़ते थे। मैं घर पर रहती थी.....आनेवाले आत्म-मरण के लिए अपने को तैयार करती जाती थी। थोड़ा-बहुत पढ़ लेती थी। जिस प्रकार अध्ययन करने के लिए प्रकाश बता गये थे, उस 'लाइन' पर चल रही थी। किताबें और नोट्स लेकर वे मेरे पास छोड़ गये थे। मेरी कठिनाई हल हो चुकी थी। पढ़ने में रुचि पहले से थी। ज्यों-ज्यों पाठ्य-क्रम की गंभीरता बढ़ती थी त्यों-त्यों अधिक रस मिलता था। मेरी माँ मेरे प्रसव के लिये उत्सुक थीं। उनकी समझ में पौत्र का आगमन दादा को मेरी ओर फिर खींच लेगा। जो खाई बीच में पड़ गई है वह आप से आप भर जायगी। जाड़ा बीतते-बीतते कुछ घन्टों तक घृणा से तपे हुए रक्त की यन्त्रणा.....प्रसव की अपरिमित पीड़ा भोगकर मैंने स्वस्थ-सुन्दर-आकर्षक कन्या को जन्म दिया.....मैं माँ बन गई। सहन-शक्ति की अन्तिम सीमा पर आकर

मुझे लगा—मेरे पपड़ीले होंठ आप से आप तर हो चुके हैं.....मुझे दैवी बोध और परिव्याप्ति का उन्मादक आवेश हुआ.....मैं माँ बन चुकी हूँ। एक स्वस्थ शिशु के स्वस्थ स्वर में जब वह रोयी तब मुझे मालूम हुआ—सृजन का आनन्द कैसा प्रखर और प्रवर्तक होता है। मुझे लगा—मेरे सबसे भयानक दुःस्वप्न का अन्त हो चुका है। मैं अपने तन-तरु के पहले फल को देखने लगी.....

मेरे माता-पिता को बड़ी प्रसन्नता हुई। हमारे देश में सन्तान का होना ईश्वरीय वरदान माना जाता है। दरिद्र से दरिद्र घर में भी वह खुशी का अवसर समझा जाता है। माताजी ने पिताजी को स्वयं यह संवाद मेरे ससुर और पति को सुनाने के लिए भेजा। मैं 'सोवर' में थी। मुझे उनके जाने के बाद पता लगा वर्ना उन्हें रोक देती। मेरी दृष्टि में यह इतनी महत्वपूर्ण घटना न थी कि पिताजी स्वय उसका संवाद देने प्रयाग जाते। माँ की आँख के सामने दूसरी आशा लहरा रही थी। वे मेरे जीवन के गतिरोध का अन्त चाहती थीं। इसीलिये स्वयं पिताजी को यह सुसंवाद सुनाने उन्होंने प्रयाग भेजा। मुझे छोड़ कर वे न जा सकती थीं वर्ना स्वयं जातीं। तीसरे दिन जब पिताजी अपना निस्तेज मुँह लेकर लौटे और सब बातें बताईं तो मेरी माँ अपने कान पर विश्वास न कर सकीं.....भीतर से मैंने देखा उनकी दोनों आँखें किसी धक्के से ऊपर की दिशा में उलट गईं। मेरी आँखों के आगे बर्फ़ के लच्छों का संसार फैल गया। पर सामने अपनी उजली, हसीन, कोकाबेली जैसी शान्तिपूर्वक सोई बच्ची को देख मैंने भीतर-भीतर एक स्पन्दनशील धैर्य—महान आत्मविश्वास अनुभव किया। पाप पर पुण्य की, मृत्यु पर जीवन की, अत्याचार पर न्याय की विजय होगी। मेरी बेटी मेरी आत्मा की पवित्रता और उज्ज्वलता की प्रतीक है। जब तक इसकी ज्योति की किरणें मुझ पर पड़ रही हैं तब तक मेरे ऊपर कलंक नहीं आ सकता.....

काव्य का उपकरण लिये मेरे जीवन में जो नयी सृष्टि आई है यह मुझे अभय और मुक्त कर रही है। पर दादा ने पिताजी से साफ-साफ कह दिया है। मैं कलंकित हूँ·····मेरे लिए उनके घर में स्थान नहीं। यहाँ तक कि मेरे पति ने मेरी सन्तान का दायित्व अपने पर लेने से इन्कार किया है। उसने अत्यन्त निर्लज्जतापूर्वक वहाँ सबके सामने इस जघन्य असत्य को घोषित किया है—'मुझे त्याग कर वह जल्द से जल्द दूसरा विवाह करेगा।' मेरी माँ ने कहा·····तुमने उनसे कुछ कहा नहीं! इतना बड़ा झूठ बोलते समय उन्हें भगवान का भय न लगा। तुम्हारे सामने उन्होंने तुम्हारी लड़की का अपमान किया·····तुम सुनते रहे! तुमने जी भर कर फटकारा नहीं!'

'लड़की के पिता की कोर हमेशा दबी रहती है। मैं डाँट-फटकार कर क्या करता? मुझे उस समय लगता था—धरती फट जाय·····मैं उसमें समा जाऊँ। कितनी उमंग, उत्साह के साथ यह संवाद उन्हें सुनाने गया था·····वहाँ से क्या मिला!·····ऐसे कमीनों से भगवान ने सम्बन्ध मिलाया कि विवाह के बाद एक दिन शान्ति न मिली।'.... कहते-कहते उनका शरीर काँपने लगा और अधगंजा सिर भीतरी अशान्ति के कारण वेगपूर्वक हिलने लगा·····जैसे आँख के सामने छाये अभेद्य अन्धकार में उनकी दृष्टि को राह न मिल पाती थी। मेरी माँ के शरीर की कँपकँपी रोके न रुकती थी। मेरी ओर आश्वस्त दृष्टि से देख कर बोली-'तू उदास न हो बेटी! कलंक सीता जैसी सती को भी लगा था। अन्त में सत्य और पुण्य को विजय होती है—असत्य और अन्याय पराजित होते हैं। आज वे लोग अपनी पशुता से उन्मत्त होकर मुझे चाहे जो कह लें, पर नारी को झूठा अपवाद लगाकर सुखी न हो सकेंगे। इन लोगों की देह से कोढ़ फूटेगा'—कहती-कहती माँ उठकर खड़ी हो गईं·····एक विदारक उत्तेजना से उन्होंने अपने होंठ दाँतों से काट डाले। उनके भीतर सारी की सारी घुटी भावनाएँ विस्फोट कर उठीं। पशुता के नंगे रूप को देखकर

अनादि काल से निरीह मानवता इस प्रकार विस्फोट करती आई है। उसके प्राण में ऐसे ही भैरवी हाहाकार का दानव पैदा हुआ है। माँ फूट-फूट कर रो रही थीं·····आड़ में छत पर खड़े पिताजी जलसिक्त नेत्रों से मेरे भविष्य के हत्यारेपन को देख रहे थे। लेकिन भीतर बैठी मैं अशंक और निर्भय थी। मेरी बच्ची मेरी रक्षा का मंगल-कवच पहन कर आई है। नवजीवन की यह विजय-रेखा मेरे सामने अखंड विश्वास की शलाका बनी पड़ी है। माँ ने आँसू पोंछते हुए पूछा—'बुढ़िया! बुढ़िया ने क्या कहा। वह भी मेरी बेटी को दुराचारिणी मानती है·····'

'कहेगी क्या? कैसे पति-पुत्र की बात का विरोध करेगी? मुझे लग रहा था मैं अधिक देर वहाँ रुका तो वे मुझे ठोकर मार कर निकाल देंगे। पूरी बात सुनते ही साँप की तरह फुफकारने लगे·····आवेगपूर्वक मेरी ओर थूक दिया। कहने लगे—लड़की की कमाई खाओ। घर में जवान रंडी पाल कर खूब कमाओ। पहले भी ऐसा करते रहे होगे, नहीं तो इतनी बड़ी हो जाने पर भी तुम्हें लड़का न मिलता! जाओ·····शहर के लोफ़रों से उसकी देह चटवाओ। हरामी लड़की जनवा कर यहाँ दूत बनने आये हो। हमें कोई खबर नहीं—पता नहीं·····तुम्हारी लड़की के पेट में बच्चा आया·····पैदा भी हो गया। खूब! हमें कुछ सूचना नहीं! उस समय कैसे देते! बात का इज़हार कैसे करते! इतनी हिम्मत कहाँ थी? उस कलमुँही कुतिया से हमारा कोई सम्बन्ध नहीं। गर्मी में मेरे लड़के की दूसरी शादी हो जायगी। तुम लोगो ने बदमाशी की तो जमीन पर तुम्हारी नाक रगड़-रगड़ कर तुम्हें हलाकान करूँगा। तुम्हे भी मालूम हो किसी से पाला पड़ा है।" किशोर जैसे भूखा भेड़िया बन गया है। न माँ-बाप का लिहाज़—न मेरा ख्याल। बोला—"वह मेरे पास सोई नहीं। बराबर मुझसे दूर रहती थी। मैं सज्जनतावश कभी

जबर्दस्ती न करता था। उससे कह दीजिये जिसका हमल हो उसके घर जाय, तलवे सोहराये! मैं ऐसी हरजाई को अपने घर नहीं रख सकता। कुतिया के लिए कुत्तों की कमी नहीं……"—कहते-कहते पिताजी का चेहरा शोक और ग्लानि से गोबर हो गया। 'मैं तुमसे कहाँ तक बताऊँ....प्रकाश को लेकर उन्होंने ऐसी-ऐसी बातें कहीं—मंजु को ऐसे घृणित अकथ्य कलंक लगाये कि मुझे पूरा-पूरा होश भी न रह गया…… ……मैं ठीक-ठीक सुन न पाया। बराबर कलंकी और गालियाँ—कलंक और गालियाँ। मुझे उनके मुहल्ले के एक सज्जन से मालूम हुआ कि देहात में किशोर की शादी पक्की हो रही है। मैं कोर्ट में मामला ले आऊँगा।'

अब मुझे बोलना पड़ा। मैंने कहा—'नहीं बाबू! कोर्ट जाने से कोई नतीजा न होगा……व्यर्थ तुम्हारी बदनामी होगी। वे लोग बेशर्म हैं। न उन्हें अपने अपनी इज्जत का ख्याल है न दूसरे की इज्जत का! तुम्हें और लड़कियों की शादी करनी है। तुम उनका मुकाबला न करो। पशुता में किसी से हार माननेमें लज्जा नहीं। तुम उतनी नीचता न कर सकते हो न मैं तुम्हें करने दूँगी। एक बार वे कानूनी बल द्वारा मुझे जबरन भी वहाँ ले जाना चाहें तो मैं न जाऊँगी—जाना पड़ेगा तो लाश जायगी। जहाँ मेरे चरित्र और नारीत्व को लेकर ऐसा विद्रूप रचा जाता हो वहाँ एम क्षण के लिए—मुझे स्थान नहीं।'

'दूसरी शादी कैसे करेंगे—मेरी माँ ने भर्राते हुए कहा—'कोर्ट में भरण-पोषण के लिए दावा किया जायगा। इतनी आसानी से हम उन्हें थोड़े छोड़ देंगे। अच्छी तरह उनकी बदनामी हो जाय। दुनिया जान ले ये कितने नारकीय, कुत्सित व्यक्ति हैं। कोर्ट उनसे मासिक खर्च दिलवायगा…… उन्हें झख मार कर देना होगा। उनकी आधी जायदाद में तुझे हिस्सा मिलेगा।'

'न माँ! मैं ऐसे पातकियों का एक पैसा न लूँगी। अपने को मैंने इसी क्षण से विधवा समझना शुरू कर दिया। मुझे उनका एक पैसा न

चाहिये। मैं भीख माँग कर अपने को—अपनी बच्ची को पालूँगी। सब कुछ खोकर अब मासिक खर्च लेने न जाऊँगी। इतना बड़ा कलंक पाने के बाद मुझे उनका मुख कभी न देखना पड़े—यह आशीर्वाद तुम मुझे दो। जीवन के स्वाभाविक प्रतिदान के भीतर जो न मिल सका उसे 'लाँ कोर्ट' से पाने का घृणित कौतुक मुझे न रचने दो। मैं अपना पालन आप कर लूँगी। चाँद भैया मुझे समर्थ बना गये हैं। न जाने क्या-क्या वह देना चाहते थे। मैंने कभी स्वीकार न किया। पर यह आजीवन मेरे काम आयेगा। मुझे पेट की रोटियों के लिए दूसरों का मोहताज़ न बनने देगा। तुम कोर्ट में जाओगी पर नतीजा क्या होगा? वे खुल्लमखुल्ला मुझे व्यभिचारिणी घोषित करेंगे—मैं अपने सतीत्व का सबूत जुटाती फिरूँगी। न, न, माँ! इस दलदल में मुझे न फेंको। शान्तिपूर्वक जीवित रहने दो। अपना·····अपनी सन्तानों का भाग्य संदिग्ध न बनाओ। मेरे लिए समझ लो मैं तुम्हारी कोख में उत्पन्न नहीं हुई—कभी की मर चुकी। मैं अब हूँ भी कहाँ?'

माँ भींगी आँखें लेकर उठ गई। पिताजी दफ्तर जाने की तैयारी कर रहे थे। उन्हें मेरे सामने आने में शर्म लग रही थी। लड़की के सिर पर पाप की इतनी बड़ी गठरी रखकर कौन पिता उसके सामने पड़ना चाहेगा?

एक महीने बाद अप्रत्याशित रूप से मेरा स्वास्थ्य सुधर गया। मैंने स्कूल जाना शुरू कर दिया। बच्ची को माँ के पास छोड़ जाती थी। पढ़ाते-पढ़ाते जब दूध-भरे स्तन दुखने लगते तब मेरा मन घर की ओर उड़ चलता। पर अपना वश न था। शाम को जब लौटती तब से लेकर आधी रात तक बच्ची से विलग न हो पाती। मेरी अनुपस्थिति में माँ अपना और ऊपर का दूध पिलातीं। पर मैं देखती उसे दूध की दरकार नहीं·····जैसे मेरे अभिशाप और पराभव का बल पाकर वह शक्ति लाभ करती। उसके सुकुमार, स्वस्थ शरीर के चारों ओर मेरे पराजित स्नेह और सदा की रौंदी गई हसरतों के प्राण का उजाला था। अभागिनी माँ

की अभागिनी बच्ची थी वह ·····कलंकिता माँ की कालिमा-कुण्ठित सन्तान थी वह·····उसे जीवित रहना था। समाज की गिरती दीवारों के रन्ध्रों से सफेद छाया-सी रेंग कर बाहर आना था। उसे जीना था—मेरे पाप का प्रायश्चित्त करने के लिए!

गर्मी की छुट्टियाँ आते-आते प्रकाश का पत्र बड़ी माँ के पास आया। वे इस बार गर्मियों में पंचमढ़ी में रहेंगे—शायद लखनऊ न आ सकेंगे। मेरी छोटी बच्ची और मेरे लिए शुभ कामनाएँ प्रकट की गई थीं। मेरी बच्ची के जन्म लेने के बाद—पिताजी के दादा से मिलने के बाद दादा ने प्रकाश के पिता को कड़ा पत्र लिखा था। इस कुल कलंकिनी बहू को सदा के लिए त्याग देने का 'होली डिक्लेरेशन' उसमें था। प्रकाश ने मुझे जीवन की कुरूपताओं और अपमानों के बीच मस्तक ऊँचा कर अडिग, अकंपित रहने का सन्देश दिया था। गर्मी में जिस प्रकार हो वे एक बार लखनऊ आ मुझसे मिलने का यत्न करेंगे·····पर उन्हें काम बहुत है और छुट्टी नहीं मिल पा रही है। बड़ी माँ बराबर मुझे देखने आती थीं। मेरे लिए·····मेरी बच्ची के लिए उनके हृदय में अगाध ममता थी। सैकड़ों रुपये का सामान वे जब तब मुझे देती रहती थीं। मेरे हजार इन्कार करने·····आगे कभी कुछ न लेने की धमकी देने पर भी वे न मानती थीं।

मेरी बच्ची का मुँह चाँद भैया की तरह था। बड़ी माँ उसे देख-देख किसी भाँति तृप्त न हो पाती थीं। वैसे ही आँखें—होंठ, नासिका, वैसी मंत्रमुग्ध कर देने वाली मुस्कान और होंठों की आकर्षक वक्रता। मुझे भी लगता था—वह महान् आत्मा मेरे जीवन में नूतन ज्योति बनकर आई है·····बुझते दीप में नई बाती बनकर ज्योतित हो उठी है·····

गर्मी की छुट्टियाँ पूरी हो गईं पर प्रकाश न आये। दादा ने मेरे पति का दूसरा विवाह कर लिया। मेरे माता-माता के अनुनय भरे आँसुओं का उन निर्दयी हिंसकों पर प्रभाव न पड़ा। जिसने सुना उसने मेरे दुर्भाग्य के साथ समवेदना प्रकट की। लेकिन दादा ने मुझे समाज की नज़रों

में गिराने में कुछ उठा न छोड़ा। अपने रिश्तेदारों—बिरादरी के लोगों के सामने मुझे कुलटा और भ्रष्ट साबित किया—मेरी सन्तान को अवैध करार दिया ! मेरे माता-पिता दो बार उनके सामने गये·····रोते-रोते उनके पैरों पर गिरे—गिर-गिर कर उठे--उठ-उठ कर गिरे। मगर कसाइयों के हृदय में करुणा कहाँ ? दादा किसी प्रकार मुझे माफ करने को तैयार न थे। उनके भीतर प्रतिहिंसा की भट्ठी जल रही थी·····न जाने मैंने कैसा अक्षम्य अपराध किया था। जाने दो उन बातों को ! हृदय में बर्छी चलने लगती है। छुट्टी के दो महीने मुझे पूरे जीवन-से लम्बे हो गये। मैंने कितनी यन्त्रणा भोगी इन दो तपते मासों में—मेरा अन्तर जानता है। लेकिन मैं लौट कर वहाँ न गई। बड़ी माँ ने बार-बार मुझे वहाँ जाकर दादा और सास से क्षमा माँगने का अनुरोध किया·····हर प्रकार से मुझे आगा-पीछा दिखाया। पत्नी के लिए पति और श्वसुर के घर का क्या महत्त्व है सब बताया·····पर मैं निश्चय कर चुकी थी। मैंने कोई अपराध नहीं किया--मैं वहाँ न जाऊँगी। जो लोग अकारण मेरे चरित्र पर झूठे, घृणित दोष लगा सकते हैं, उन्हीं के पास जाना·····अपने जीवन के लिए फरियाद करना। दो रोटी--दो धोती के लिए गुलामी के पट्टे को दोहराना·····मुझसे यह न हो सका। मैं अपने को इतना नीचे न गिरा सकी। मुझमें भी अपमान की वेदना को अनुभव करनेवाली नारीत्व की आत्मा है। मैंने अपने माँ-बाप से साफ कह दिया--मैं किसी प्रकार उनके दरवाजे पर भिखारिणी बन कर न जाऊँगी। उनकी जो इच्छा हो करें। मैं कभी उन पर कोई दावा--कोई अभियोग न लगाऊँगी।·····अपने रास्ते पर चली चलूँगी।'

माँ से दो बार लड़ाई होते-होते रह गई ? मैंने उनके समझाने-बुझाने से ऊब कर यहाँ तक कह दिया कि यदि वे चाहेंगी तो मैं उनका मकान छोड़ दूँगी। मुझे लगने लगा जैसे मुझे कोई कहीं छू नहीं सकता। मैं अपराजेय हूँ.....अपौरुषेय। संसार में मुझे किसी का भय नहीं। सन्तानवती माता को भय हो किसका सकता

हैं.....यह विवाह-संस्कार मेरे लिए अर्थहीन अनुष्ठान होकर रह गया, पर मेरे भीतर कोई मानसिक कमजोरी नहीं। अपने एक-निष्ठ जीवन को मैं अमर्यादित न होने दूँगी। मैंने चिर-युग के चरम आदर्श को समझकर पा लिया.....मुझे आज की सामाजिक मान्यता की परवाह नहीं। समाज की दृष्टि में पापिनी हूँ—विवाहित पति के रहते मैंने पर-पुरुष से सम्बन्ध स्थापित कर सन्तानोत्पादन किया है। उस सन्तान को गोद में लिए ऊँचा मस्तक—ऊँची चितवन किये घूमती हूँ। समाज कैसे मेरी यह उग्र असंयमित धृष्टता सहन कर सकेगा? सब प्रकार के असंयम वह स्वीकार कर सकना है, मगर यौन असंयम..... यहीं आकर उसकी आध्यत्मिकता और पवित्रता क्षीण होने लगती है। मैं जानती थी मेरे ऊपर कौन-कौन संकट आनेवाले हैं। मुझे सुख से रहते देख समाज की नसों का खून पागल हो उठेगा.....लेकिन मुझे सहारे की कमी नहीं। मेरे निष्कलुष अन्तःकरण की अकलंक शुभ्रता क्या मेरे प्रकाश से छिपी है? वे जानते हैं मेरे पास जो है.....जो मैंने कभी नहीं खोया.....विषम से विषम परिस्थिति में जिसे विवर्ण और विस्वाद नहीं होने दिया.....वे मुझे सँभालेंगे, मुझे आश्रय देंगे..... मेरे श्रद्धा की गहरी जड़ों को पहचानेंगे। आज नहीं तो कल—कल नहीं तो परसों मुझे इस मकान से अलग होना पड़ेगा। वर्ना मेरे पिता दूसरी लड़की की शादी न कर सकेंगे। कलंक की इस सजीव शिला को छाती पर बिठाये वे कैसे यह पवित्र कर्म संपादित कर सकेंगे? कैसे वे मेरी 'दोगली' सन्तान को घर में रक्खे-रक्खे विवाह के ब्राह्मणोचित कर्मों को कर सकेंगे? मैंने निश्चय किया मैं उसके पहले यह घर छोड़ दूँगी.....न केवल यह घर वरन् शहर छोड़ दूँगी। कहीं और जाकर रहूँगी पर यहाँ नहीं। इस शहर में मेरी उपस्थिति का स्पर्श उन्हें कलंकित.....वासना के अभद्र इंगितों से उनके वातावरण को घृणास्पद बना देगा। मुझे सब छोड़ कर जाना होगा। न जाऊँगी तो अवसर आने पर माँ-बाप स्वयं मुझसे जाने को कह देंगे। निकाले जाने

की अपेक्षा स्वयं निकल जाना अच्छा है। आत्म-सम्मान की रक्षा अपने हाथों होती है। वर्ना उसे दूसरों के हाथों चकनाचूर होना पड़ता है।

दास्य की इस घृण्य कारा को तोड़ना पड़ेगा। भैया के यहाँ मेरे लिए द्वार खुला है.....आजीवन खुला रहेगा। पर फिर वही बात.....वहाँ अब मैं जाऊँगी? जहाँ बहिन का सौंदर्य लेकर गई वहाँ पथ-भ्रष्टा पतिता की अवसादी कलुषिता लेकर घुसूँगी? आज मुझमें और वेश्या में क्या अन्तर है? वेश्या मुझसे अधिक स्वतंत्र—अधिक समर्थ—आत्माधिकारिणी है। पर मैं? मैं बन्धनों के नीड़ में बन्द विहगी की तरह अपनत्व से हीन परमुखापेक्षी हूँ। मुक्त नीलाकाश में उड़कर विहार नहीं कर सकती। जहाँ चाहूँ वहाँ जा नहीं सकती। समाज चाहता है, मैं विनय से अनय का अन्त करूँ—उसके दरवाजे गले में आँचल बाँध कर खड़ी हो मिन्नतें करूँ। लेकिन मैं अपना बल तौल चुकी। आग पर छाती खोल कर जलूँगी। एक-एक लहू को बूँद दे दूँगी, पर कायर की तरह जीवन और सम्मान की भिक्षा माँगने न जाऊँगी। मेरे भीतर नयी आग है—नया जोश है.....जैसे नयी शक्ति का कुपित केसरी मेरे भीतर जाग पड़ा है। अपने सतीत्व की ध्वजा ऊपर उठाये मैं उदय और आह्वान के पथ पर बढ़ चली हूँ.....

—:०:—

:११:

प्रकाश न आये पर जुलाई शुरू होते-होते मुझे उनका विस्तृत पत्र मिला। यह पहला अवसर था जब उन्होंने मेरे पास सीधे पत्र भेजा था। मैं मन ही मन विश्वास के आलोक से भर उठी। मेरे पति के दूसरे विवाह और वहाँ की ओर से मेरा जीवनव्यापी निर्वासन हो जाने के लिए मुझे बधाई दी गई थी। सामाजिक निर्माण की परम्परा की रक्षा मेरे हाथों होने की आश्वस्तपूर्ण वाणी थी। मुझे हर प्रकार से अभय, अकंपित रहने का मर्मभेदी आग्रह था जो एक गतिशील जीवनात्मा के प्राण-स्पर्श से प्रकाशित था। मैं भीतर-भीतर और तन गई। मुझे कुछ न चाहिए। इतने बड़े कवि-कलाकार का बल मुझे है। मेरे सूनेपन की तीक्ष्णता कम करने के लिए मेरी 'डाली' है जो उठते-बैठते मन के घावों पर लेप लगाया करती है.....जो छोटी-सी चन्दन-बगिया की तरह मेरे जीवन के खँडहर में महर-महर उठती है। पत्र के एक-एक वाक्य से अहंकार और क्षुब्ध आक्रोश की गूँज निकल रही थी। मेरे पति तथा श्वसुर को जी भर गालियाँ दी गई थीं। सचमुच क्या

वे इसके पात्र न थे ? मेरे चरित्र को लेकर उन लोगों ने जो लाँछन लगाया था, उसकी कटु आलोचना थी। दुख की आस्तिकता में पल कर बढ़नेवाले मेरे मन के लिए ऐसे प्रहारों पर पदाघात करते हुए जीवन में आगे बढ़ने का उन्मादक स्वर था। मैं सैकड़ों मील दूर बैठे अपने निस्संगी साथी की इस ममता में अमरत्व का बोध पाने लगी.....जैसे मैं बल पाकर धन्य हो गई।

मैंने उत्साहपूर्वक माँ से कहा—'प्रकाश का पत्र आया है! तुम्हें प्रणाम लिखा है।' माँ भीतर-भीतर मेरे भाग्य को देखकर कुढ़ा करती थीं। उन्हें लगता था कि मैं कोई गुनाह किये जा रही हूँ। जैसे मेरा समूचा जीवन, जो स्थिर समतल गति से स्वतंत्रतापूर्वक आगे बढ़ रहा है, पाप है—भयानक दुष्कृत्य.....जिसकी छाया से उन्हें अब घृणा हो चली थी। मैंने किसी माता के लिये सन्तान के आकस्मिक अनाहूत दुर्भाग्य के प्रति इतने कठोर रुख की कल्पना न की थी। मेरी माँ अद्‌भुत रूप से स्नेहार्द्र और ममत्वमयी थी। पर मैं देखती थी अपनी इस प्रताड़ित सन्तान के लिये अब उनके दिल में केवल धुँधली-धुँधली-सी नफ़रत थी। बोलीं—'मैं क्या करूँ? वही सारी आपदा की जड़ है। जिस दिन से तेरा उसका मिलना-जुलना आरम्भ हुआ उसी किन से दुर्भाग्य का कौतुक आरम्भ हुआ। अपने विवाहित पति को छोड़ अब उसको लेकर रह! वही तेरा लोक-परलोक बनायेगा! तू उसके प्रति अनुराग-आसक्ति न दिखाती तो दादा इतने नाराज न होते। किसका पाप किसको खा गया! अब बैठ कर चिट्ठी में सहानुभूति प्रकट करता होगा! तुझे भी छुट्टी है। जी भर कर खत-किताबत कर। चिट्ठियों से तेरी जिन्दगी कट जायगी!.....कुलच्छिनी कहीं की!!'

माँ का व्यवहार मुझे बुरा लगा। वे मुझे जानती थीं—मेरे चरित्र को जानती थीं। इस विवाह का दायित्व उन पर था। विवाह में उन्होंने एक-बार मेरी राय न ली थी। अपने मन से सब

किया-धरा था। यह अघटित, अप्रत्याशित घटना हो चुकने के बाद अपनी क्लेशिता कन्या की ऐसी निर्दय प्रताड़ना उन्हें शोभा न देती थी। पर मैं देखती—हफ्तों से वे मुझसे तनी-तनी रहती थीं। वे जानती थीं मैं निरपराध हूँ—मेरा चरित्र हिम की तरह निर्मल और शुभ्र है। मेरे दुर्भाग्य का स्फुलिंग आज मरघटी ज्वाला के रूप में परिणत हो गया हो पर वही तो मैं हूँ जिसे अपने उदर में उन्होंने जीवन का रक्त और आलोक देकर पाला है.....आज मेरी वह माँ मुझे ठुकरा रही है! रक्षक धीरे-धीरे भक्षक बनता जाता है। मैंने आज तक माँ की सेवा-सम्मान में कोई त्रुटि न दिखाई थी। वही माँ मेरे दूरदेश बंधु के पत्र का इस प्रकार मज़ाक उड़ा रही हैं.....उसके स्नेह-मधुर सम्बन्ध को लेकर अनुचित संकेत कर रही हैं। जैसे मेरे चरित्र का कोई महत्व नहीं!

मैंने कहा—'माफ़ करो माँ! बड़ी गलती की जो तुम्हें बता दिया। मैं जानती कि तुम उन्हें इतनी नफ़रत करती हो, तो उनका नाम तुम्हारे सामने न लेती। तुम मुझ पर नाराज़ हो कि मैं तुम्हारे साथ उन लोगों के घर घिघियाने, हा-हा खाने नहीं गई। जो मुझे अस्वीकार कर रहे थे उनके पैर और गर्दन पकड़ कर अपने को स्वीकार कराऊँ? जो सत्य कभी मेरे जीवन में एक क्षण के लिए—दियासलाई की एक तीली के बराबर भी चमक न उत्पन्न कर सका उसका विचार करूँ। एक मृत अनुष्ठान—एक मिथ्या कर्मकाण्ड की रस्सी से अपने जीवन को बिल्कुल पराये जीवन के साथ बाँधती रहूँ! मुझसे यह सब नहीं होने का। रह गई जिन्दगी कटने की बात, उसके लिए तुम क्यों चिन्ता करती हो? उनकी जिन्दगी भी कट जाती है जो पति का मुँह तक नहीं देख पातीं.....विधवा हो जाती हैं। अपने पेट की रोटियों, तन की धोतियों के लिए जिन्हें दूसरों का मुख ताकना पड़ता है। मैं उनसे अच्छी हूँ। उनके भीतर दुःख के भावों के लिए एक रोगी आकर्षण—अपने को पंगु बना डालने का संस्कार-गत मिथ्याचार होता है। मैंने

झूठे विवेक की जंजीर अपने पैरो में बाँधनी स्वीकार नहीं की। फिर आज मेरे जीवन-धारण का एक उद्देश्य है। मुझे अपनी संतान को पालना है·····उसे दुनिया से संघर्ष करना सिखाना है। जन्म से वह सामाजिक कलंक के आवरण में ढकी-ढकी बाहर आई है। पति-पत्नी के पवित्र सम्बन्ध की अविनश्वर सत्य-समन्वित सृष्टि वह नहीं। वह मेरे व्यभिचार की प्रच्छन्न उपहास-शिखा है। लेकिन मैं जानती हूँ वह क्या है—कैसी है—कहाँ से आई है। मेरे लिए वह कितनी बड़ी सहारा है यह तुम जान सकोगी क्योंकि तुम माँ हो।'

माँ ने मुख पर असहिष्णु विद्रूप का भाव झलकाते हुए कहा—'तू जान तेरा काम जाने। तेरी वजह से दो खान्दानो की नाक कट गई। लड़ाई-झगड़ा सबके मायके-सासुरे में होता है लेकिन ऐसा नहीं सुना गया। कैसी-कैसी बातें तेरे सम्बन्ध में वे लोग कहते थे। आखिर क्यों ऐसी बातें करते थे? क्योकि उन्होने किशोर का दूसरा विवाह कर लिया? पैसे का लालच उन्हें नहीं। तेरे विवाह में एक पैसे की आशा उन्होंने न की। क्यों उन्होंने यह सब किया? मानती हूँ तुझमें कोई खराबी नहीं—तेरे चाल-चलन में दोष नहीं। लेकिन तूने अपनी बातों से, अपने स्वछन्द व्यवहार से उन्हें विक्षुब्ध कर दिया·····वे पागल हो उठे। तू उनका कहना मानती रहती, उनकी इच्छा नुसार चलती····· आजादी से यह सब न करती तो वे क्यों इतने नाखुश हो जाते? तेरे लिए क्यों पहले जान दिये थे·····इतने समय के भीतर तुझसे इतनी घृणा उन्हें हो गई!! प्रकाश इसका कारण है। मुझे अब उसके नाम से जलन है। जो दूसरों के घर में आग लगाता फिरे ·····खुद साँड़ की तरह इधर-उधर डोले' वह कोई आदमी है····· तू मेरे सामने उसका नाम न लिया कर·····भीतर-भीतर चाहे उसकी जितनी पूजा कर।'

'तुम मेरे दुर्भाग्य को सामने इस भयानकता से विकराल मुँह फैलाये खड़ा देख मेरी पूजा पर व्यंग करती हो! मनुष्य अपनी पूजा के लिए

कोई न कोई देवता ढूंढ़ लेता है। बिना किसी की पूजा किये वह रह नहीं सकता। उसकी आत्मा की प्यास नहीं बुझती—उसके प्राण को तन्मयता की संगति नहीं मिलती। इसीलिये कभी मुझे लज्जा से अपना सिर नीचा करने की जरूरत न पड़ी। लोग एक याद को—एक स्मृति को पूजते-पूजते पूरा जन्म बिता देते हैं। मेरे सम्मुख दोनों हैं—अतीत का ध्रुव सत्य भी·····वर्तमान का सम्मोहक जीवनादर्श भी है। भले मैं अपने को आज सामाजिक निषेधों के सामने इतनी असहाय पाऊँ पर मन की गति हमेशा एक नहीं रहती। संभव है, मैं उस समय अतीत के ऐन्द्रजालिक मायापाश से बाहर निकल आऊँ। मेरे प्रेम पात्र का निशान पुछ गया है पर मन के भीतर की घटनायें मरती नहीं। मेरे मुँह से—मुझ जैसी पति-त्यक्ता-निर्वासिता के मुँह से ऐसी बातें तुम्हें यौवन के उन्माद की निर्लज्ज स्तुति जान पड़ सकती हैं। अभी मेरा हारा-थका मन भविष्य की आशा-आकांक्षाओं को जलाञ्जलि नहीं दे सका। मुझे भी आगे चलकर कुछ पाने की चाह हो सकती है·····वह पाना आज के आनन्द-वेदना के मूल-धन को लेकर होगा।'

मेरी माँ ने कुछ न कहा। मैं बराबर देखती थी घर में जैसे मेरे लिये वह पहले जैसा—कार्तिक-पूनों के वाष्पाच्छन्न आकाश में स्वच्छन्द चाँदनी जैसा स्थान नहीं। पिता कभी कुछ न कहते थे पर भीतर-भीतर डरावना भारीपन उन्हें घेरे था। उन्हें मेरे जीवन के दोनों पहलू सत्य मालूम पड़ते थे·····जैसे प्राण भी सत्य होता है—देह भी सत्य होती है। लेकिन प्राण निकलते ही—काया छोड़ कर शून्य में मुड़ते ही देह का सत्य संसार का सबसे बड़ा असत्य बन जाता है। मेरे ऊपर यह घटित हो रहा था। मेरे जीवन-संस्कार पिताजी को सत्य लगते थे। पर यह देहवाला सत्य था—प्राण का सत्य नहीं। प्राण का सत्य पति-द्वारा मेरा निर्वासन—मेरा त्याग था जो समाज में उन्हें उठते-उठते शर्मिन्दा करता था····· जिसने उनके सामाजिक जीवन के नाटक के बीच के अङ्क में ही यवनिका डाल दी·····विस्मयजनक भविष्य की न जाने कितनी बातें अज्ञात और

अवसन्न पड़ी रह गई। लेकिन मैं चलती जाती थी। मेरी 'डाली' आठ-नौ महीने की हो गई थी। मेरे मन को बड़ी शान्ति मिलती थी। स्कूल से लौट कर मैं अपने कमरे में उसको लेकर बन्द पड़ी रहती थी। जिसको लेकर समाज मुझे जघन्य हीनता के कीचड़ में सना पाता था वह मुझे शक्ति की बहुलता प्रदान करती थी। उसको लेकर मैं अपने को कितना बड़ा मानने लगी थी! पढ़ने-लिखने में अब मेरा मन बहुत लगता····· जैसे चारों ओर से सिकुड़ कर·····आत्मलीन हो-होकर मैं न जाने क्या सोचा करती थी। इन लम्बे और शताब्दियों से चले आ रहे संस्कारों में सत्य समझ कर जिस तत्त्व को हमने अपने खून के अन्दर प्राप्त किया है वह प्रश्न के दोनों पहलुओं को नहीं प्रदर्शित करता। मैं जानती थी समाज की दृष्टि में मेरा पहले जैसा मूल्य नहीं रह गया। जो उसकी दृष्टि में नहीं है वह मुझे देकर समाज मुझे और नीचे नहीं गिराता—अपना अपमान नहीं करता। लेकिन इतना बड़ा पातक वह कैसे निगल लेता है? विवाहित पति-द्वारा उत्पन्न हुई मेरी वैध सन्तान को वह कैसे अवैध मान लेता है? कौन प्रमाण वह मुझसे चाहता है! आज मैं कोर्ट में दावा करूँ तो कौन प्रमाण देऊँ जिनसे मैं अपने सतीत्व और पतिव्रत को सिद्ध कर सकूँ? जब आत्म-संयम यहाँ इतना अर्थहीन माना जाता है तब जीवन को आत्म-पीड़न के अतिरिक्त और क्या कहा जायगा! मैं न अपने को ठग सकूँगी—न दुनिया को·····

मैंने अपने शरीर को निष्पाप रखने की चेष्टा की·····मन के निष्कलुष पर सन्देह की छाया तक न पड़ने दी। झूठ के साथ समझौता कर सकती तो क्यों मेरे जीवन की सम्पदा नष्ट होती? मुझे बराबर लग रहा है, मैं अपने जीवन के सत्य के अधिकाधिक निकट हूँ। चाँद भैया होते तो मेरी पीठ ठोकते·····दुनिया की दृष्टि में इतनी छोटी न लगने देते। मुझे उठते-बैठते उनकी याद आती थी। अपनी डाली को लेकर जब मैं बैठती तो मुझे लगता—मेरे जीवन में जो सबसे प्यारा और श्रद्धास्पद था वही मेरे सुख-दुःख को यथार्थता प्रदान करने आया है। तभी तो मेरे जीवन

का लघु आनन्द शेषावधि के इतने बड़े निरानन्द के सामने लज्जित नहीं होता। कैसा अपूर्व, आश्चर्यजनक साम्य है! एक-एक चेष्टा चाँद भैया की है। शायद मेरे दाह की पूरी गहराई पाने के लिये बालिका रूप में अवतरित हुये हैं ताकि नारी के जीवन की खूनी विभीषिकाओं और हत्यारी छलनाओं को स्वयं अनुभव कर सकें। कैसी गहरी निष्ठा है मेरे प्रति····· मेरे प्रेम का कैसा अवदात प्रतिदान है! कैसी गहन चारित्रिक सत्यपरता है! कैसा जन्म जन्म-व्यापी अनुराग है जो प्राण को उजागर करने के लिये बार-बार अवतरित होता है!!

मेरे माता-पिता के मन में मेरी ससुराल के लोगों के प्रति भीषण प्रतिहिंसा थी। वे मामले को अदालत तक ले जाकर मेरे भरण-पोषण की व्यवस्था करना चाहते थे। मेरी माँ उठते-बैठते इस प्रसङ्ग को लेकर चर्चा करती थीं। पर मैं उनके अहंकार का मूल्य कैसे दे सकती थी! जिसे कभी मन ने एक क्षण के लिये अपना करके न माना-जाना हो उस पर भोजन-वस्त्र के लिये कानूनी दावा! मैं यह सब सुनकर भयानक अतृप्ति की वितृष्णा से भर जाती थी। आखिर मैं कितना खाती पहनती हूँ·····कितना खाऊँगी पहनूँगी। मेरे उदर का यह नया प्राणी कितना खायगा जो मैं इस प्रकार अपने खण्डन को लेकर अदालत में दौड़ती घूमूँ! मेरे माता-पिता का ध्येय दूसरा था। वे अदालत के द्वारा मेरी सन्तान को वैध घोषित कर इस भारी कलंक से अपनी रक्षा करना चाहते थे। उनके सामने अपनी सामाजिक मर्यादा का प्रश्न था। लेकिन मैं जानती-समझती थी कि कितनी बड़ी वीभत्सता घटित होगी। जो भोग्य बनने के लिये है उस नारी को कहाँ शरण है! अदालत में उसके साथ न्याय न कर सकेगी। भोगी की दृष्टि से वहाँ के न्यायाधीश भी कैसला देंगे।

माता-पिता सोचते थे—अदालत एक बार मेरी सन्तान को जायज़ करार देगी तो मेरी सामाजिक अशुचिता दूर हो जायगी। जिस बात के सत्य से उनका अन्तःकरण अवगत था—जिसके लिये वे जानते थे कि उसमें कोई कलंक—कोई अधःपतन नहीं उसके ऊपर वे न्यायालय

द्वारा निर्दोषिता की मुहर लगवाना चाहते थे ! कितनी बड़ी विडम्बना थी। सन्तान की पवित्रता को पूर्णरूप से जानते और मानते हुये भी उन्हें बाहरी साक्षी की आवश्यकता थी ! सन्तान के अपवाद और बदनामी के ऊपर उन्हें अपनी चिन्ता थी। अदालत में मामला जाने पर दादा और पति मुझे दुराचारिणी बताते·····मैं भरे कोर्ट में अपने को चरित्रवती साबित करती ! बड़ी माँ ने उन लोगों को समझाया कि ऐसा करने से बदनामी के अतिरिक्त कुछ हाथ न लगेगा। जो होना था वह हो गया। बात बढ़ाने से चारो ओर अपवाद फैलेगा। कोर्ट में अन्यथा फैसला हो गया तो मेरी सन्तान की वैधानिकता और पवित्रता सन्देह में पड़ जायगी।' —कहते-कहते वे चिन्तापूर्ण वात्सल्य के स्वर में कह उठतीं—'भगवान के यहाँ इन पापियों का फैसला होगा। मञ्जरी को उन्होंने ऐसा गन्दा अपराध लगाया ! मुहल्ले में ऐसी पवित्र और ऊँचे विचार की दूसरी लड़की नहीं। मगर बन्दर मणि का मूल्य क्या जाने ! वह उसे खेल कर नोच डालने और फेंक देने की वस्तु समझता है। अपना भाग्य सराहते कि ऐसी रूपवती, गुणवती, चरित्रवती लड़की मिली। उल्टे ऐसा अमार्जनीय कलंक उस पर लगाकर छोड़ दिया····लड़के की दूसरी शादी कर ली। इन चंडालों के लिये कौन नर्क बनेगा ? तुम देख लेना—मनुष्य के कर्मों का फल उसे इसी जन्म में मिल जाया करता है। इन लोगों को ऐसा भीषण दंड मिलेगा कि ये भोग न सकेंगे। सती-साध्वी का अपमान करने से बढ़कर संसार में दूसरा पाप नहीं। भगवान् ऐसे पापी को कभी क्षमा नहीं करते। वे पूरा-पूरा वसूल कर लेते हैं·····हमेशा के लिये उसे नर्क का कीड़ा बनाकर बजबजाने के लिये छोड़ देते हैं। कोर्ट में केस चलाना व्यर्थ है ! भगवान के यहाँ न्याय होगा। यहाँ न्याय हो सकता है—अन्याय भी। पर वहाँ·····वहाँ इन लोगों को अंगारों पर भूना जायगा। एक बार किसी का पैर गलत रास्ते पर पड़ भी जाय तो उसे आदमी तरह देता है। घर वाले जान-बूझकर अन्धे-बहरे बन जाते हैं। यहाँ सीता जैसी सती को झूठा·····बिल्कुल झूठा कलंक लगाया गया·····

माँ उस समय चुप हो जाती·····मैं बड़ी माँ की गोद में डाली को लाकर डाल देती। बड़ी माँ उसे घंटों बैठी खिलाया करतीं। मुझे बाद में मालूम हुआ—चाँद भैया के एक छोटी बहिन थी जो डाली के बराबर होकर मर गई थी। बड़ी माँ डाली को देखकर उसकी याद और उससे भी बढ़कर चाँद भैया की याद से उच्छ्वसित हो जातीं·····घंटो बैठी आँसू बहातीं·····उसे खिलाया करतीं। मैं दूर बैठी सीने-पिरोने या पढ़ने लिखने का काम किया करती। पर देखती बड़ी माँ को कितना सुख और दुख एक साथ डाली को खिलाने से मिलता है। उनका हेमन्त के पाले से निविड़ आकाश जैसा प्रशान्त चेहरा रह-रह कर अस्थिर और द्रवित हो उठता। अक्सर मुझे बड़ी माँ के अपने घर आने में बड़ा संकोच होता। यह श्वेतकेशा, पुत्रहता जननी उतनी दूर से चल कर केवल मेरे स्नेह के वशीभूत हर आठवें-दसवें आती हैं·····मैं कभी उनके घर नहीं जाती। पर मैं चेष्टा करने पर भी वहाँ न जा पाती। मुझे लगता जो न करना चाहिये वह करने जा रही हूँ। जब मेरी साँस-साँस से मलिनता और कलमुँहापन निकलता है तब मैं कौन मुँह ले उस अमरो के लोक को जाऊँ। विचित्र बात थी कि बड़ी माँ ने भी मुझसे अपने घर आने का आग्रह छोड़ दिया था·····खुद चली आती थीं। प्रतिकार और प्रतिहिंसा न्याय नहीं·····अन्याय का पोषण ही उनके द्वारा होता है, यह सब वे मेरी माँ को समझाया करती थीं। कभी-कभी मैं स्कूल में रहती और लौटकर सुनती—बड़ी माँ आई थीं। मेरे लिये कपड़े—बेटी के लिये कपड़े और खिलौने—कभी मिठाई—कभी फल। खाली हाथ वे कभी आना न चाहतीं! बेटी के घर कौन माँ खाली हाथ जाती है? एक दिन जब वे मेरी डाली को चपटाये ठोंक-ठोंक कर गा रही थीं तब मैं अपने को रोक न सकी। उनके पास अब बहुत कम बैठती थी। बेटी को उनकी गोद में डालकर अलग हट जाया करती थी। पर आज उनके घुटनों से लिपट गई। चाँद भैया की सुधि आज पूरे दिन भर आती रही थी·····मैं अपने आप को भूल रही थी। मैंने कहा—'माँ! भैया मेरे इस पापी

जीवन को देखना-सुनना न चाहते थे तभी इतने जल्द चले गये। आज वे होते तो कैसे मुझ पर यह पापी अत्याचार सहन करते·····उनकी क्या दशा होती माँ !·····मैं कैसे यह कलंकित मुख उन्हें दिखाती, मेरा पतन देखने के पहले वह स्वर्गलोक चले गये। वहाँ ऐसे पातको की हवा भी नहीं पहुँच सकती·····वहाँ केवल पुन्य ही पुन्य है।·····मैं कितनी अभागिन हूँ माँ !·····ऐसा देवता भाई खोकर ज्यों की त्यों बैठी हूँ,····· कहती-कहती मैं मूसलाधार रो पड़ी। बहुत दिन बाद रोई थी। आँखें बरसाती नदी बनी जा रही थीं····।'

माँ ने मुझे पुचकारते हुए कहा—'कौन कहता है तू कलंकिनी है ? तू तो पुन्य के सौरभ-भार से झुकी जा रही है। उल्लासपूर्ण शारदी ज्योत्स्ना जैसी पावन-निर्विकार है तू ! जो तेरे प्रति अपने मन में कुभावना लायगा उसका लोक-परलोक बिगड़ेगा। केशर के खेत जैसी पुन्यमयी·····देवत्व की आभा से उद्भासित है तू ! चाँद की याद न किया कर। उसे भूलने और दूसरों से भुलवाने में ही सार है। क्या वह तुझे जानता नहीं ? वह जहाँ होगा वहाँ से इन नारकियों पर थूक रहा होगा। वह आज होता तो खुले आम तेरे ससुर को जूतों से मारता। राम, रे राम ! इतना बड़ा झूठ···राक्षसों को भी लज्जित कर देनेवाला ऐसा घातक कलंक—ऐसी मिथ्या प्रतारणा ! दुख न कर बेटी ! चाँद चला गया पर तेरे दो भाई और हैं। वे तुझे ज़िन्दगी भर—मेरे मरने के बाद भी मानेंगे। अपने माँ-बाप की बात का बुरा न मानना। उन लोगों के बर्ताव से इनके दिलों पर भारी सदमा पहुंचा है। जिस बात की स्वप्न में आशंका न करो वह जब आ घटती है तो ऐसी ही निराश बेबसी होती है। अपना-पराया तब कुछ नहीं भाता····'

मैंने कहा—'मा ! चाँद भैया के गौरवशाली नाम पर मैंने कलंक लगाया। लखनऊ में न जाने कितने लोग—उनके कितने मित्र और सहपाठी उनके मेरे सम्बन्ध को जानते हैं। वे मुझे कितना चाहते थे····· कितना सम्मान मेरा वे करते थे ! आज उन लोगों को यह ज्ञात होगा कि मेरा ऐसा अधःपतन हुआ·····मैं तब भी इस कलंकित जीवन की थाती ढो

रही हूँ तब वे मुझे क्या समझेंगे·····क्या समझेंगे मेरे अवदात भाई को·····मैं यह सोच कर बराबर मन ही मन ग्लानि से मरा करती हूँ। अक्सर कोई न कोई मिल जाते हैं। नमस्ते करने के बाद मुझे उनकी एक-एक बात का उत्तर देना दूभर हो जाता है। मैं अपने अध्यापन की बात बताकर रह जाती हूँ। क्या मैं यह सब करती हूँ, क्या वे लोग जानते न होंगे? क्या उनसे मेरे पाप की गाथा छिपी होगी? वे मेरे बड़े भाई के लिये कैसी भावना मन में लाते होंगे? मुझ कलंकिनी से ममत्व-पूर्ण सम्बन्ध रखने के कारण उन्हें क्या सोचते होंगे? मुझे लेकर कैसी-कैसी तिरस्कार की बातें उनके मन में उठती होंगी? अपनी मुझे चिन्ता नहीं। मैं जो हूँ वह रहूँगी। अपनी दृष्टि में·····दुनिया की दृष्टि में इससे अधिक क्या गिरूँगी? पर भैया! मेरे भैया! मैं उनके प्रकाश में प्रोज्ज्वल·····कीर्तिमयी दिखती थी·····आज वे मेरी कुत्सा के अन्धकार में काले और धुँधले दिखते होंगे। माँ! माँ!! मैं यह शहर छोड़ कर भाग जाना चाहती हूँ। यहाँ रह कर कुरूपता की गठरी नहीं ढोई जाती। प्रकाश संभवतः दशहरे में आयेंगे। गर्मी की छुट्टी बीत गई पर न आये। तब मैं उनसे कहीं और नौकरी दिलाने को कहूँगी। यहाँ रह कर मैं अपने भैया की पतित-पावनी स्मृति के साथ अपघात कर रही हूँ। उस पुण्य ज्योति को कलंकित करती हूँ। मेरे प्राण की तलहटी में छिपा कोई कहता है—'उनकी आत्मा हमें छोड़ कर कहीं न जायगी? वह सात समुन्दर पार कर यहीं आ गई होगी माँ! स्वर्ग के प्रसाधन उसे बद्ध न कर सकेंगे। अपनी विधवा माँ और विधवा से बदतर इस तिरस्कृत बहन को छोड़ कर वे कहीं और शान्ति न पा सकेंगे। हम उन्हें नहीं देख पातीं पर वे हमें बराबर देखते रहते होंगे। मैं उनकी दृष्टि से भाग कर कहीं छिप जाना चाहती हूँ·····मैं यहाँ न रहूँगी·····।'

मुझे उठते-बैठते चलते-फिरते ऐसा ही लगता था। मैं और अधिक लखनऊ में न रह सकूँगी। जहाँ मैं हेम-मन्दिर की रत्नप्रभा प्रतिमा की तरह पूजी गई और रही, वहाँ सबकी आँख का काँटा बन कर रहना!

जहाँ अपने मन के सुख को रखने की जगह न पाती थी वहाँ अब मर्मान्तक वेदना को रखने का स्थान नहीं दिखता। मैं बड़ी माँ से लिपट-लिपट फूट-फूट कर रोती रही। चाहे कितना रोती थी पर जी न भरने आता था। न जाने कौन अभिमान क्षुब्ध महासागर की तरह मेरे प्राण में हहरता था"""""मा उसकी निष्फलता की विषमता से भीतर-भीतर मिटी जाती थीं। अपने चारों ओर मुझे अवज्ञा, अवहेलना, अपमान और अस्पृश्यता की कटुता फैली-फैली लगती थी। मैंने फिर अवरुद्ध कंठ से माँ को जोर से लिपटाते हुए कहा—'तुम जैसा कहती हो क्या वैसा ही मुझे सोचती हो या मेरा दिल न दुखे, इसलिये मेरी प्रशंसा करती हो। अपने हृदय से तुम मुझे निर्दोष और निष्पाप मानती हो? सच कहना माँ! तुम्हें भैया की पवित्र शपथ है.....आज मेरा अणु-परमाणु यह जानने के लिये रो रहा है.....सच बताओ माँ!'

बड़ी माँ ने आँचल से आँसू पोंछ कर कहा—'बिल्कुल निर्दोष। उन आततायियों के कहने से तू असती हो जायगी? वे लड़के का दूसरा ब्याह करना चाहते थे। बिना कुछ कारण बताये चार आदमियों के सामने बदनामी का डर था। लेकिन कैसी बदज़ाती की बात है यह! तुझे मेरी ओर से शक कैसे हो गया? तेरे भाई-भाभियों को तुझ पर किसी प्रकार का अविश्वास हो सकता है? पर जहाँ अपना वश नहीं वहाँ क्रोध करना व्यर्थ है। तू हर प्रकार से पवित्र है बेटी! आजीवन ऐसी रहेगी। तू धर्म की ज्वाला है—सफेद ज्वाला.....उल्का जैसी जाज्वल्यमान और दाहक.....जो तुझे छूयेगा जल कर क्षार हो जायगा।'

'मानती हूँ.....मेरा तन नहीं पर मन अवश्य जलता अंगारा है..... वहाँ कोई स्पर्श कर सके तो जरूर जल कर भस्म हो जाय। पर तन—मेरे तन में अब जीवन की ऊष्मा नहीं रह गई! वहाँ कैसा दाह.....कैसी ज्वाला!'.....माँ थोड़ी देर बाद अपने घर लौट गई पर मैं डाली को दूध पिलाने के लिये लेटी तो मन के आवेग का किनारा न मिल रहा था।

अब लोग मुझे इस प्रकार एक-एक कर निर्दोष और निष्कलंक घोषित कर देंगे तब भी क्या मैं शान्त हो सकूँगी ? इस उद्भ्रान्त.....पीड़क चिन्ता का जैसे अंत नहीं ! हृदय की हलचल कभी स्थिर होने नहीं आती। मानव-समाज एक बार मुझे पवित्र मान ले पर आकाश में चिरकाल के लिये अंकित होकर मेरी काली करतूत लोक-लोकान्तर में सचल पदार्थ की तरह संचालित हो रही है। कैसी भयावह विडम्बना है ! कैसा सर्वनाशी अपवाद है जो पीढ़ी दर पीढ़ी नाम के साथ जुड़ा चलेगा ! अपने भीतर के गोपन-तम मंदिर में चाँद भैया की जिस मानसी प्रतिमा को अब तक स्नेह, प्रेम, श्रद्धा का अर्घ्य देती रही उसे कितना अपवित्र होना पड़ा ? कौन दुर्भावना उसे घेर सर्प की तरह कुंडली मार कर बैठी है ? आनन्द की वह ज्योत्स्ना-धारा कहाँ जो मन के अनिच्छाकृत, अजेय, अपरिचित यन्त्रणादायक विकारों को शान्त कर देती थी। प्रेम का वह अपरिमेय प्रवाह कहाँ सूख गया ? आँख बन्द करते ही अपने भीतर ऐसा घना अन्धकार पाती हूँ कि काँप कर—आतंक से विह्वल होकर आँखें खोल लेती हूँ.....कैसी-कैसी समझ में न आनेवाली कुहेलिकाओं का छायापात होने लगता है।

—:*:—

****

:१२:

एक-एक दिन गिन कर काटते वर्ष बीता। मेरी डाली अब बड़ी हो गई थी और चलने लगी थी। प्रकाश के एक दो पत्र मुझे मिले थे पर न जाने क्यों वे आये नहीं। मैंने काँपते हृदय और हाथ से उन्हें चिट्ठियाँ लिखीं। बी० ए० की तैयारी पूरी कर परीक्षा में बैठ चुकी थी। सभी परचे अच्छे रहे। कोई पढ़ानेवाला न था पर मैं प्रकाश की स्मृति का ध्यान कर परितृप्त हो जाती थी और पढ़ने में अपने मन को अधिकाधिक केन्द्रीभूत कर देती थी। मेरी छुट्टियाँ हो भी न पाई थीं कि एक दिन शाम को प्रकाश आ गये। मैं आश्चर्य से ठगी रह गई। वही चन्द्रमा की चाँदनी से प्रकाशित समुद्र जैसी गुरु-गंभीर मूर्ति जो निकट से देखने में अधिकाधिक प्रिय और मनोज्ञ लगती है! मैंने उल्लसित हो कहा—'आ गये! सूचना तक इस बार न दी। आप इधर का रास्ता भूल गये! जैसे मैं दुनिया में हूँ नहीं।'—कहते-कहते मैं शून्य अभिमान से फूल कर फिर पचक गई.....आँख की तहों में मुग्ध और अभिभूत आर्द्रता दौड़ गई.....मैं विभोर हो उठी। बोली—'मैंने बी०

ए० इस बार दिया है। परचे बड़े अच्छे हुए हैं। आपसे अधिक पढ़ने का मौका न मिला। आप आये नहीं ?'

'मैं आ न पाया मंजु ! इस नये पद पर मुझे जो तकलीफ़ें मिलीं वे मैं जानता हूँ। मैंने अब उसे छोड़ दिया ! गवर्नमेंट तैयार न होती थी। मैंने इस्तीफा दे दिया तब वे लोग माने.....मुझे 'पब्लिसिटी आफ़ीसरी' से हटाकर फिर कॉलेज में भेज दिया। यही मैं चाहता था। वर्ना दो साल होने आये—क्या मैं तुमसे मिलता न ! असंभव था.....बराबर तुम्हारी याद आती थी।'

मैंने मुदित होकर पूछा—'आपको मेरी याद आती थी ? विश्वास नहीं होता.....आप कहते हैं तो मान लेती हूँ। आपने एक बार आदेश दिया होता तो मैं आकर हाज़िर हो जाती। आप खोज-खबर नहीं लेते.....कैसे मेरा जीवन कटेगा ?'

'सब कट जायगा। तुम्हारी बच्ची कहाँ है ? देखना चाहता हूँ।'

'सो रही है। जगा दूँ क्या ? आप कहाँ ठहरे हैं ? हमारे यहाँ नहीं रुकेंगे ?'

एक पुराने दोस्त के होटल में ठहरा हूँ। तुम्हारे यहाँ ठहरने में तुम लोगों को कष्ट होगा। छोटा-सा मकान है.....मैं अनियमित आदमी हूँ। तुम्हारी माताजी नहीं देख पड़तीं। बच्ची सो रही है, सोने दो। मैं थका हूँ। सीधे तुम्हारे घर आया हूँ। चाय पिलाओगी।'

'अभी लाती हूँ'—कह कर मैं चली गई। वे कुर्सी पर लेट कर सिगार पीने लगे। बीच-बीच में खटोले पर सोई 'डाली' को देख लेते थे। चाय और नाश्ता बनाते समय मेरे उत्साह की सीमा न थी। जीवन में पहली बार उन्होंने मुँह खोल कर मुझसे कुछ माँगा था। मैं जल्द तैयार कर लेना चाहती थी। वे मुझे माँ बनने के बाद पहली बार देख रहे हैं—उनके इस देखने में कितनी अलक्ष्यता और स्निग्ध-गंभीरता है। मुझे लगता था मैं फिर किशोरी बन गई हूँ—वैसी ही हल्की-फुल्की..... मेरा बालापन जाग उठा है। आश्चर्य की बात है न ! माँ बनने के पहले

जितनी भरी-भरी लगती थी—माँ बन जाने के बाद उतनी ही चंचल और छुटी-छुटी हो गई थी। चाय और नाश्ता उनके सामने रखते हुए मैंने कहा—'आपके मन का बना या नहीं ?'

उन्होंने आँखों की कुंचित भंगिमा को यथासंभव संयत रखते हुए कहा—'तुम्हें तकलीफ दी। नाश्ता क्यों बनाया—मैं खाली चाय पीता हूँ !'

'खा लीजिये कुछ·····मेरे कहने से। आप के लिये कष्ट····· असंभव है। आपने आज मुझसे कुछ सेवा ली·····मेरा सौभाग्य है यह ! आप ऐसा न सोचें। आपके यहाँ कॉलेज जल्द बन्द हो जाते हैं। स्कूल अभी देर तक खुला रहेगा। इलाहाबाद आप नहीं गये ? अपनी काकी को देख आते·····क्या है·····कैसी हैं ?'

'तुम चलो मेरे साथ तो हिम्मत कर सकता हूँ। अकेले जाकर क्या करूँगा। देहात से छाँट कर इस बार कोई निरक्षर भट्टाचार्यनी लाये हैं। पढ़ी-लिखी लड़की आती तो उसका जीवन नष्ट हो जाता। आदमखोर हैं ये लोग ! सगी बहू पर ऐसा कलंक ! खुद उसे छोड़ दिया—व्यभिचारिणी की संज्ञा देकर उसे दुनिया में मुँह दिखाने लायक न रखने में कोर कसर न छोड़ी। पर तुम्हें जो जानते हैं वे हृदय से जानते हैं। तुम किस वरदान-मयी आत्मा की देन हो·····दुनिया जानती नहीं यह ? उनकी गन्दी बातों पर जैसे वह विश्वास कर लेगी ! इस बार जलाने के लिये पिताजी के पास निमंत्रण आया था।'

'आप के यहाँ से इस पुण्य कृत्य में सम्मिलित होने कोई गया था ?'

'कौन जाता हत्या का पाप लेने ? पिता जी ने कठोर पत्र लिखा जिसे पढ़ कर बुड्ढा तिलमिला गया होगा। हमारे सात पुश्त में जो न हुआ वह उन्होंने किया। खैर चारों ओर बदनामी मिल रही है। सब लोग जान गये हैं इनके अपवित्र मंतव्य को। तुम तो दुखी नहीं हो ? दुख न करना·····अपने उस दुःस्वप्न जैसे छोटे जीवन की स्मृति को अभिशाप की तरह भीतर दफनाती रहना। लक्ष्य-सिद्धि की कामना—जीवन की सार्थकता—यौवन की परिपूर्णता इसी में है कि कभी अन्याय-उत्पीड़न से

समझौता न किया जाय। राष्ट्र पर यह सिद्धान्त लागू होता है····· व्यक्ति पर भी। अपना जीवन बहा कर—अपने को तिल-तिल कर कुर्बान कर सामाजिक मुक्ति के लक्ष्य को दूसरों के लिये सुलभ कर दिया जाय। तुम नारी की मुक्ति और विकास के पथ की मंजिल बनोगी। जिसे समाज तुम्हारी उच्छृंखलता कहता है। उसे मैं तुम्हारा विद्रोह मानता हूँ····· जीवन से आरक्त·····आकंठ-संपूर्ण विद्रोह! नव-सृष्टि के लिये धैर्य चाहिये न! मुझे विश्वास है तुम्हारे अधूरे काम को तुम्हारी यह आत्मा की संतान पूरा करेगी।'

'आत्मा की सन्तान!' मैं सिहर उठी। मेरी आत्मा की संतान यह नहीं। यह मेरे रक्त-माँस की संतान है। मुझ पर किये गये शारीरिक बलात्कारों की प्रतिकृति है। मेरे दर्पपूर्ण दुर्धर्ष यौवन की कृति नहीं····· मेरे समर्पणशील बचपन की भूल है यह! जो सहन न कर पाई वही···· वही असहिष्णुता·····उद्वेग जैसे पार्थिव रूप धर अवतरित हो गया है। मैं नहीं चाहती कोई मुझे इस रूप में समझे।'

मेरी माँ नीचे वार्तालाप की ध्वनि सुन कर उतर आईं। प्रकाश ने उन्हें प्रणाम किया। आज उनके मुख पर पहले वाला अपनत्व·····आश्वासन का आलोक नहीं, आहत निराशा की असहिष्णुता है। बोलीं—'आ गये तुम,! उठते-बैठते तुम्हारी रट लगाये रहती थी। तुम्हारी चिट्ठियाँ पढ़कर दिन काटती थी·····अब आनन्द मनायेगी! ससुराल से दूध की मक्खी की तरह निकाल कर फेंक दी गई। अपने मन से चलनेवाली की यह गत होती है। ससुराल से चली थी तब पेट के बच्चे का जिक्र सास से करने में लाज लगती थी! आज इतने बड़े कलंक को ढोते शर्म नहीं लगती? सब से भर-मुँह बात करती है·····अपने नसीब को नहीं कोसती। कुछ कहो तो लड़ती है·····मुँह फुलाती है। हमारा यह हाल है कि लोगों को मुँह दिखाने में हया आती है। उन्होंने शाम को घर से निकलना छोड़ रक्खा है। इसके लिये लिये जैसे कुछ हुआ ही नहीं। अदालत में केस नहीं चलाने देती!'

'क्या होगा कंस चला कर ? अदालत में इनसे ऐसे अशोभन .....अश्लील प्रश्न किये जायँगे कि इनके मुँह से बोल न निकलेगा। वे लोग नगेपन पर उतर आये हैं। तुम अपनी गरिमा और कुलीनता क्यो छोड़ो ? चुप रहना सब से अच्छा है। वहाँ मंजु को कभी सुख न मिलता। पाप कटा जो उन लोगों ने सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया नहीं, एक दिन वे लोग इसके प्राण हनन कर देते.....'

मेरी माँ के लिये आज यह सब सुनना असंभव था। मैं प्राण देकर दिखा देती तो भी उनकी सहज तृप्ति न हो सकती थी। बोलीं—'अब क्या होगा ? कैसे इसकी पहाड़ जवानी बीतेगी ? औरत..... जवान औरत का पैर फिसलते देर लगती है ? तब.....तब कौन आगे आयगा ? तुम जब तब आओगे.....दस-पाँच दिन मज़ा लूट कर चल दोगे। यह हमारी छाती पर बैठ कर कोदो दलेगी। हमारे और बच्चे-बच्चियाँ हैं। इसे ही लेकर जीवन भर नहीं रहना। तुम सारे उत्पात की जड़ हो। तुम वहाँ न जाते तो क्यो इसकी जिन्दगी में दाग़ लगता। मिलना था लखनऊ में मिलते रहते.....सम्बन्ध बनाये रखते।'

प्रकाश को ऐसा लगा जैसे किसी ने उन्हे छत से नीचे ढकेल दिया हो। हक्के-बक्के हो कभी मेरा.....कभी मेरी मा को मुँह देखते थे। मेरी माँ के मुख पर पैशाचित नैराश्य की छाया थी। उनकी चेष्टा विकृत हो गई थी.....वे आवेग से अन्धी हो रही थीं। क्या कहना चाहिये—क्या नहीं.....विवेक की यह चेतना भ्रष्ट हो चुकी थी। बोलीं—'इतना बड़ा अन्याय हो गया.....तुम लोग बैठे सब देखते रहे! एक पत्र तक तुमने .....तुम्हारे पिता ने इसके ससुर को न लिखा। तुम्हें क्या ? जिस पर बीतती है वह जानता है। हम औरत-मर्द के दिल से पूछो। जिस दिन से यह सब हुआ, 'वे' सूख कर आधे रह गये हैं। लेकिन इसे चिन्ता नहीं। मैं कहती हूँ—क्या आदमी के दो स्त्रियाँ नहीं होतीं। जाकर अपने पति के पैर पर गिरे.....विनती करे तो संभव है वह मान जाय। भाग्य में सुख होगा तो सौत के रहते भी मिलेगा। तुम इसे समझाओ। इसके

लिये दूसरा उपाय नहीं। हमारी जो बदनामी हो चुकी उसे जाने दो। अभी भविष्य सुधर सकता है। मुझे साल दो साल में दूसरी लड़की की शादी करनी है। यह छाती पर कलंक का कोल्हू बनी बैठी रहेगी तो कैसे उसका ब्याह होगा? कौन हमारे यहाँ सम्बन्ध करने को तैयार होगा"'?

प्रकाश मेरी ओर देख रहे थे--मैं प्रकाश की ओर देख रही थी। दोनों के दिल भरे थे पर कंठ क्रोध से सूख रहे थे। मैंने कहा—'जाओ माँ! बेचारे थके-माँदे चले आ रहे हैं"'"तुम ज़हर के बान छोड़ने लगीं। इस समय जाने दो। बाद में चाहे जो कह लेना। मेरी खातिर सब सुनेंगे। मैं यह सब बरदाश्त नहीं कर सकती। तुम्हारा खाती नहीं—पहनती नहीं। घर का किराया चाहो ले लिया करो। मेरे अभ्यागतों से तुम इस प्रकार पेश न आ सकोगी। मैं उनका अपमान नहीं सह सकती। मैं स्वतन्त्र हूँ"'"'

प्रकाश ने मुझे शान्त रहने का संकेत कर कहा--'तुम ठीक कहती हो"'"'क्या किया जाय! मंजु करती तो क्या करती? जबर्दस्ती अपने को किसी पर लाद नहीं सकती। कोई अपने घर नहीं रखना चाहता जब? तब क्या करे! तुम हृदय से जानती-मानती हो कि यह निर्दोष है। अन्याय उन लोगों का है। ऐसी दशा में तुम माँ होकर इतनी कठोरता से इसके साथ पेश आओगी तो कैसे काम चलेगा? मेरे आने को लेकर व्यंग करती हो! मैं मंजु के पास आना छोड़ दूँ? मेरे आने का जो मन्तव्य होता है उसे तुम समझ सकतीं तो इतनी बड़ी"'"'असंभावित बात ऐसे गदे-खुले ढङ्ग से"'"'"'इतनी आसानी से न कह सकतीं। मैं इन्हे किस रूप में मानता हूँ यह मेरे दिल के भीतर है"'"' "'"'कलेजा चीर कर तुम्हें दिखा नहीं सकता। जिस दिन अपने भीतर दुर्बलता पाऊँगा उस दिन शादी कर लूँगा"'"'एक परित्यक्त, संतानवती माता के पास आने-जाने की दरकार न रह जायगी। आपने बहुत लगनेवाली बात कह डाली! आप मेरे मंजु के सन्बन्ध में यही सोचा करती हैं। क्या मेरे निकट इनका"'"'इनकी सीमाहीन वेदना का यही मूल्य है! आप मुझमें

किशोर में कोई अन्तर नहीं पातीं ? मुझे अपने पर शर्म आती है..... आपने मुझे ऐसा सोचा !'

'और क्या सोचूँ ?'—माँ ने तमकते हुए कहा 'तुमको न हम जानते थे न पहचानते थे। एकाएक तुमसे इसकी भेंट बनारस में चाँद के घर पर होती है। भगवान उसकी आत्मा को शान्ति दे। वैसे चरित्रवान लड़के घर-घर हों। यह तुम पर रीझना शुरू कर देती है। अपने पति... सास-ससुर की परवाह न कर तुम्हारे साथ चलने को तैयार हो जाती है। उन लोगों को तुम पर विश्वास नहीं। तुम्हारी कोई बात उन्हें मालूम होगी.....वे लोग तुमसे घृणा करते हैं। तुम इसका सत्यानाश हो जाने देते हो पर सम्बन्ध नहीं छोड़ते। यह सब क्या है ? वासना नहीं तो क्या है ? न तुम देवता हो न यह देवी ! क्यों उठते-बैठते तुम्हारा नाम रटा करती है। पति ने त्याग दिया है...भगवान के चरणों में ध्यान लगाये।'

बक-झक कर माँ वहाँ से चली गईं। हम दोनों ने उनकी किसी बात का जवाब न दिया। मेरा रोम-रोम विद्रोह से घुमड़ने लगा। इन्हें किस बात का दावा है ? मेरे सामने मेरे सम्मानित मित्र को अपमानित करने का इन्हें क्या अधिकार है ? माँ होकर पुत्री के मुँह पर उसके चरित्र पर गंदे आक्षेप करना ये उचित समझती हैं ! प्रकाश और मैं मौन भाव से एक-दूसरे की मनःस्थिति बूझने की चेष्टा कर रहे थे। प्रकाश को अपना होश न था। उनके अभिमानी हृदय की वेदना मैं समझ रही थी। मेरी माँ के जाने के बाद वे बराबर निर्निमेष दृष्टि से उस ओर देख रहे थे। मैंने डाली को जगाकर उनकी गोद में बिठा दिया। उसे खिलाते हुए प्रकाश ने कहा—'चाँद की बहन मालूम पड़ती है। ऐसा सुन्दर शिशु मैंने नहीं देखा.....जैसे ग्लेक्सो बेबी ! इसका मुँह कितना लुभावना है !'

मैंने कहा—'मेरे दुर्भाग्य का कहीं अन्त नहीं। अभागिन माँ की संतान को इतना सुन्दर होने की क्या आवश्यकता थी ? चाँद भैया के साथ इतने सादृश्य की क्या जरूरत थी ? ठीक तरह माँ का दूध तक पीने नहीं पाती.....तब अभागिन का यह हाल है ! भर-पेट दूध पीने को

पाती तो शायद इसके स्वास्थ्य का अन्त न होता। इसे लेते जाइये अपने साथ·····मै इसे देख कर कुछ कर नहीं पाती·····कुछ भी नहीं। न जाने मेरा मन और तन कैसा होने लगता है·····'

'अभी नहीं। बड़ी हो जाने दो। इसे कौन पालेगा? माँ का स्वास्थ्य बिगड़ता जा रहा है। बीवी नहीं जो इसे संभाले·····बड़ी होने पर जरूर ले जाऊँगा। तुम न दोगी तो माँग कर ले लूँगा। मेरे प्यारे दोस्त की साकार स्मृति है यह!'

'माँगने की क्या बात है। मेरी सन्तान पर, मुझ पर आप का अधिकार है। माता के स्वभाव में जैसा परिवर्तन हो चुका है आपने देखा। पिता का यह हाल है कि शाम से कमरे में बैठ जाते हैं·····मुझसे कभी बात नहीं करते। आप कल्पना नहीं कर सकते कितने पीड़न·····आत्मदहन के बीच में मैंने यह साल बिताया है। आपने ऐसी उदासीनता धारण की जैसे संसार में रहने योग्य नहीं·····केवल·····केवल उपेक्षा और घृणा की पात्री हूँ। मुझे जीवित रहने·····मन का सौख्य पाने का अधिकार नहीं।·····कैसे जिऊँगी मैं! अभी से जीवन भार लगता है। मर जाने की इच्छा होती है। किसी दिन आप सुनेंगे·····तब आप को संतोष होगा·····'—कहती-कहती में रो पड़ी।·····प्रकाश के नेत्र आप से आप जलमय हो गये·····'

'यह पाप है मंजु!' प्रकाश ने बल बँधाते हुए कहा—'आत्महत्या और तुम! दोनों में कोई संगति मैं नहीं पाता। आत्महत्या की कल्पना से तुम अपने को, मुझे कलंकित करती हो। उस पुनीत आत्मा को व्यथित और अपमानित करती हो जो तुम्हें अपने हृदय के रक्त से रचता रहा—जिससे तुम्हारे भीतर आत्माभिमान और विद्रोह की शिखा जलाई—जो तुम्हारा निर्माता है—हड्डी-हड्डी मज्जा-मज्जा तक·····ऐसा कहकर और सोचकर जैसे तुम मृत्यु के बाद भी उसे न जानने का·····उसका मूल्य न पहचानने का उपक्रम करती हो। भूल जाओ इन बातों को। इस तरह की कल्पना भी पाप है·····सबसे भयानक और कुरूप। तुम इसी

प्रकार समाज की छाती पर प्रहार करती हुई जीवित रहोगी। संसार तुम्हारी धीर-गंभीर-अविचल-अपराजेय मुद्रा देखते-देखते अपना परिष्कार करेगा अपनी शक्ति को देखो···पहचानो। तुमने क्या नहीं किया·····साम्राज्य तुम्हारी ठोकरों से ध्वंस हो गये·····सभ्यतायें तुम्हारे उत्सर्ग की खाद में पनपी हैं। युग-युग से भ्रमित, क्षुभित मानवता तुम्हारे स्नेह-पूर्ण विवेक और वत्सल प्रेरणा के आलोक में अपना मार्ग ढूँढ़ती आई हैं। दिल बड़े बड़े प्रवर्तकों·····बलिदानी शहीदों का भी काँप जाता हैं। लेकिन यह लड़खड़ाहट, यह दृष्टिभ्रम सत्य नहीं। सत्य! है जीवन·····साधना और विवेक की दोहरी दीप्ति से जगमगाता जीवन·····तुम्हारे भीतर वह लहरें ले रहा है·····उसे झूठा न ठहराओ!·····'

'आप मुझे टुकरा देंगे तब मैं क्या करूँगी? सत्य है कि चाँद भैया के यहाँ मेरे लिए आश्रय है। पर मैं वहाँ जाऊँगी नहीं। वे लोग बराबर बुलाते रहते हैं—बड़ी माँ जब आती हैं कहती हैं। मैं अब लखनऊ में नहीं रहना चाहती। आप मुझे साथ ले चलिये·····मुझे नौकरी दिला दीजिये। माँ-बाप के निकाल देने के पहले ही उनका घर छोड़ देना चाहती हूँ। आप मुझे सक्रिय बल दें। मेरे भीतर उठती आँधियों को थामने की शक्ति आप में·····केवल आप में है। मुझे ले चलिये। यहाँ के अनुतापभरे वातावरण में अधिक दिन जीवित न रहूँगी। पशु की तरह बँधे-बँधे·····घिसटते-घिसटते मेरी जिन्दगी बीत जायगी। मैं आगे बढ़ना चाहती हूँ। आप जैसा पथप्रदर्शक·····पाकर भी आगे न बढ़ सकी तो किसे आराधूँगी? मुझे यहाँ से ले चलिये·····कहीं ले चलिये!'

प्रकाश मेरी बातें सुनते रहे·····सुनते रहे। कुछ बोले नहीं। उनके भीतर जैसे भारी द्वन्द्व चल रहा था। डाली के लिये हाथीदाँत के अत्यन्त सुन्दर तीन-चार आभूषण वे लाये थे। उसके हाथ और गले में पहनाने लगे। मेरा ध्यान इन बातों की ओर न था। माँ ने आकर फिर कहा—'खाना बनाने का ध्यान है या नहीं! तुम्हारी बात दूसरी है·····हम लोगों का पेट तो प्रकाश का मुँह देख-देखकर भरेगा नहीं। उनके आने का

टाइम हो रहा है। इसके बाद बैठकर रात भर बातें कर लेना। दस पाँच दिन और·····फिर तुम्हें एक काम करने को न कहूँगी। काम करने से मैं घबराती नहीं·····'

आजकल खाना मैं बनाती थी। माँ को शाम को मीठा-ज्वर हो आया करता था। वैद्यजी ने उन्हें यथासम्भव घर का काम करने के लिये मना किया था। प्रकाश के साथ बात करते-करते समय का ध्यान न रख पाई। शाम होने को आ गई थी। भूख से छोटे-छोटे बच्चे कुलबुला रहे थे। मैंने उठते हुए प्रकाश से कहा—'आप बैठिये। भोजन करके जाइये।'

प्रकाश ने उठते हुए कहा—'नहीं मंजु! चाँद के घर जाना है। फिर मिलूँगा तुम जाओ·····घर का काम देखो। मुझे समय का ध्यान न रहा·····तुम्हारा बहुत-सा काम पड़ा रह गया।·····कहते वे जीने पर आ गये। पीछे मैं गीला मन ले चली। नीचे फुटपाथ पर आकर प्रणाम करते हुए मैंने कहा—'कल आप आयेंगे न! रास्ता देखूँगी। जरूर आइयेगा।'

रात में पिता के सामने मा ने प्रकाश की चर्चा छेड़ी·····जो मन में आया कह चलीं। प्रकाश के साथ मेरी सारी बातें उन्होंने सुनी थीं। तबसे उन्हें चैन न था। मेरी जितनी शिकायतें हो सकती थीं करने के बाद उन्होंने पिताजी से कहा—'सारी बात तुम्हें बता दी। तुम जानो तुम्हारा काम जाने। तुम्हारी लड़की हर प्रकार से रुसवा करने पर तुली है। इन्हीं कुलच्छनों के कारण इतने अच्छे घर में जाकर भी यह नौबत आई। मैं इसके बीच में बोलती नहीं। जो चाहती है करती है। प्रकाश का यहाँ आना-जाना मुझे ठीक नहीं मालूम पड़ता। घर में सयानी लड़कियाँ हैं। लोगों को बदनामी उड़ाते देर लगती है? मंजु अपनी जिन्दगी चौपट कर चुकी। औरों की किस्मत में क्यों आग लगाती है? मैं अब किसी का अपने घर आना-जाना पसन्द नहीं करती। पहले से सावधान रहती तो आज यह फल क्यों भोगना पड़ता।'

पिताजी ने कठोर स्वर में कहा—'प्रकाश को हमारे घर आने की जरूरत नहीं। हमारा सर्वनाश हो गया·····क्या बाकी है जो पूरा करने

यहाँ आता है। उससे साफ-साफ कह देना। मुझे किसी के लिये मुरौवत नहीं। सोचता था, ये लोग मिलकर मेरी गुत्थी सुलझायेंगे। मगर दूसरे का घर जलाकर तमाशा देखने वाले लोग हैं। सब बदमाश हैं.....!'

मैं पिताजी की किसी बात का जवाब न देती थी। भीतर चौके में बैठी सब सुनती रही, मुझे पिताजी से ऐसी आशा न थी। माँ की बात दूसरी थी। वे समझदार थे थे—जानते थे मेरे दुर्भाग्य का प्रकाश से कोई संबन्ध नहीं। वे यहाँ आते हैं। वे यहाँ आते हैं केवल चाँद भैया के के नाते। वर्ना मुझसे उन्हे मतलब क्या? मेरे प्रति उन्हें आकर्षण ही क्या हो सकता है.....बे इन बातों से ऊपर है.....

पिताजी ने कहा—'मैं मंजु के ऊपर बन्धन नहीं लगाता। आज तक नहीं लगाया। प्रकाश से बगैर मिले नहीं रह सकती तो बाहर मिले। मेरे मकान में यह उच्छृंखलता नही चलने की।'

दुख और अपवाद मनुष्य को कितना संशयालु और अकृतज्ञ बना देता है! एक दिन मेरे माता-पिता प्रकाश की प्रशंसा करते न थकते थे। आज मेरे दुर्भाग्य ने उन्हें उनकी नजरो में कितना गिरा दिया है? वे क्यों, मैं भी उनके लिये कितनी बदल गई हूँ? दुर्दिन आने पर खूँटी को हार लीलते सुना था लेकिन माता-पिता को इस प्रकार आँखे बदलते.... कन्या के पतन का प्रपंच करते न सुना था।

पिताजी खा कर ऊपर चले गये। मैं चौके से बाहर निकल डाली को दूध पिलाने लगी। आग के सामने बैठे-बैठे मेरे स्तन गर्म हो उठे थे। पानी से उन्हे धोकर मैंने बच्ची के मुँह में डाल दिया। पूरी खुली, चिड़ियो के चंचल बच्चों जैसी आँखो से मेरी ओर देखती हुई वह चुभुक-चुभुक कर दूध पीने लगी। मैंने सिर पर हाथ फेरते हुए उसके आभूषण ध्यान से देखे। असली-हाथी दाँत के काफ़ी कीमती थे। मैंने उसके नन्हें-नन्हें हाथों को हाथ में ले दुलारते हुये मन ही मन कहा—'बड़ी होने पर तुम समझोगी तुम्हारी माँ ने कितने बड़े अपवाद और कलंक के बीच तुम्हें पाला है। बूँद-बूँद इकट्ठा कर जो निरन्तर टूटती रही.....जीवन की अप-

रिमित कड़ुआहट को झेल इतने बड़े असम्मान के बीच जो जी रही है वह तुम्हारी दुखियारी माँ है। कभी बड़ी होकर तुम समझोगी—कितनी दारुण यन्त्रणा तुम्हारी माँ ने झेली है। तुम इसका बदला लेना..... समाज के हत्यारों को कभी क्षमा न करना.....प्रतिहिंसा की मशाल बन कर जलती जाना.....'

माँ ने भोजन के लिये बुलाया। मेरी इच्छा न हो रही थी। मैंने कहा– 'मैं न खाऊँगी। तबीयत ठीक नहीं। तुम खाओ।'

मेरी छोटी बहिन मालती जो लगभग १५ वर्ष की थी, मुझे बुलाने आई। मैंने उसे लौटा दिया। माँ को शायद यह मेरा अभिनय जान पड़ा। पास आकर बोलीं—'खाने क्यों नहीं चलती? किसने क्या कह दिया तुझे? अपने मन की हो जायगी? माँ-बाप का कोई लिहाज नहीं!'

मैंने कहा—'मुझे किसी ने कुछ नहीं कहा। मेरा शरीर ठीक नहीं। खाने से तबीयत खराब हो जायगी। आकर क्यों तंग करती हो? शान्त बैठने दो। भूख होगी खुद खा लूँगी। किसी के मनाने की जरूरत न पड़ेगी। मैं मान-मनौवल नहीं कर रही।'

माँ और मालती चली गईं। मैं चुपचाप कमरे में जा बैठी। रह-रह कर प्रकाश के मन की बात सोच रही थी। उनके भीतर कौन-सा जाग्रत अभिमान थपेड़े खा-खाकर टकरा रहा होगा। जिस कवि और लेखक का सारा देश सम्मान करता है उसका मेरे घर यह अपमान! माँ ने स्पष्ट-अस्पष्ट तौर पर उनसे क्या-क्या न कह डाला। मेरे सामने विषाद से भारानत उनकी उस संध्या की अनुतापभरी मुद्रा घूम गई जब मुझे उनकी उपस्थिति में फिट आया था। मेरे शरीर का स्पर्श करने के कारण उनके भीतर कैसा आग्नेय आत्म-तिरस्कार जल उठा था। आज मेरे सामने उस दिव्यात्मा पर मेरी माँ लाँछन लगा रही हैं! मेरी खातिर उन्हें सब सहन करना पड़ा। देर तक मुझे नींद न आई। माता-पिता ऊपर के कमरे में रहते थे.....बच्चे ऊपर के दूसरे कमरे और दालान में। मैं नीचे की मंजिल में अकेली पड़ी भाग्य के चलचित्र देखा करती थी। डाली

थोड़ी देर पहले दूध पीकर कुछ देर खेल कर सो चुकी है। मुझे नींद कहाँ ? कल प्रकाश के आने पर क्षमा-याचना करूँगी·····यहाँ आने के लिये मना कर दूँगी। पिता के घर में उनकी आज्ञा के विरुद्ध मुझे किसी को बुलाने·····उससे मिलने का क्या अधिकार है ? जब तक अपने लिये दूसरा मकान ठीक नहीं कर लेती तब तक उन्हें इस घर में बुलाकर अपमानित न होने दूँगी। उनका अपमान चाँद भैया का अपमान है···· अन्त से इस अपमान की गूँज भगवान तक पहुँचती है। मेरे भगवान को यह बुरा लगता होगा। उदासिनी चैत्र की रात्रि के रहस्यमय पथ पर घूमता हुआ मेरा मन आज अवसन्नता, आत्म-ग्लानि, भय और निरुत्साह की थाह नहीं पा रहा।

दूसरे दिन प्रकाश न आये। मैं दिन भर पथ पर आँख बिछाये रही। सुबह खाना बना खा चुकने के बाद अपने कमरे में बैठी उनकी आतुर प्रतीक्षा करती रही। रविवार का दिन था। पिताजी को दफ्तर न जाना था। लेकिन काम अधिक होने के कारण वे बारह बजे दफ्तर गये थे। मैंने मालती को पढ़ाते-पढ़ाते देखा—प्रकाश सामने ताँगे पर चले जा रहे हैं। झपट कर छज्जे पर आई पर वे दूसरी ओर देखते हुए निकल गये। मेरी ओर न देखा। मैं भारी मन लेकर मालती को पढ़ाने लगी। मालती की परीक्षा निकट आ गई थी। साल भर इसने पढ़ा-लिखा नहीं। कभी मेरे पास पढ़ने के उद्देश्य से न आई। क्या मैं घूँटी को तरह घोट कर पिला दूँगी ! बराबर देखती थी माँ-बाप को उसका मेरे पास अधिक उठना-बैठना पसन्द न था। पर साफ साफ कह न सकते थे। जैसे मैं सदेह अभिशाप हूँ—कलंक, जो अपने पास बैठने वालो को क्षण में कलुषित कर देगा। जैसे मेरे पास किसी को देने के लिये दुर्नीति के अतिरिक्त और कुछ नहीं।·····आज इन बातों की ओर मेरा ध्यान नहीं। रह-रहकर प्रकाश के पैर की आहट सुनने की चेष्टा कर रही थी। लगता था वे आज न आयेंगे—यहाँ कभी न आयेंगे·····उन्हें दुबारा न देख पाऊँगी। जीवन के स्थिर-सधे हुए संयत स्वर आज खोये-खोये

लगते थे। विचित्र बात है·····वे मेरे मकान के सामने से ताँगे पर निकल जायँ·····मेरी ओर देखें भी न! मुझ खंडिता को और कितना खंडित करेंगे? चाहिये यह था—आशा-विश्वास मैं यही लिये बैठी थी कि रक्त-बीज की तरह गिर-गिर कर वे मुझे नया जीवन देते रहेंगे·····कहाँ इतनी अवहेलना! कब तक न आयेंगे?

दूसरा-तीसरा इस प्रकार आठ दिन बीत गये पर वे न आये। बीचमें एक दिन बड़ी माँ आईं। मालूम हुआ, वे बड़े भैया का आग्रह मान होटल से उनके बँगले पर आ गये हैं। मैंने बड़ी माँ के सामने उन्हें कड़ी बातें सुनाईं—दूसरे दिन दोपहर में भेज देने को कहा। मैंने कह दिया—'उन्हें मेरे यहाँ नहीं आना तो कह दें, मैं खुद वहाँ आकर मिल जाऊँगी। एक बार उन्हें यहाँ आना है। इसके बाद कभी इस मकान में न बुलाऊँगी। उनका अधिक अपमान करने का मुझमें साहस नहीं·····'

दूसरे दिन वे शाम को घर आये। मैंने कितने उलहने दिये—मिन्नतें की·····अन्त में रो पड़ी। उन्होंने तरह-तरह से धीरज देते हुए अपने न आ सकने का कारण बताया। अपनी ओर से निश्चिन्त रहने का आश्वासन मुझे दिया। जानती थी आज भी वे बड़ी माँ के आग्रह-अनुनय पर आये हैं। उन्हें मेरे घर आने में भीतर-भीतर गहरी हिचक होती है। मेरी माँ का सामना करते वे घबड़ाते है बातों में यह बात उन्होंने प्रकट कर दी। मैंने कहा—'आप एक दिन में—चार बातों से घबरा गये·····मेरे यहाँ आना छोड़ बैठे। तनिक सोचिये मेरा क्या हाल होगा! मुझे उठते-बैठते, खाते-पीते उनके व्यंग सुनने पड़ते हैं। मेरी गति की ओर आपने दृष्टिपात किया? आप लखनऊ में हुए मुझसे मिलने न आयें···उम्मीद करें कि मैं यह अवहेलना सहन कर जाऊँगी। आप इस मकान में नहीं आना चाहते न आयें मैं दूसरा मकान ले लूँगी। अपनी डालीके साथ अकेली वहाँ रहूँगी। मैं खुद ऐसा सोचती थी। आपको अधिक यहाँ आने न देती।'

मेरी माँ ने जो शायद चौके में बैठी मेरी बातें सुन रही थीं सामने आकर कहा—'तू मकान छोड़कर जाना चाहती है! हमारी भलाई इसमें

है कि तू शहर छोड़कर चली जा। तेरी वजह से हम यहाँ मुँह दिखाने लायक न रह गये। हमारे कहने पर चलती नहीं—हमारे वश की नहीं! जहाँ जाना है जा·····हमें अपनी तकदीर पर छोड़ दे। तेरे सामने वे (पिताजी) प्रकाश के लिये कह चुके हैं। वे नहीं चाहते कोई यहाँ इस तरह आये जाये। मुझे जाना है—अलग मकान ले पर यहाँ हमारी छाती पर नहीं। दुनियाँ में कोई जगह नहीं बची? इनके साथ नागपुर चली जा। इनके बिना तुझे चैन न मिलेगा! यहाँ रहकर हमारी ज़िन्दगी दूभर कर देगी। इस घर में तुम दोनों को स्थान नहीं। आँख की ओट रह कर चाहे जितना मिलो-जुलो।'

मैंने कहा—'यही होगा माँ! आज मेरे बुलाने से आ गये हैं। दुबारा तुम्हारे घर न आयेंगे। मैं लखनऊ में अब न रहूँगी। मुझे यहाँ रहना·····जिन्दगी गुज़ारना पाप मालूम पड़ता है। तुम्हारी बातों ने उस पाप को साकार रूप दे दिया है। उसकी घृणित छाया के नीचे मुझसे यहाँ एक क्षण न रह जायगा।'

प्रकाश ने कहा—'मंजु! मैं एक बाहरी—बिल्कुल बाहरी आदमी हूँ। ये तुम्हारे माँ-बाप हैं·····हर प्रकार से तुम्हारे हितू। इनके साथ रहने में तुम्हारा कल्याण है। मैं जानता हूँ—आदमी अपनी स्मृति के स्वप्न में आकाश-कुसुम चयन करता रहता है। लेकिन उसमें सार नहीं। मेरे आने न आने से तुम्हारा क्या बनता-बिगड़ता है? एक फालतू आदमी को लेकर अपने सगे-सम्बन्धियों से झगड़ा करना तुम्हें शोभा नहीं देता। तुम्हारे घर न आऊँगा तो क्या तुमसे दूर हो जाऊँगा? सदैव तुम्हारा रहूँगा····· तुम्हें कभी छोड़ न सकूँगा। लखनऊ छोड़कर तुम्हारा इधर-उधर रहना मेरी समझ में नहीं आ रहा है।'

मैंने देखा—उनके चेहरे पर निस्तब्ध अट्टहास है। हो सकता है उनमें मेरे प्रति करुणा भी किसी कोने में छिपी रही हो, पर शेष सब मुझे अपने प्रति अकर्तव्य जान पड़ा। आज प्रकाश के स्वर बदले हुए थे। मैं उनसे ऐसी आशा न करती थी। जो आदमी बात-बात में विद्रोह-संघर्ष

की चिनगारियाँ बिखेरता हो वह मौका आने पर पलायन की सलाह देगा! लेकिन आदमी का मन—न जाने कहाँ-कहाँ की बातें उसमें आती जाती रहती हैं। मैं अपने को क्या-क्या—कैसी-कैसी समझती थी! विवाह के लिये सहमति देते समय भैया ने मुझे कितना आगा-पीछा दिखाया था···· मुझे कितना फटकारा था। उस समय मैं कितनी 'टिमिड' बन गई थी····'

माँ ने फिर कहा—'वे दफ्तर से आते होंगे। तू सारी बातें तय कर ले। साल भर बाद हमें मालती की शादी करनी है। आदमी का मुँह पकड़ते किसने देखा है। जिसकी एक लड़की इस तरह की निकले उसकी और लड़कियों को परवाह कौन करेगा? कौन उन्हें अच्छा समझेगा? हमारे हित में यह ठीक होगा कि तू कहीं बाहर चली जा—वहीं रह। एक सन्तान की ममता में पड़ कर अन्य का गला नहीं घोंटा जा सकता। प्रकाश के साथ नागपुर जाकर रह। इनसे बढ़कर सहारा तुझे कौन-मिलेगा? जब चाहेगी इनसे मिल सकेगी·····कोई बाधा-बन्धन, रोक-टोक न रहेगी? यहाँ फिर भी बन्धन रहेगा। ले जाओ प्रकाश इसको! तुमने यहाँ नौकरी दिला दी है। नागपुर में भी दिला सकते हो। वहाँ ज्यादा सुखी रहेगी·····हम लोग भी सुखी रहेंगे। आँख फूटी—पीर गई। अभा न इधर में—न उधर में। मेरे घर तुम्हारा आना कतई बन्द हो जाना चाहिए।'

मालती किसी काम से मेरे कमरे में आई और बैठ गई। माँ ने उसे जोर से डाँट कर फौरन ऊपर जाने के लिये कहा। प्रकाश की मुद्रा बदल गई। मुझे भी माँ का व्यवहार अनुचित और असंगत लगा। बिना आँख लाल किये·····गँवारपन दिखाये भी किसी की अवज्ञा की जा सकती है। लड़ना, झगड़ना, मेरी प्रकृति के विरुद्ध था। प्रकाश ने माँ की बात का उत्तर न दिया। मेरी ओर देखकर बोले—'यह घर छोड़ और कहीं जाना तुम्हारे लिये उचित नहीं। कोई अपने ऊपर अन्याय करे तो उन्मत्त न होना चाहिये। अपने को वश में रखना चाहिये। तुमने मुझे व्यर्थ यहाँ बुलवाया। मिलने को उत्सुक थीं तो चाँद के घर आ गई होतीं। तुम्हारी

माँ की बात का उत्तर मेरे पास नहीं। देखता हूँ उन्हें उचित-अनुचित, कथ्य-अकथ्य का ध्यान नहीं। पर तुम समझदार थीं.....'

पहली सन्तान के जीवन की ऐसी दुखद परिणति देखकर मेरी माँ का अन्तःकरण दुःख से बिद्ध हो गया था.....जैसे भीतर का विवेक जल कर क्षार हो चुका हो। बात करते-करते एक डरावनी, अनहोनी विकृति उनमें आ जाती थी। हम लोगों का इस सब में अपराध क्या था? प्रकाश का क्या कसूर था जो वे उन्हें बात-बात में इस प्रकार लाँछित करती थीं.... मुझे सुना-सुना उनके मेरे परिचय को लेकर अकल्पनीय अनुमान लगाती थीं। उनके प्रति शत्रुता, द्वेष-भाव माँ के भीतर क्यों आ गया था? न जाने क्यों उनके भीतर यह धारणा बैठ गई थी कि मैं लखनऊ में रहूँगी तो उनकी लड़कियों के विवाह न हो सकेंगे! मेरे कारण उन पर आर्थिक बोझ न था। ऊपरी खर्च के लिये थोड़े रुपये अपने पास रख बाकी वेतन माँ को दे देती थी। किसी प्रकार उन पर बोझ बनकर मैं न रहना चाहती थी लेकिन उन्हें मेरी सूरत से नफरत होती जाती थी.....ज़ीने पर पिता जी की पग-ध्वनि सुनकर उन्हें और बल मिला। पिताजी चुपचाप सिर झुकाये बीच की छत से होते हुये ऊपर जाने लगे। माँ ने गरज कर कहा—'कहाँ जा रहे हो? रुको.....! अपनी लाड़ली के गुण देखो। जिस बात के लिये तुमने मना किया था वह करती है। अब अलग मकान लेने जा रही है। यहाँ इसकी आज़ादी में बाधा पड़ती है। पहले आज़ादी दी उसका यह नतीजा निकाला। जाने क्या होगा? चाँद की माँ से न जाने क्या कह-कर आज प्रकाश को फिर बुलवाया है। मिल लो उनसे.....भीतर बैठे हैं।'

प्रकाश ने खड़े होकर अभिवादन किया। दिन भर दफ्तर के हारे-थके पिताजी को ऐसे मौके पर उत्तेजित होते देर न लगती थी। जब किसी भाई-बहिन को शिकायत करनी होती थी तब वे ऐसे अवसर पर करती थीं। पिताजी गुस्से से लाल-पीले हो गये। बोले—'प्रकाश! अभी तुम्हारा दिल नहीं भरा! और कितना हमारा

सर्वनाश करना चाहते हो ? मैंने उस दिन मंजु ! तुझे मना कर दिया था। प्रकाश को यहाँ आने की जरूरत नहीं। फिर तूने आज इन्हें बुलवाया। अलग रहना चाहती है खुशी से रह। जब तक यहाँ रहना है तब तक यह सब न हो सकेगा। इतना बड़ा सबक पाकर भी तुझे होश नहीं ! मेरे घर के भीतर वही आ-जा सकेगा, जिसे मैं चाहूँगा। ऐरे-गैरों के लिये यहाँ स्थान नहीं.....'

मैंने कहा—'बाबूजी ! प्रकाश को मैंने बुलाया है। आपको इस प्रकार उनका अपमान करने का अधिकार नहीं। ये मेरे लिये गैर नहीं—आपके लिये भले हो। आप मुझे मकान से निकालने पर तुले हैं, तो मैं निकल जाऊँगी। यह सब मैं सहन न कर सकूँगी। मेरे आत्म-सम्मान है..... उसे भी ठेस लगती है। आप अपना मकान लेकर रहे। मैं चली जाऊंगी। इतनी बड़ी दुनिया में कहीं न कहीं रहने की जगह निकल आयेगी। मैं अकेली रह सकती हूँ—अपनी रक्षा कर सकती हूँ। मुझे किसी का भय नहीं। प्रकाश दुबारा आपके घर न आयेंगे। वे कदापि न आते यदि मैं न बुला भेजती।'

माँ को यह ख्याल न था कि मैं पिताजी को उनके मुँह पर ऐसा जवाब दे सकती हूँ। उनके चेहरे पर विचित्र फूहड़पन खेल रहा था। बोलीं—'सुन लीं इसकी बातें। अब मेरी बातें तुम्हें झूठ न लगेंगी। इसकी निर्लज्जता देख ली न ! तुम्हारी बात का जवाब इस तरह देती है तो मेरी क्या परवाह करेगी ? मैं साफ बताये देती हूँ—इसके साथ नहीं रह सकती। इसे जहाँ जाना हो जाय.....जल्द जाय। लखनऊ में रहकर हमें कलंकित करने की क्या जरूरत है ? कहीं और क्यों नहीं चली जाती ! प्रकाश के साथ कहीं जा सकती है। हमारी कौन बात इसने मानी है ? जो-जो कहा गया, इससे न किया। हर तरह हमारे पीछे पड़ी है.....मिट्टी में मिलाने पर तुली है।'

मैंने दृढ़ स्वर से कहा—'यही होगा माँ ! आज ही तुम्हारे घर से चली जाऊँगी। मैं जान गई मेरे लिये यहाँ स्थान नहीं। अपने को तुम

पर भार न बनाऊँगी। प्रकाश के साथ जाऊँगी। जहाँ वे ले जाकर रख देंगे वहीं रहूँगी। उन पर मेरा विश्वास है। तुम सुख से यहाँ रहना। मैं जिन्दगी की सड़कों पर मारी-मारी घूमूँगी। समझ लेना मर गई। अब मैं जीवित ही कहाँ हूँ? जिन्दगी में मेरे लिये जीने योग्य बचा भी नहीं। मैं आज ही जाऊँगी.....एक क्षण तुम्हारे मकान में न रुकूँगी'—कहती-कहती मैं तैश में खड़ी हो गई.....अपने कपड़े बाँधने लगी। थोड़े से कपड़े अपने और बच्चों के, कुछ किताबें और चाँद भैया की फोटो। छोटे भाई-बहिन रोने लगे, पर माँ उन्हें डाँटती-फटकारती ऊपर ले चलीं। पीछे-पीछे पिताजी क्रोध के क्षोभ से फूला मुँह लेकर उठ गये।

प्रकाश ने कहा—'इतनी जल्दी करने की जरूरत नहीं मंजु! ठंडे दिल से काम लो। माँ-बाप की बात पर आदमी इतना भावुक हो उठे तो कैसे काम चले! ऐसी अद्भुत अनहोनी घटनायें पलक मारते नहीं घटा करतीं। जाओगी आखिर कहाँ? कुछ सोचा है? सड़क पर तो न रह सकोगी। चाँद के घर जा रही हो?'

मैंने फटी-फटी आँखों से निर्निमेष उनकी ओर देखते हुए कहा—'तुम्हारे साथ चलूँगी। जहाँ तुम रहोगे वहाँ रहूँगी। हम परस्पर एक-दूसरे को जानते नहीं.....मेरी फैली हुई बदनामी की सार्थकता और असार्थकता तुमसे छिपी है? तुम्हारे साथ चलूँगी। इसमें सोचना-विचारना कैसा? तुम पर मुझे कितना अभिमान और भरोसा है। तुम ऐसा प्रश्न कर रहे हो?'

प्रकाश ने कहा—'मेरे साथ होटल में चलकर रह सकती हो। कल ही तुम्हारे लिये अच्छा-सा क्वार्टर तलाश कर दूँगा। लेकिन मैं वहाँ सदा रहूँगा नहीं। मेरी प्रकृति रूखी है। ऐसी नीरस कि दो क्षण में सब सोख कर सूखी बालू की तरह ज्यों की त्यों धधक उठती है। मैं किसी दिन यहाँ से चला जा सकता हूँ। मेरी बात को लेकर तुम्हारा इन लोगों को इस सीमा तक अप्रसन्न करना क्या ठीक है? तुम अकेली नहीं। तुम्हारी बच्ची

है—उसकी देख-भाल करने के लिये तुम्हारे अतिरिक्त घर में कोई आदमी चाहिये। सोच लो मंजु !'

अभी तक कुछ समझ न पाई थी। मैंने कहा—'आप जब तक यहाँ हैं तब तक आपके साथ रहूँगी। आप जहाँ जायँगे आपके साथ चलूँगी। नागपुर मुझे ले चलिये। वहाँ भी सुख से रह लूँगी। किसी स्कूल में नौकरी आप दिला देंगे। मुझे भय कौन-सा है ? नागपुर में अपने मकान में न रखियेगा—कहीं और रख दीजियेगा। साथ ले चलने में क्या हर्ज है ? मुझे औरत होकर नहीं मालूम पड़ता तो आपको मर्द होकर क्यो मालूम पड़े ?'

'नागपुर में तुम्हारा रहना ठीक न होगा। बहुत-सी बातें हैं, जिनका ख्याल रखना है। वहाँ मेरे माता-पिता, परिवार के अन्य लोग हैं। हजारों मित्र और परिचित हैं। सबके बीच तुम्हें ले जाकर रखना उचित न होगा। लखनऊ में कोई बात नहीं। अभी मेरे साथ चलकर रहो। तुम्हारे लिये मकान ठीक कर दूँगा। नागपुर में रहने की बात तुम न कहो। तुम यहीं रहोगी।'

मैं जैसे हवाई-जहाज़ से नीचे गिर पड़ी ! नारी कर्मभोग के नशे में चूर मतवाली बनी घूमती है। पुरुष की प्रशंसा और विद्रोहपूर्ण विशेषणों को सुनते-सुनते अपनी हैसियत और औकात को वह भूल जाती है। इसी में तब वह अपने जीवन की चरम सार्थकता सोचने लगती है। उसकी भावुकता से अंधी आँखों को अदृष्ट की निर्मम गति नहीं दिखाई देती। जिस दिन यह विडम्बना पकड़ी जाती है·····इस दुर्भाग्य और धोखेबाजी का भेद खुलता है उस दिन प्रतिकार का समय निकल जाता है। प्रकाश की बात से मेरी आँख के आगे का पर्दा हट गया। इनके ऊपर मैंने इतना भरोसा बाँधा था·····ये ही आज कैसा भुलावा दे रहे हैं ! ठीक है। इन्हें विवाह करना है, घर बसाना है, गृहस्थी की विलासिता सजानी है। जीवनी में उन्नति करनी है—ऊँचे पदों पर पहुँचना है। वहाँ से दूर रह यहाँ चाहे जो कर लें। वहाँ सबके सामने कौन मुँह ले मुझे साथ में

लेकर निकलेंगे ? व्यभिचार के कलंक से कलंकित, पति द्वारा परित्यक्त स्त्री को लेकर उसके साथ अपने सम्बन्धों को स्वीकार करते हुए खुले आम निकलना !!

मैंने कहा—'नागपुर में क्यो नहीं रह सकती ? वहाँ आप प्रतिक्षण पास रहेंगे। हर प्रकार मेरी और बच्ची की देख-भाल कर सकेंगे। मैं आप की निकटता पाकर अधिक से अधिक सीख-समझ सकूँगी। पढ़ूँगी और और पढ़ाऊँगी। यहाँ मेरा रहना मेरे परिवार के लिये किसी प्रकार शिव नहीं। कभी आपकी सेवा कर सकूँगी ! यहाँ रहते शायद ही सुयोग प्राप्त कर सकूँ। मेरी यह साध वहाँ पूरी हो जायगी'·····कहते-कहते मैं आँख के पानी को उनकी दृष्टि से छिपाने की चेष्टा करती हुई अपना सामान ठीक करने लगी। विध्वंस की होली में मेरी आशा और सहिष्णुता के घरौंदे मिट चुके थे। मुझे एक क्षण इस घर में बैठना भारी था। जिन माता-पिता ने जन्म देकर पालन-पोषण किया वे आज जब मेरी मर्यादा रौंदकर इस प्रकार घर से निकालने पर तुल आये हैं तब यहाँ टिकना मुझे असह्य हैं·····बिल्कुल असह्य·····!

'तुम समझती नहीं मंजु ! वहाँ का जीवन कैसा है ? तुम्हारे वहाँ रहने को लेकर कितना बड़ा हंगामा बनाया जायगा। मेरे पिता को दुःख होगा। मैं उन्हें बुढ़ापे में दुःखी नहीं करना चाहता। तरह-तरह की बातें वे तरह-तरह के लोगों के मुँह से सुनेंगे। मेरे प्रति अविश्वास न करते हुए भी उनकी आत्मा व्यर्थ में बिद्ध होगी। तुम्हें डर क्या है ? जब आवश्यकता हो रुपये की या मेरी उपस्थिति की, तब लिख भेजना। मैं तुरन्त चला आऊंगा। वहाँ तुम्हें रखकर शत्रुओं को अधिक कहने सुनने का—अपवाद लगाने का मौका न दे सकूँगा·····'

पहाड़ो के मूल जिससे हिल जाते है—समुद्र के ज्वार जिससे उतर जाते हैं, उससे बड़ा आन्दोलन मेरे जीवन में हो रहा था। सामान बाँधती जा रही थी पर मेरी गति पंगु और भाषा मूक हो रही थी। हाथों को उठाने गिराने में विशेष श्रम पड़ रहा था। जिसका ध्यान आते ही मेरी

चेतना दीप्ति के पंख पाकर ऊपर उड़ने लगती है·····जिसकी परछाईं की कल्पना जीवन की यमुना के तल में आग लगा देती है·····मेरे मानस में वह नित-नित नूतन होने वाली आग और ज्योति आज हर प्रकार से मुझे बुझाने पर तुली हुई है। मुझ-सी अभागिन को यही दंड मिलना चाहिये। मैं मरण से नहीं डरती, पर आज रह-रहकर अपने ही जीवन से भयभीत होने लगी। विश्वास के छूटने से बढ़कर भयंकर घड़ियाँ जीवन में और कौन होती हैं!

आज मुझे घर से चल देना है। यहाँ अब रुकना नहीं। आगे की आगे सोचती रहूँगी। मैंने किसी प्रकार धुएँली आँखों को पोंछ कर अपना सामान बाँधा और कहा—'एक ताँगा ले आओ। न जा सको तो मैं बुला लाऊँ। एकदम तैयार हूँ। अब एक क्षण यहाँ न रुकूँगी। मेरे भाग्य का सिलसिला यहाँ तक था·····वह अब खत्म हो गया। मेरे सामने नया रास्ता है·····'

प्रकाश ने मेरी झंझा-तूफान के ख्वाबों से भरी आत्म-प्लावित मुद्रा को देखकर कहा—'खूब! ताँगा लाने तुम जाओगी—मैं बैठा कुर्सी तोड़ता रहूँगा!'·····और तुरन्त नीचे चले गये। माता-पिता को प्रणाम करने गई। वे लोग कमरे का दरवाजा बन्द किये बैठे थे। ठेल कर देखा—भीतर से बन्द था। चुपचाप नीचे लौट आई। जिन भाई-बहनों के लिये जीवन में अभिशाप झेलने को हँसते-हँसते तैयार हो गई थी—चाँद भैया के इतना समझाने बुझाने पर भी—वे कोई बाहर न थे, ऊपर के कमरे में माता-पिता के साथ बन्द थे। ताँगा आ गया। प्रकाश ने मेरा सामान उस पर रक्खा। मैं 'डाली' को गोद में लिये नीचे उतरी—फुट-पाथ के ऊपर पिताजी के कमरे की ओर देखा। उसकी खिड़कियाँ तक बन्द थीं। ताँगा आगे चला। रास्ते में प्रकाश ने कहा—'चाँद से घर चलें। वहीं रहो न तुम! बुराई क्या है? मेरी सलाह है—तुम क्या कहती हो?'

मैंने कड़े स्वर में कहा—'वहाँ न जाऊँगी। लखनऊ के जाने लगूँगी तब एक बार अवश्य बड़ी माँ से जाकर मिल आऊँगी—आज नहीं।

वहाँ ठहरने के लिये न जाऊँगी। इसके पहले गोमती की पवित्र धारा में अपने को विसर्जित कर दूँगी। आपके होटल में जगह नहीं है क्या? एक कमरा मुझे अलग मिल जायगा? आपके कमरे में साथ रहकर आपको कलंकित न करूँगी। जानती हूँ, आप मुझसे दूर रहना चाहते हैं। मैं दूर रहूँगी।'

वाष्पाकुल वेदना से मेरा अभ्यन्तर उमस-उमस कर फूल रहा था। हृदय के उद्वेलित ज्वार को रोकने के लिये बार-बार डाली को चिपटा लेती थी। ताँगा होटल की तरफ चला जा रहा था। प्रकाश आगे बैठे सामने की ओर देख रहे थे। मैं बैठी पीछे छुटती बस्तियों और अपने मुहल्ले के दूर तक चले आये लम्बे सिलसिले को देख रही थी। मेरे मन के क्लेश की आज सीमा न थी।

———

:१३:

रात को खाना खाकर अपने कमरे में पड़ी जीवन की न जाने कब की बीती बातें सोच रही थी। बगल में प्रकाश का कमरा था। यह कमरा प्रकाश ने विशेष रूप से खाली कराया था। बच्ची की दूध पीने की 'बाटल' छूट गई थी। वे दूसरी खरीदने गये थे। मैं पड़ी प्रतीक्षा कर रही थी। वे आये और टेबिल पर 'बाटल' रखते हुए बोले—'किशोर अभी-अभी इस होटल में आकर ठहरा है! मैं न जानता था उसे दूसरा होटल न सूझेगा। साथ में एक काली-सी औरत है। उसकी पत्नी नहीं जान पड़ती! लगता है कोई महरी या इसी तरह की है जिसे भगाकर ले आया है। खैरियत है नीचे की मंजिल का कमरा उसे मिला है; ऊपर कोई खाली नहीं। मुझे उसने देखा जरूर पर बोला नहीं। मैं उससे कभी बात नहीं करता। तुम जरा सावधान रहना। कमरे से बाहर निकलने की आवश्यकता नहीं। कल मैं तुम्हारे लिये मकान तलाशना आरम्भ करूँगा।'

मेरे सामने उसी महरी की लड़की की सूरत घूम गई! वही होगी—और कौन हो सकती है। अपनी

दूसरी ताज़ी विवाहिता पत्नी को छोड़कर यह सब करने की आवश्यकता उन्हें क्या थी ? मुझे थोड़ा भय लगा—अपने लिये नहीं वरन् प्रकाश के लिए जिसके साथ मैं यहाँ आई थी। जिसके साथ मुझे देखते ही वह क्रोध से पागल हो जायगा। पहली पत्नी को त्याग कर दूसरी पत्नी घर ले आने के बाद भी पति का उस पर अधिकार कम नहीं होता। जिस क्षण वह चाहे जिस प्रकार से उसे भोग सकता है—यह हिन्दू-धर्म का नियम है। पुरुषों की इसी अधिकार-लिप्सा पर उसकी नींव पड़ी है। मैं उठकर बैठ गई। बच्ची की बाटल दूध से भरती हुई बोली—'मुझे अपने लिये भय नहीं। आप को उसने कुछ कहा-सुना या झगड़ा-फसाद किया तो मुझे दुख होगा। मेरे साथ वह जो अधिक से अधिक कर सकता था कर चुका। अब मुझसे बात करेगा तो मैं दूसरे प्रकार पेश आऊँगी। उसकी पत्नी मैं कभी थी पर आज नहीं। अब हमेशा के लिये नहीं। आप उसे इस बार पूरा सबक सिखा दीजिये। वही महरी की लड़की होगी जो घर पर चौका-बर्तन करती थी। उनके जैसे जानवर से ऐसे ही दुष्कर्म की आशा है। अभी क्या हुआ ? दादा को न जाने क्या-क्या भोगना पड़ेगा ! मेरे साथ जो अपघात उन्होंने किया है उसका दण्ड दिये बगैर भगवान् मानेंगे ? किस प्रकार वे उनके कोप से बचेंगे ? मेरे विनाश का सारा दायित्व उन पर है !'

मैं बच्ची को दूध पिलाने लगी। प्रकाश ने कहा—'यहीं मंजु ! मैं सहमत नहीं। भगवान् किसी को कोई दण्ड नहीं देते। सदैव निरपराधों को ही दुःख पाते—सजा भोगते देखा है। इसलिए कभी-कभी भीतर प्रति-हिंसात्मक प्रेरणा होती है—मैं भी पाप करूँ—घोर विदारक·····काला-काला पाप। निरपराध रहूँगा तो उनके दण्ड-विधान से न बच पाऊँगा। अपराध करूँगा तो अवश्य बच जाऊँगा। तुम देखना—जो कुछ भोगना पड़ेगा—तुमको भोगना पड़ेगा। वे लोग हमेशा ऐसे ही मौज करेंगे। दुनियाँ का चलन है। तुम चाहे जो समझो।'

मैं जानती थी—पहले से—इस व्यक्ति के भीतर न श्रद्धा की आन्त-

रिक ज्योति है·····न ईश्वर पर एकान्त विश्वास। पहले मुझे उनको ऐसी बातों में रस मिलता था—वही जो चाट खानेवालों को अधिक मिर्च खाने में मिलता है। आज मुझे उनके वास्तविक रूप की झलक मिल चुकी थी। यही संशय और अविश्वास-बौद्धिक अश्रद्धा और व्यक्तिवाद इन्हें जीवन में कहीं टिकने न देगा। ये इसी प्रकार कटी पतंग की तरह इधर-उधर घूमा करेंगे। किसी को न कोई सहारा दे सकेंगे, न किसी के लिये आधार बन सकेंगे। जीवन की कैसी उँचाइयों पर पहुँच जायँ लेकिन किसी क्षण गहरे गह्वर में गिर सकेंगे। मैंने कहा—'अपनी-अपनी बात है। मुझे ईश्वर की सत्ता पर विश्वास है—आपको अविश्वास। इस विश्वास का सूत्र थामे-थामे मैं आपके साथ, अपने आत्माभिमान और गौरव की रक्षा के लिये, घर से निकलकर चल दे सकती हूँ। इस अविश्वास के शिकार आप लम्बी-चौड़ी बात करते हैं—सामाजिक विद्रोह और नव-निर्माण का दम भरते हैं, पर समय आने पर बगलें झाँकने लगते हैं। मुझ-सी असहाय अबला को साथ ले जाने के लिये तैयार नहीं होते! आपके कितने गहरे मित्र ने आपको मेरा भार सौंपा था! उसके बाद कितने जल्द वह मर गया, इसका भी आपको ख्याल नहीं! मुझे अपने विश्वास पर छोड़ दीजिये। भगवान् का भरोसा न होता.....उनकी दृष्टि में अपने को निरपराध न मानती होती तो मिट चुकी होती.....'

प्रकाश ने कहा—'ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने वाले तर्क मुख्यतः दो प्रकार के होते हैं—युक्तिमूलक और रहस्यमूलक। युक्तमूलक तर्क इस धारणा को लेकर चलते हैं कि यह विश्व किसी की सृष्टि है। उसका स्रष्टा कोई विराट् व्यक्ति होना चाहिये। साथ ही इस सृष्टि का एक उद्देश्य है। ये दोनों तर्क जिस बात को साबित करना चाहते हैं उसकी पूर्व-कल्पना लेकर चलते हैं। कोई कारण नहीं है कि संसार को किसी दैवी विराट् सत्ता की सृष्टि माना जाय। उसे सोद्देश्य मानने का आधार और कम है। दोनो तर्क इतने हल्के हैं कि यदि ईश्वरीय अस्तित्व की मानवीय आकांक्षा न होती तो कोई उन्हें एक क्षण के लिये मन में न

लाता। रहस्यमूलक तर्क और मजेदार हैं। आध्यात्मिक रहस्यवादी दावा करता है कि वह ईश्वर को अपनी आत्मोल्लास की अनुभूति में अनुभव करता है। इस रहस्यानुभूति को बड़ा से बड़ा तर्क असिद्ध नहीं कर सकता। पर बहुत से रुग्ण मस्तिष्क वाले यह अनुभव करते हैं—इन्हीं योगियों की सचाई और आत्मनिष्ठा के साथ—कि वे काँच के बने हैं—या वे सम्राट हैं। वे उसी आत्मविश्वास और निर्णयात्मक दृढ़ता के साथ अपने अनुभव को व्यक्त करते हैं, जिस दावे के साथ योगी अपने ईश्वरीय अस्तित्व के अनुभव को। किसी अनुभव की सत्यता की जाँच हम अन्य अनुभवों के साथ उसकी सूत्रबद्धता और वैज्ञानिक जानकारियों के आधार पर ही कर सकते हैं। रहस्यवादी का अनुभव दोनों का खंडन करता है। उसे विकृति मानना असंगत न होगा। मानवता ने बड़ी भूल की है। इस प्रकार के विकृति के रोगियों और 'न्यूराटिकों' को पागलखाने में बन्द करने के बजाय उन्हें पैगम्बर, योगी और रहस्यवादी की उपाधि दी है। उन्हे शिक्षा, राजनीति, विवाह-संस्था और इतर बातों में केवल दखलन्दाज़ी करने का नहीं वरन् 'डिक्टेट' करने का अधिकार दिया है। धर्म अस्पृश्यता दूर करने को पाप कहता है—उसके सामाजिक और मानवीय प्रभाव को नहीं देखता। सन्तान-निग्रह के शारीरिक, मनोवैज्ञानिक और सामाजिक परिणामों की ओर उसको दृष्टि नहीं जाती। उसे नर्क का द्वार खोलनेवाला घोषित करके ही वह अपने कर्तव्य की इतिश्री मान लेता है। उसके मूल्याकन के तरीके अन्धविश्वास और अज्ञान पर आश्रित हैं। उसमें इतना बल नहीं कि विज्ञान के सत्य और शैली को चुनौती दे सके। विज्ञान का विरोध धर्म केवल इसलिये करता है कि वह धर्म द्वारा संकलित मिथ्याओं का भंडाफोड़ करता है। मैं समझता हूँ यह उचित अवसर है कि मानवता सावधान हो जाय। अपने भाग्य की शक्ति को वह इन रहस्यवादियों के हाथों न सौंप दे जो, केवल अपनी अस्वस्थता (एबनारमेलिटी) के कारण ही बड़े माने जाते हैं।'

मैंने कहा—'इन बातो से मुझे क्या मिलेगा? अन्य दार्शनिकों की

तरह आपकी बातों, विचारों और कार्यों में विषमता क्यों है? वे सदैव ईश्वर पर विचार प्रकट करते समय यह बताने की चेष्टा करते हैं कि ईश्वर के सम्बन्ध में उनकी धारणा जन-साधारण की धारणा से भिन्न है। इस प्रकार वे झूठी और उलझन भरी बात कहते हैं। आपकी बातों और जीवन की क्रियाओं में भी मैं साम्य नहीं देखती। सिद्धान्तों की इतनी बड़ी बातें कहते रहने के बावजूद आपमें नैतिक बल का अभाव है। आपको प्रतिक्षण अपने बदनाम होने का भय काटता रहता है। आप मुझे क्यों नहीं साथ ले चलते? क्या मैं आपके गले में माला बन कर लटक जाऊँगी? क्या मैं आपके पैर की रस्सी बनना चाहती हूँ? मैं लखनऊ में एक क्षण नहीं रुकना चाहती। क्यों—यह आपको समझा न सकूँगी। आपकी जड़वादी बुद्धि मेरी आत्मा के सूक्ष्म संवेदनों को समझ न सकेगी। लखनऊ छोड़कर मैं जाऊँ तो कहाँ? कहीं कोई परिचित और परामर्श देनेवाला दिखाई नहीं देता। आप वहाँ मुझे कहीं नौकरी दिला देंगे। मैं सब प्रकार की आशंका से मुक्त होकर आपकी कृपा के सहारे अपने को आगे खींचती रहूँगी। आप अपने पिता-माता से डरते हैं! उनसे बता दूँगी कि अपनी ज़िद से आई हूँ। आपके ज़बर्दस्त विरोध के बावजूद मैं किसी ओर किसी आश्रय की आशा न देख नागपुर चली आई हूँ। आपको कोई दोष न दे सकेगा। आप विश्वास करिये! वहाँ मैं आपसे मिलने की चेष्टा न करूँगी। किसी बड़ी कठिनाई में पड़ूँगी या संकट के उबरने का मार्ग न दिखेगा तभी आपको पुकारूँगी। यहाँ मुझे जीते जी कुम्भीपाक की यातना मिल रही है। उठते-बैठते मेरी आत्मा मुझे धिक्कारती है। वहाँ इस आत्म-विरोध और आत्म-पीड़न से मुक्ति पाकर आगे पढ़-लिख सकूँगी। जीवन में मुझे अब दूसरा काम नहीं। आपका यह व्यवहार आपकी दृष्टि में एक शालीन संकोच होगा। मैं संकोच को अविश्वास का ही रूप मानती हूँ। आपको मुझ पर विश्वास नहीं.....'

प्रकाश ने कहा—'सोच लो मंजु! अच्छी तरह सोच लो। मुझे कोई भय नहीं—न आत्मसम्मान या आत्म-मर्यादा को लेकर कोई मिथ्या भावना

ही मेरे मन में है। मेरे साथ चलने पर सदैव के लिये पति का द्वार तुम्हारे लिये बन्द हो जायगा। मनुष्य का मन विरोधों का पुञ्ज है। आज नहीं कल·····कल नहीं परसों·····कभी न कभी वहाँ लौटने की इच्छा कर सकती हो। कभी वे लोग तुम्हारी ओर उन्मुख हो सकते हैं। उस दशा में जब तुम नागपुर में रहने लगोगी, समाज की दृष्टि में सारी बातें और पुख्ता हो जायँगी। हम-तुम वहाँ किस रूप में रहेंगे, यह न अभी हम घोषित कर सकते हैं·····न भविष्य हमारी घोषणा को मानने के लिये बाध्य है। इस सम्बन्ध में किसी प्रकार का गर्व करना न मेरे लिये उचित है न तुम्हारे लिये। प्रयत्न करना हमारे हाथ में है। पर मनुष्य का मन·····उसकी प्रवृत्ति का वेग अत्यन्त गहन है। हम चाह कर नहीं पाते·····न चाह कर पाते चले हैं। जीवन की सर्पित वक्रता है, जो मानव को एक पड़ाव पर टिकने नहीं देती मैं तुम्हें ले चल सकता हूँ। बाद में·····जिसे हम तुम स्वप्न में भी न चाहते हों वह हो जाय तो मुझे दोष न देना·····'

मैंने बच्ची को पलंग पर लिटा दिया और कुर्सी पर बैठकर कहा—'आप सोचते हैं' मैं उन पशुओं के घर मैं लौट कर जाने की कभी इच्छा करूँगी! अभी-अभी आपने जो संवाद सुनाया है। उसके बाद भी मेरे मन में ऐसी कुरुप प्रेरणा कभी आयगी कि मैं उनके यहाँ जाऊँ! आप मुझे गुलामी की गुड़िया समझते हैं? इस प्रकार प्रताड़ित-अपमानित होने पर मैं पति के चरण चूमने जाऊँगी! रह गयी आपके और मेरे भविष्य के सम्बन्ध की संभावना, जिसके लिये आप के मन में दुविधाजनक आशंका हो सकती है। पर मेरे भीतर ज्वलन्त विश्वास है·····भगवान् की भक्ति का रक्षा सूत्र है जो कभी मुझे डिगने·····आपको अपने व्रत से डिगाने न देगा। इसे आप गर्वोक्ति न समझें। यह हमारा युग-युग का संस्कार है। अपनी इच्छा से चाहे जिसकी ओर जितना बढ़ें पर एक बार यदि दूरी की स्थिरता नाप ली·····उसे बनाये रखने का संकल्प कर लिया तो कोई शक्ति नहीं—

पुरुष के बड़े से बड़े आकर्षण में बल नहीं, जो हमें अपनी ओर खींच सके। सदियों के निर्यातन और आत्म-अस्वीकरण ने नारी को यह आत्म-अधिकार प्रदान किया है.....'

प्रकाश ने कहा—'तब ठीक है। तुम चलो। मुझे आपत्ति नहीं। तुमने अब तक मुझे कायर-दुर्बल समझा, इसका अफसोस नहीं। मैं सोचता हूँ.....ईमानदारी से अनुभव करता हूँ। तुमने माता-पिता कि का घर छोड़ कर ठीक नहीं किया। संभव है मेरी बात के लिये नैतिक आधार न हो पर मानव की अच्छा-बुरा, हित-अनहित पहचानने की जो सहज वृत्ति होती है, वह मुझे ऐसा कहने और महसूस करने को विवश करती है।। तुमने अब तक जो कहा—मैंने किया। यह भी करूँगा। तुम मेरे साथ नागपुर चलो। मेरे घर में रहो—माता-पिता-भाइयों के साथ—चाहो अलग रहो। तुम्हारी दृढ़ता देखकर मैं अभिभूत हो उठा हूँ। अपना सारा आचारवाद और कौटुम्बिक आदर्शवाद मुझे झूठा लगता है। सत्य है केवल उस स्वतन्त्र संसार की कल्पना—जहाँ सब सुखी, स्वतन्त्र और समान रह सकें। .....जहाँ हृदय भयशून्य.....मस्तक गौरव से ऊँचा रह सके। जहाँ तुम जैसी साध्वियों को ऐसा कठिन पराभव.....अभिशप्त जीवन-दाह न भोगना पड़े। सोचता था—बहुत दिन से सोचता आया था, विवाह न करूँगा। एक मरे सपने की कंधे से लटकाये चौदह-पन्द्रह वर्ष से जीवन के सुनसान बियाबाँ में घूम रहा हूँ। इस उजड़ेपन में, इस वीरान नैराश्य में अपने जीवनादर्श की सार्थकता देखता था। अब आँखों के आगे का पर्दा उठ गया है। लगता है, यदि नारी को बचाने का सवाल उठेगा—मेरे द्वारा किसी नारी के निर्यातन का अन्त हो सकेगा तो विवाह करूँगा—दो करूँगा—चार करूँगा—और अधिक करूँगा। तुम सोच लो—बार-बार सोच लो मंजु! मेरे साथ चलने के अंजाम की असलियत पहचान लो—तब चलो। शौक से मेरे साथ चलो!.....'

मैं शंकित हो चली। ऐसा आग्रह एक बार रात को ऐसी अस्त-व्यस्त घड़ियों में मेरे जीवन-निर्माता ने किया था। मैं उनके प्राण की ललकार

न संभाल सकी थी·····उनके सामने से—जीवन में राजमार्ग से भाग कर एक अनजानी, अचीन्ही गली में आश्रय लेने की मैंने चेष्टा की। फलस्वरूप वह डाल ही न रह गई जिसपर बचपन के सपनों का—जवानी के जलवागाहों का आशियाना था। मैं मिटी और सदा को मिट गयी। यह इनकी भावुकता का आवेग है। कवि का मन बहते कुहासे का बना होता है। उसकी स्थिरता और दृढ़ता पर विश्वास नहीं जाग्रत होता। मैंने कहा—'सोइये जाकर! दिन भरके थके हैं। अधिक भावुकता से उत्तेजित होने की आवश्यकता नहीं। पहले मुझे साथ ले चलने में हिचकिचा रहे थे, अब सपनों की ऐसी उन्मादक वारुणी मुझे पिलाने लगे! मैं आप से कुछ नहीं चाहती·····किसी से कुछ नहीं चाहती। केवल यहाँ से दूर···· बहुत दूर भाग चलना चाहती हूँ। आप वहाँ मेरे रहने का प्रबन्ध कर दें—पेट की रोटियों के लिए अध्यापन-कार्य दिला दें। अधिक की दरकार नहीं। किसी को यहाँ चिन्ता भी न होगी, मैं कैसी हूँ·····कहाँ हूँ····· किस रूप में हूँ। मैं अपना मूल्य जानती हूँ। मुझे कुछ न चाहिये···मुझे कुछ न चाहिये·····'—कहती-कहती मैं रो पड़ी·····इच्छा न होने पर भी रो पड़ी। रुलाई की भीतरी घुमड़ बेअख्तियार होकर बरस पड़ी।

प्रकाश की आँखों की निर्मलता धुँधली हो रही थी। जैसे सच हो या झूठ मेरे जीवन के साथ अब इस मीमांसा का कोई सम्बन्ध नहीं···· कोई सार्थकता नहीं। मेरा यह अपवाद-अवसित जीवन इन सच्ची-झूठी बातों के बाहर चला गया है। उनकी आँखों में वाष्पीभूत होती हुई नमी मेरे जीवन की अभेद्य शून्यता का साक्ष्य दे रही थी। वे करुण दृष्टि से इस शोषित-शापित नारीत्व के प्रतीक को देख रहे थे जो चारों ओर से हताश, निरुपाय हो उनकी शरण में खड़ी है·····शरण के अतिरिक्त जो और कुछ पाना नहीं चाहती·····सब कुछ पाने·····उपभोग करने का सामर्थ्य होते हुए भी जो सामने बैठे दाता के दान को इस प्रकार ठुकरा रही है। जो मिलन के आदर्श को अपने अविकृत रूप में रखना चाहती है। जो अपनी लघुता और निस्सारता से इतनी झुकी हुई है कि उसे

उठने के लिये सहारे का हाथ भी स्वीकार नहीं। जो लाँघने की शक्ति अपने भीतर रखकर भी सीमा को लाँघ नहीं पाती! करुणाभरी दृष्टि से मेरी ओर देखते हुए वे धीरे-धीरे कमरे से बाहर चले गये। मैंने उठकर दरवाजा बन्द कर लिया और पलँग पर लेट गयी। पर मेरी चिन्ता का आर-पार न था। एक चुटकी अन्न माँगनेवाले को सम्पूर्ण भंडार मिलता दिखाई दे, तो वह किंकर्तव्यविमूढ़ होकर सोचता रह जाता है..... कितना.....कैसे सँभाले?

———

****

:१४:

होटल में मुझे दो दिन बीत गये। मैंने शहर में अलग मकान ढूँढ़ने का आग्रह प्रकाश से न किया। उनके साथ मेरा नागपूर जाना तय हो गया। उन्हें मेरे पास बैठने और सुस्थिर चित्त से बात करने का अवसर न मिल पा रहा था। एक-दो बार थोड़ी देर के लिये मेरे कमरे में आते पर उन्हें अपने कार्य समाप्त कर यहाँ से चल देने की जल्दी थी। उनकी पुस्तक लखनऊ के एक प्रकाशक के यहाँ से निकल रही थी जिसे वे यहाँ से चलने के पूर्व समाप्त कर देना चाहते थे। मैं दिन भर कमरे में एकाकिनी पड़ी पढ़ा करती या तरह-तरह की बातें सोचा करती। अपने भविष्य को अन्त तक देखने का यत्न करती। पर किसी विषय को—जीवन के किसी व्यापार को—भाग्य के किसी उलट-फेर को अन्त तक सोचना-समझना मानव के लिये असंभव है। बड़े से बड़े बुद्धिमान्-विद्वान को भी अंतिम फल भगवान् के हाथ से ही लेना पड़ता है। मैं तो कुछ नहीं। कहाँ जाकर मेरे जीवन की यह व्यथा-गाथा समाप्त होगी? मैं देख रही हूँ—इतने छोटे जीवन-काल में समझ

चुकी हूँ कि मेरे साथ जिसका संपर्क हुआ वह सुखी न हो पाया। प्रकाश को अपने साथ बाँध कर मैं उनके जीवन को कहाँ ले जाऊँगी--किस ओर उनकी सहज स्निग्ध सुखद गति बढ़ेगी? जिस अनिर्वचनीय शान्ति और आत्मतृप्ति की तरंग में उनका जीवन बहा जा रहा है उसमें मैं और अकल्पित - अचीन्हा तूफान खड़ा करने जा रही हूँ? उनकी बात ने—उनकी वीरोचित, पुरुषोचित ललकार ने मेरी मतवाली कल्पना को आकाश-कुसुम की माला गूँथ-गूँथ कर पहनानी शुरू कर दी। जैसे मतवाला व्यक्ति अपनी कल्पनाओं की अधिकता के कारण स्पष्ट और क्रमबद्ध रूपसे कोई बात सोच नहीं सकता वैसे मैं भी कुछ निश्चित न कर पाती थी। मेरी दबी इच्छायें और कामनायें पूर्ण स्वतन्त्रता के साथ अंधड़ का वेग लेकर—बरसाती गंगा का प्रखर प्रवाह लेकर—बह चली हैं। मैं फिर स्वप्नों के समुद्र में डूबने-उतराने लगी हूँ। भरपूर चेष्टा करने पर भी तृष्णा से व्याकुल अन्तःइन्द्रियों का हाहाकार क्यों नहीं रुकता? सबेरे से आकाश से सूर्य की तेज किरणें बरसने लगतीं। प्रखर ताप से खिड़की-दरवाजे गरम हो उठते। बिजली का पंखा होने पर भी तिमंजिले का कमरा तपने लगता। मैं पसीने से तर हो-होकर पड़ी-पड़ी तन-मन को दग्ध करनेवाली अग्नि की दाहकता में जला करती। प्रकाश के साथ चल रही हूँ पर जिस अभिमान का जीवन-पाथेय आज मुझे बल दे रहा है क्या वह टिक सकेगा? रह-रह कर मेरा मन विशृंखल और अस्पष्ट हो उठता। यहाँ तक बढ़ आने के बाद यह अनिश्चित उद्देश्य, यह निर्लज्जता क्यों प्राण को आशंकित करती रहती है? मेरे बढ़ते हुए पैर रह-रह कर रुकने क्यों लगते हैं? मेरी स्मृति का आकाश रह-रह कर मेघाच्छन्न क्यों हो उठता है? कैसे अनिष्टप्रद ग्रह इन बादलों की आड़ में छिपे हैं जो जीवन की मरुभूमि को विनाश की जलधारा से प्लावित कर देने की बातें करते हैं। सारा संसार गंदगी से भरा है—समाज की गंदगी समुद्र की गंदगी के समान अथाह है। पर मुझे घड़े के समान छोटे अपने जीवन की गंदगी क्यों बारम्बार दिखाई पड़ती है? क्यों मेरी गहराई इतनी

कम है जो अपनी कल्पित और झूठी गन्दगी की भावना से बेचैन हो कर मैं विह्वल हो उठती हूँ ? क्यों मेरे संस्कारों की बुनियादें इतनी खोखली हैं कि अपनी ओर देखना भी मुझे असहनीय हो रहा है ? यह किस भयानकता का आवरण है जो मेरे व्यक्तित्व को प्रच्छन्न करने के लिए बार-बार फैलता रहता है ? चेष्टा करने पर—बारम्बार केष्टा करने पर भी मैं क्यों स्वस्थ भावनाओं की दुनिया नहीं बसा पाती ? किसकी जिन्दगी के मार्ग में बाधायें, अड़चनें, रुकावटें नहीं ? शुरू से ही पवित्रतम भावनाओं के अनुकूल अपने जीवन को बनाने की चेष्टा करने पर भी मैं आज कहाँ से कहाँ आ गयी ? जीवन की वास्तविक उठान को मैं अपने भीतर अनुभव क्यों नहीं कर पाती ? ज्यों-ज्यों मैंने मंज़िल की ओर बढ़ने की चेष्टा की त्यों-त्यों वह दूर भागती गयी ! ज्यों-ज्यों मैंने अपने मार्गदर्शक शुक्रतारे को देखने का प्रयास किया त्यों-त्यों वह किस्मत की अँधेरी तहों की ओट होता गया ! आज जब वह दिखा है·····अधिकाधिक समीप आता प्रतीत होता है तब मेरे मन की भयशील चिन्ता क्यो इतनी चंचल हो उठती है ? अकेली पड़ी-पड़ी ऐसी असंख्य बातें सोचती पर थक न पाती। सोचने का अन्त नहीं पर एक भी प्रेरक प्रबोध नहीं मिलता। एक-एक कर जीवन के सत्यों को टटोलती हूँ पर सब मिथ्या से भरे, अपवाद-पूर्ण लगते हैं। जो 'डाली' मेरे अशान्त मन के लिये वसन्त की चैती चाँदनी जैसी चंदन-स्निग्ध थी वह भी आज जलते-सन्तप्त मन को अपनी वात्सल्य-परिपूर्ति से शान्त नहीं कर पाती। एक बात स्पष्ट होती जाती है। मैंने बराबर आज तक अपने को मिथ्या के भुलावे में रक्खा है। मन ही मन अभिमान करती रही कि सत्य की पूजा कर रही हूँ—आत्मिक पुण्य का प्रचार कर रही हूँ पर कभी सत्य को सत्य की तरह देख और अनुभव कर सकी हूँ ? कभी सिर ऊँचा कर—आँखें स्थिर रख सत्य को सत्य की तरह कह सकी हूँ ? मिथ्या की कितनी बड़ी भूमिका बाँधकर मैंने सत्य को रोचक बनाने की चेष्टा की है ! उसकी पैनी धार बराबर अपने से दूर रखती रही हूँ। यह कितना भयानक पाप मैंने किया है आज समझ नहीं

पाती। उसकी सीमाहीनता मेरी समझ के दायरे में नहीं अँटती। मेरे अनुभव का उद्देश्य—कल्पना का रहस्य चाहे जो हो पर इस ममता का—इस हठ का आधार असत्य था। यही क्या मेरे सारे संताप और सर्वनाश का कारण नहीं? मेरे इस महामूल्य दम्भ ने—अपने को सत्यव्रती समझने के अभिमान ने मुझे कितना गिरा दिया! असंभव को संभव करने की चेष्टा मैंने की और संभव को—सुलभ को प्रकाश की रेखाओं से घिरते देख-देख कर भी आँखें मूँदीं। जब अतीत में घोषित की गयीं अपनी दंभपूर्ण उक्तियाँ मुझे याद आती हैं तो सम्पूर्ण जीवन मिथ्या का घटाटोप आडम्बर मालूम पड़ने लगता है। सारा शरीर जल उठता है और किसी तरह अपने को सँभाल नहीं पाती। पिंजरे में बन्द जंगली पशु की तरह होश सँभालने के बाद से ही गर्जन-तर्जन करती रही पर कभी उस मुक्ति की ओर बढ़ नहीं पाई जो पिंजड़े का पाश तोड़ते ही अपने भुजपाश में बाँध लेती है। इतना मर्मभेदी दाह भोगने के बाद आज जब उसका आलोक दिखाई दे रहा है तब फिर एक नयी मिथ्या आकांक्षा प्रतिहिंसा की तरह रह-रह कर भीतर धधक उठती है। अद्भुत लज्जा और घृणा से अन्तःकरण भर-भर आता है। जिसे पहले पहल देखकर ही जान गयी थी कि प्रेम की लालसा मेरे अन्दर कितनी प्रबल है—जिसकी गंभीर अन्तर्दृष्टि मुझे सिर से पैर तक पहली ही बार डुबो गई थी वह आज मुझे अङ्गीकार कर रहा है·····मैं अपने को उसके चरणों पर समर्पित नहीं कर पाती। क्या मुझे लगता है मैं उसका अपकार करने जा रही हूँ? मैं क्यों अपने को इतनी क्षमताशालिनी मानती हूँ कि किसी का अपकार या उपकार कर सकती हूँ? क्यों उसे तन-मन से प्रेम करने की मेरी चेष्टा स्थायी नहीं हो पाती? प्रेम की शक्ति मुझमें शेष नह रह गई तो अपने सामने यह सत्य मैं क्यों स्वीकार नहीं कर पाती? आँखो की भूल नहीं—हृदय का अपराध नहीं—आत्मा का भ्रम नहीं तो फिर यह है क्या जो मुझे आज सब कुछ पा जाने पर भी अचञ्चल और लवलीन नहीं होने देता।

लगभग ग्यारह बजे होगे। प्रकाश सुबह आठ बजे प्रेस चले गये थे। अब तक न लौटे थे। मैंने ग्यारह बजे आकर साथ खाना खा जाने के बाद फिर चलने के लिये कह दिया था। खड़ी उनके आने की राह देख रही थी। उनसे बहुत-सी बातें करने के लिये तुली और तनी बैठी थी। कब उनका काम यहाँ खत्म होगा·····कब यहाँ से चलेंगे? पीछे की ओर होटल से लगे बाग में लाल, कासनी, नीले, रङ्ग-बिरंगे फूल थे, हरी घास थी और विलायती चिनार, सफेदे और बेंत के वृक्ष थे। किसी अँग्रेज बैरिस्टर की कोठी थी जो उसकी मृत्यु के बाद स्वामी बदलते-बदलते आज होटल के रूप में चल रही है। मैं खड़ी प्रकाश की बात सोच रही थी। उनकी हस्ती कितनी महान है·····उनकी महानता कैसी विचित्र है जो उनके भक्तों में भय का उत्पादन न कर उन्हें करीब आने के लिये आकर्षित करती है।·····मुझे लगा दुमंजिले की छत पर खड़ा कोने पर खंभे की आड़ से कोई घूर रहा है। क्षण भर के लिये मेरी दृष्टि मिल गयी। मैंने अपने पति को पहचान लिया। दूसरे ही क्षण उनकी आँखो में क्रोध की आग भक् से जल उठी। मैंने खिड़की बन्द कर लेना चाहा पर न जाने कब से संचित अभिमान ने मुझे खिड़की बन्द न करने दी। मन की बात मन में रह गयी। अनजाने ही आँखो से घृणा का आवेग फेंकती हुई उधर से दृष्टि हटा मैं दूसरी ओर देखने लगी। मेरे पति उसी प्रकार आवेशपूरित दृष्टि से मेरी ओर देख रहे थे। उस दिन रात को प्रकाश के साथ उनके सम्बन्ध में जो बात आयी थी उसके बाद उनकी कोई चर्चा न उठी थी। मेरा ख्याल था वे दूसरे दिन अपनी चहेती को साथ लेकर वहाँ से चल दिये होंगे। वे अभी इस होटल में हैं यह मुझे ज्ञात न था। थोड़ी देर के लिये, प्रकाश की आकुलतापूर्वक प्रतीक्षा करते-करते मैं अपने तुच्छ अस्तित्व को—अपने तंग दायरे को छोड़कर एक महान और सुन्दर दुनिया का भाग बन गयी थी·····एक सरल, प्रसन्न, अद्भुत वातावरण का भाग बनकर अपने को कुछ क्षण के लिये भूल चुकी थी। सहसा किसी ने फिर मुझे उसी कुरूप असंगत दुनिया

में फेंक दिया जिससे उभर कर मैं इतने ऊपर उठ आयी थी। मैंने दृष्टि फेर ली। खड़े रहना दुश्वार हो रहा था। आकर चुपचाप डाली के पास चारपाई पर बैठ गयी·····

पाँच-सात मिनट के बाद कमरे का दरवाजा खटका। मैं प्रकाश के आने की बात सोच अर्धमुदित-अर्धविषण्ण मन से दरवाजा खोलने चली। दरवाजा खोलते ही किसी ने जोर से धक्का देकर भीतर प्रवेश किया। मैं सहम कर हट गयी। सामने पतिदेव खड़े थे। उनकी आँखें क्रोध से लाल थीं। संभवतः उन्होंने होटल में प्रकाश को देखा था, पर घृणा के कारण उनसे बात न की थी। मेरे यहाँ होने की कल्पना भी उनके मन में न आई होगी। मुझे वहाँ देख और पहचान कर उन्होंने फ़ौरन प्रकाश की उपस्थिति के साथ मेरा सम्बन्ध जोड़ लिया। गरजते हुए बोले—'तुम यहाँ कैसे आईं? प्रकाश के साथ निकल भागीं! बेहयाई की हद कर दी! छिनाल कहीं की! फ़ाहिशा !!'

कुछ क्षणों के लिए स्तंभित हो गयी। पतिव्रत की कैसी निःस्वार्थ निर्लिप्त भावना भारतीय पति के कुसंस्कार-ग्रस्त मन में गर्जन किया करती है; स्वर्ग-मर्त्य में कहीं इसका जोड़ है? मुझे इस प्रकार अपंग बनाकर—जीवन भर के लिये कलंक-कुविचार की गठरी बनाकर पैर से ठुकरा दिया। स्वयं दूसरा विवाह कर, उससे भी संतुष्ट न हो—एक तीसरी औरत के साथ भाग कर यहाँ आ गये, पर मन से पत्नी-आधिपत्य की भावना दूर नहीं हुई। अब भी आशा करते होंगे—इन्हें देखते ही मैं अपनी छाती चीरकर अपने हृदय के रक्त से इनके पाँव धोऊँगी! जैसे भारतीय नारी के भीतर मनुष्यता का रक्त नहीं बहता·····जैसे उसमें और ज्ञानहीन पशु में कोई अन्तर नहीं। अपना अपराध कुबूल करना, लज्जित होना तो दूर, इस प्रकार मुझे आँखें दिखाकर अपना परम्परागत दर्प प्रकट करने आये हैं!

मैंने कहा—'आपको इस तरह अपशब्द बोलते शर्म आनी चाहिये। आप मेरे कौन हैं जो मुझे गालियाँ दे रहे हैं? आपको बिना पूछे—बिना

मेरी आज्ञा के मेरे कमरे में आने का क्या अधिकार है ? चुपचाप यहाँ से चले जाइये, वर्ना अभी नौकर को बुलाकर आपको निकलवा दूँगी। आपकी पत्नी जब थी तब थी। अब मैं आपकी कोई नहीं।'

पतिदेव क्रोध से थर-थर काँप रहे थे, जैसे नदी के अशान्त जल पर किनारे खड़े मौन वृक्षों की काली छाया काँपती है। उद्वेग के कारण उनके मुँह से बोल न निकल पाता था। उनकी हकलाहटभरी मुद्रा अपनी आन्तरिक कुरूपता से रह-रहकर घिरी आती थी। कुछ क्षण अटूट चेष्टा करने के बाद मुँह से शराब की दुर्गन्ध उड़ाते हुए बोले—'तुम्हें पता है—मैं अभी तुमको जूते मार-मारकर घर ले जा सकता हूँ। तुम्हारे साथ मेरा विवाह हुआ है। तुम आज भी मेरी पत्नी हो और जन्म-जन्मान्तर रहोगी। कहाँ है बदमाश प्रकाश ? मेरे सामने आये ! कहाँ छिपा है वह ? आज उससे निपटना चाहता हूँ। तुम्हें बाद में समझूँगा—पहले उसे ठीक कर लूँ। तुम जरूर उसके साथ यहाँ होटल में पड़ी मौज कर रही हो—माँ-बाप के मुँह पर कालिख पोत कर भाग निकली हो। पहले हमारा सिर नीचा किया। अब उनके मुँह पर कोयला पोता। डूब मरने के लिये दो चुल्लू पानी न मिला !'

मैंने कहा—'आप ज़बान पर लगाम रक्खें ! फौरन यहाँ से निकल जायँ वर्ना मैं शोर-गुल मचाकर मैनेजर को बुलाती हूँ। आपको किसने बुलाया था जो शराब पी कर यहाँ बलवा करने आ पहुँचे। प्रकाश यहाँ नहीं हैं। वे बाहर गये हैं। आते होंगे—आपको कान पकड़कर निकलवा देंगे। उनके सामने आप मेरा अपमान न कर सकेंगे। जाइये ! फौरन जाइये !'—कहते-कहते मैंने टेबिल पर लगी बिजली की घंटी की ओर हाथ बढ़ाया। बटन पर उँगली जाने के पहले ही प्रकाश ने प्रवेश किया। पतिदेव को देख कर उनके तेवर बदल गये। बोले—'कौन ? किशोर ! तुम ! यहाँ क्यों आये ? बैठो, खड़े क्यों हो'—कहते-कहते उन्होंने अपनी मुद्रा के भाव-परिवर्तन को इस सफाई से सम्हाल लिया कि मुझे अपनी

दृष्टि पर अविश्वास होने लगा। उन्होंने एक आरामकुर्सी पर बैठते हुए दूसरी पर बैठने के लिये उनको संकेत किया।

'तुम्हारी इतनी जुर्रत! मेरी औरत को उसके बाप के घर से भगा लाये·····यहाँ होटल में रक्खे हुए हो। अभी पुलिस में इत्तिला करता हूँ·····तुम्हें इसका मज़ा चखाता हूँ। मुझे तुम जानते नहीं। मेरा नाम किशोर है। इलाहाबाद के गुण्डे मेरे नाम से थर्राते हैं। तुम्हारी जान की खैर नहीं प्रकाश! तुमने मेरी आबरू लूटी है। मैं इसका बदला लूँगा। पहले तुम्हें साफ करूँगा तब इस हरजाई की जान लूँगा। दुनिया को यह कहकर हँसने का मौका न दूँगा कि किशोर के दूसरी शादी कर लेने के बाद उसकी पहली औरत लोफ़रों के साथ होटल में मुँह काला करती रही। मुझे पुलिस में इत्तिला देने की क्या ज़रूरत? मैं तुम्हारे लिये काफ़ी हूँ। मैं अपने अपमान का बदला ले सकता हूँ। मैं तुम्हें पीस डालूँगा·····कमीने नहीं के! अपने घर में ही यह हरकत करते तुम्हें शर्म न आई! तुमने समझ लिया किशोर मर गया। किशोर मरा नहीं, जिन्दा है।'

मैंने प्रकाश से कहा—'फ़ौरन इस जानवर को कमरे से बाहर निकालिये। मुझे इसकी सूरत से नफ़रत है। कौन है यह अब मेरा जो मुझे भद्दी गालियाँ दे रहा है? आप मेरी रक्षा नहीं कर सकते?

प्रकाश ने शान्तिपूर्वक कहा—'किशोर! सबको अपने जैसा न समझो। मैं तुम्हारी हरकतें जानता हूँ। तुम जिस महरी की लड़की को भगा लाये हो, वह नीचे के कमरे में बैठी है। उसके पास जाओ····· अपने क्रोध को ठण्डा करो। मंजु को ठुकराकर तुमने दूसरी शादी की— उसके बाद यह जघन्य कर्म किया। फुसला-बहला कर अपने घर काम करने वाली मज़दूरिन की लड़की भगा लाये। तब विवाहिता पत्नी का कोई ख्याल तुम्हें न हुआ। यहाँ मंजु को देखकर·····कमरे में उसे अकेली पाकर कायर की तरह डरा धमका रहे हो! जाओ! चुपचाप चले जाओ। मंजु मेरे साथ जा रही है। वह नागपुर में रहेगी·····वहीं आगे

पढ़ेगी या नौकरी करेगी। पुलिस में इत्तिला करने की बात छोड़ो। तुम्हें लेने के देने पड़ जायँगे। अपनी खैरियत देखो। मंजु को उसके भाग्य पर छोड़ दो।'

पतिदेव की दोनों आँखों की उन्मत्त दृष्टि से प्रज्वलित वह्निशिखा झाँक रही थी। क्रोध से उनका शरीर काँप रहा था—दोनों नथुनों से शरारे फूट रहे थे। रोम रोम से विद्वेष के आक्षेप की ज्वालाएँ निकल रही थीं। बोले—'तुम इसे अपने साथ भगा ले जाओगे! तुम्हारा ख्याल गलत है प्रकाश! कि यह तुमसे प्रेम करती है। यह प्रेम किसी से नहीं कर सकती। यह केवल सर्वनाश कर सकेगी। इस झूठी, निर्लज्ज, भ्रष्टा को तुम अपने साथ ले जाकर सुख पाने की सोचते हो! यह जिस घर में पैर रक्खेगी, उसका सत्यनाश हो जायगा। साकार पाप है यह!'—कहते-कहते पतिदेव आवेग से हकलाने लगे·····नशे का गहरा झोंका आ जाने से वहीं कुर्सी पर बैठते हुए टँग गये। उनकी चेष्टा विकृत हो रही थी····· गले से आवाज़ न निकल पाती थी·····रुँधी जाती थी।

मैंने प्रकाश की ओर घूम कर कहा—'आप मेरा अपमान कराने पर तुले हैं। आपमें इतना साहस नहीं कि इस पशु को यहाँ से निकाल बाहर करें। जो मुँह में आता है बके जा रहा है। आप इसे लेकर प्रेम से बात करिये—मैं यहाँ से जाती हूँ। असह्य घृणा से मेरी छाती फटी जा रही है। आपको खिलवाड़ सूझा है। इसने इतनी बातें मुझे सुनाईं। आपका जी नहीं भरा। ऐसा था तो आप कमरे में आये क्यों? मैं नौकर को बुलवाकर इसे अब तक यहाँ से हटवा देती·····'

प्रकाश ने कहा—'ठहरो मंजु। इस प्रकार की उत्तेजना तुम्हें शोभा नहीं देती। ये तुम्हारे पति हैं जिन्होंने शास्त्रोक्त मंत्र के अनुसार तुम्हें ग्रहण किया था। भले ये अयोग्य, निरंकुश सिद्ध हों, तुम्हें नारीत्व की गरिमा, भव्य मर्यादा का पालन करना है। बार-बार इनके जानवरपन की घोषणा—वह भी भद्दे ढंग से कर तुम किस मनुष्यता का परिचय दे रही हो, मैं समझ नहीं पाता। जब तक शरीर में स्पंदन है—हमें जीना

है, जब तक जीना है तब तक मानवोचित सौजन्य-शील का परित्याग नहीं करना……'

मुझे लगा किसी ने मीलों गहरे खड्ड में ढकेल दिया हो और मैं मनों वज़नी होकर वायु वेग से नीचे गिरी जा रही हूँ। विधाता से मेरा एक क्षण का भी अभिमान नहीं देखा जाता। मेरे रोम-रोम में क्रोध की धूनी जल उठी—तरह-तरह की आशंकायें हृदय को जलाने लगीं। आशा की मृगतृष्णा में भूल कर अपने को क्या से क्या समझ बैठी हूँ! हवा के एक ही झोंके से मुँह का आवरण हट गया……सामने का आकाश साफ दिखाई देने लगा। अपनी औक़ात पर आने वाले को फिर भी कुछ क्षण लग जाते हैं। बोली—'ठीक है। आप मुझे ही दोष देंगे। इतनी देर से ये मेरा घृणित अपमान कर रहे हैं—आप को जैसे उससे मतलब नहीं। उल्टे मुझे जलाने के लिये इन्हें मुँह लगाते चले जा रहे हैं। मेरी तन्मयता और आत्मसमर्पण का यह पुरस्कार आप दे रहे हैं! क्यों न हो! आपके वर्ग-संस्कार जागते भला देर लग सकती है! कुछ देर में आप मुझे सलाह देंगे मैं इनके साथ लौट जाऊँ…… जाकर फिर उसी नरक को आबाद करूँ। यही नसीहत देना आप के लिये बाकी रह गया है—और सब आप कह चुके।'

प्रकाश के मुख पर वेदना की रेखा उभर आई, जिसे मैं अपनी नैराश्य-भरी रोष-ज्वाला की लालिमा में देख कर भी समझ न सकी। मेरा मन उस समय उफनाते कड़ाहे की तरह तप्त हो रहा था। जीवन में जिस मोड़ पर अपने को लाकर डाल दिया है, वहाँ प्रकाश की सहानुभूति और सहायता की मुझे सबसे अधिक आशा थी। उसी स्थल पर मुझे उनकी ओर से अप्रत्यक्ष तिरस्कार मिल रहा है। प्रकाश ने संयत, सुस्थिर स्वर से कहा—'ये तुम्हें अपने साथ बलात् ले जाना चाहेंगे तो मैं रोक न सकूँगा मंजु! इनका तुम पर कानूनी अधिकार है। हिन्दू-धर्म और सनातनी विवाह में तलाक नहीं, यह तुम जानती हो। जब तक ये तुम पर अपना दावा प्रकट नहीं करते तभी तक स्वतन्त्र हो। वर्ना ये तुम्हें

अपने साथ ले जा सकते हैं। तुम्हें जाना पड़ेगा। कोई तुम्हें रुकने में सहायता नहीं दे सकता।'

मैं मूर्तिमान आश्चर्य बनी उनकी ओर देख रही थी। प्रकाश की इन कायरता की असहायता भरी बातों में मुझे उनका वास्तविक स्वरूप दिखाई दे रहा था। समझ न पा रही थी यह इनके पुरुषत्व का यथार्थ रूप है या केवल गंभीर कातरता का स्पर्श लिये तानेज़नी से भरी चुटकी जो अपनी विनोदशील प्रकृति के कारण इस विषम स्थिति में भी लेने से बाज नहीं आ रहे। पर मैं तिलमिलाई जा रही हूँ। शरीर का एक-एक अंग काट कर फेंक देने को जी चाह रहा है। प्रकाश के मन के भीतर मेरी ओर से इतनी गहरी अवचेतन घृणा है, मैं न जानती थी। तीन दिन पहले भावावेश में जो-जो बातें कह गये हैं उन्हें सोच-सोच कर कितने शंकित, संशयालु हो रहे होंगे! यदि मुझे नहीं चाहते—इस प्रकार की अपमानजनक स्थिति में मुझे अकेली डाल कर भाग निकलना चाहते हैं, तो मैं भी इनके गले जबर्दस्ती न पड़ूँगी। अभी इतनी उन्मत्तता मेरे भीतर नहीं आई। इनकी रचनाएँ पढ़-पढ़ कर इनके प्रति पुंजीभूत श्रद्धा अवश्य हो गई थी। अब इनका वास्तविक रूप खुला आ रहा है। दूसरे को अपराधी बनाने के सुख का संवरण ये इतने बड़े कवि-लेखक होकर भी नहीं कर पा रहे। उससे अपने को वंचित करने का साहस इनमें नहीं। अपनी नस-नस में धंसी अक्षमता से छुटकारा पाना कठिन नहीं असंभव होता है। झूठी या सच्ची एक मान्य सामाजिकता की भावना से ग्रसित इनके हृदय और मस्तिष्क का संस्कार कैसे एक पतित्यक्ता, समाज-कलंकिनी नारी को अपने साथ ले जाने के लिये राजी हो? पढ़ने-लिखने में उन्नति और यश प्राप्त कर लेना एक बात है.....जीर्ण-शीर्ण प्राचीनता के अंगीभूत संस्कार को त्याग सकना बिलकुल दूसरी! मैंने दर्प-पूर्वक उठकर कहा—'आपने पहले क्यों न बता दिया? इस प्रकार यहाँ लाकर मेरा अपमान कराने की क्या आवश्यकता थी? मैं हरगिज आप के गले न लगती

.....कहीं, किसी ओर, किसी के साथ चल देती। आप समझते हैं इस पशु के साथ मैं वापस जाकर उस पशुताभरे वातावरण में रहूँगी ! ये कानूनन मुझे ले जा सकते हैं। आप सुसभ्य, सुनागरिक होने के नाते कानून की शक्ति का विरोध क्यों करने लगे—वरन् उसकी सहायता करेंगे। इनका इरादा मेरे प्राण रहते पूरा न हो सकेगा। ये अपने साथ मेरी—मेरी बच्ची की लाश ले जायँगे। मैं सम्मानपूर्वक मरना ऐसी ज़िन्दगी से अच्छा समझती हूँ। विश्वास है कि इस प्रकार मरने पर भगवान् मुझे आत्महत्या, शिशु-हत्या के पाप का भागी न मानेंगे। मैं वहाँ न जाऊँगी।'

मेरे पति ने क्रुद्ध दृष्टि से मेरी ओर देखते हुए कहा—'तुझे अपने घर ले जाऊँगा ? तुझे मैंने किया.....करके छोड़ दिया। तेरी जैसी नककटी को ले जा घर में फिर अशान्ति पैदा करूँगा ! छिः छिः ! तुझे जहाँ जाना हो जा.....मुँह काला कर अपना लोक-परलोक बिगाड़, मेरे यहाँ तेरी जैसी कुलटा को स्थान नहीं ! वहाँ जाने, रहने की बात कभी मन में न लाना। लेकिन तुम प्रकाश के साथ भी न जा सकोगी। तुमको चुपचाप जाकर अपने माँ-बाप के साथ रहना होगा। प्रकाश तुमको साथ नहीं ले जाना चाहता—यह तुम समझ गयी होगी। इतनी बुद्धि तुममें नहीं, ऐसा नहीं मान सकता। बात-बात में अपने को निरपराधिनी मानती हो—उसकी घोषणा करती हो ! इस शोहदे के साथ भाग निकलने में भी तुम्हारी सरलता-निरपराधिता है ! इतने दिन मजा लूटता रहा। तुम्हें साथ ले जाकर माँ-बाप से बैर मोल ले ? समाज की बदनामी अलग। समझ गयी न ! किसी और का पल्ला पकड़ो। यह कलिकाल है कलिकाल ! इसमें किसी पर विश्वास करना खतरे से खाली नहीं.....' कहते-कहते वे पैशाचिक अट्टहास कर उठे। मुझे लगा किसी ने मेरी छाती के ठीक बीचोबीच गोली दाग दी। उनकी इस हृदयहीन स्पर्द्धापूर्ण निर्लज्जता और दानवता का उत्तर देने का मुझमें अब शक्ति न रह गयी थी। काँपती तलमलाती मैं वैसी ही वज्राहता अहमिता-सी खड़ी थी.....'

मेरी ओर से प्रकाश ने जवाब दिया। बोले—'किशोर! तुमने मेरी बात का वही अर्थ लगाया जो मंजु ने भ्रमवश लगाया। मंजु की बात दूसरी है। स्वप्न देख कर एकाएक जग उठनेवाले मनुष्य की तरह वह बात-बात पर चौंक पड़ती है। अपने दुःख में उठते-बैठते डूबा-उतराया करती है पर तुम्हें मेरा स्वभाव और चरित्र मालूम है। मैं कोई बात तय कर लेता हूँ तो पीछे हटना नहीं जानता। मंजु मेरे साथ जायगी..... अवश्य जायगी। न भी जाना चाहेगी तो उसे ले जाऊँगा। उसे मैं कहीं नहीं छोड़ सकता। रहना चाहेगी—मेरे मकान में रहेगी। वर्ना उसके लिए नागपुर में स्थान की कमी नहीं। तुम चुपचाप कमरे से निकल जाओ। समझता था तुम्हारे भीतर शायद मनुष्यता की एक-आध चिनगारी शेष हो। देखता हूँ मेरा भ्रम था। तुम पूरे जानवर बन गये हो। निकलो! फौरन निकलो यहाँ से! तुम्हारी छाया से भी पाप लगता है। मंजु! ये यहाँ से निकलवाने पर जायँगे। टेबिल की घंटी बजाओ!'

चेष्टा करने पर भी मेरा हाथ न उठ पा रहा था। पतिदेव के मुख पर क्षण भर के लिये जनशून्य श्मशान जैसा सन्नाटा छा गया। पर दूसरे ही क्षण यथा संभव कड़कते हुए उन्होंने कहा—'तुम इनको अपने साथ रक्खोगे! ये तुम्हारे घर पर रहेंगी। तुम इन्हें अपने घर डाल लोगे या विवाह करोगे? एक बार फिर यह निकृष्टा तुम्हारे साथ भाँवर भरेगी। तुम्हारी पत्नी बनकर तुम्हारे स्वामीत्व का गुण-गान करेगी! तुम यह क्यों करने लगे! कुतिया की तरह किराये की कोठरी में पड़ी रहेगी..... रात को तुम्हारा पलँग पीला करेगी।'

प्रकाश ने उठकर पतिदेव की गर्दन पकड़ उन्हें इतने जोर से ढकेला कि वे कमरे के सामने की छत पर आ गिरे। मैं जब तक बढ़कर उन्हें रोकूँ तब तक प्रकाश कमरे के बाहर ढकेल चुके थे। पतिदेव के क्रोध का आर-पार न था। वे भद्दी-भद्दी गालियाँ बक रहे थे। मेरी आँखों से आज पहले-पहल उनके लिये एक अध-बना आँसू टपकते-टपकते रह गया। प्रकाश ने मेरी ओर देखकर कहा—'तुम्हारा कहना ठीक था मंजु!

इसे उसी समय कमरे के बाहर ढकेल देता तो क्यों यह भ्रष्टाचार सुनने को मिलता। मन में आता है मारते-मारते अधमरा कर दूँ पर भलमनसाहत रोके देती है। चलो कमरे के अंदर.....'—कहते-कहते प्रकाश ने मेरा हाथ पकड़ कर भीतर ले चलना चाहा। इतने में पतिदेव उठकर खड़े हो गये.....हाँफते हुए पीछे से मेरी कमर पर इतने जोर से लात मारी कि मेरे मुँह से आर्तनाद निकल पड़ा.....आँखों के सामने अँधेरा छा गया। मैं वहीं धम्म से गिर पड़ी और वेदना से दोहरी हो गयी। तब तक उन्होंने पागल की तरह दाँत पीसते हुए प्रकाश के गले में हाथ डाल कर उन्हें जोर से गिरा दिया.....उनकी ओर झुककर उन पर मुक्कों की बौछार करने लगे। सुबह की भूखी-प्यासी, मन की थकी मैं यह आघात न सहन कर पाई। पर प्रकाश के दुबले-पतले, सुकुमार शरीर में इतना बल है—मैं न जानती थी। पतिदेव नशे में थे। नशे में आदमी का सारा बल यों भी बिखरा-बिखरा रहता है। पतिदेव की मुक्कों की मार को चीर कर प्रकाश खड़े हो गये और उन्होंने पतिदेव के दोनों हाथ पकड़ इतने जोर से उमेठने शुरू किये कि उनका दम निकलने लगा। घबड़ाहट में मैं विकट रूप से चिल्ला पड़ी। प्रकाश ने तब उनका एक हाथ तो छोड़ दिया पर एक हाथ उमेठते हुए दूसरे हाथ से उनका कान पकड़ कर नीचे सीढ़ियों पर उन्हें उतारने लगे। इस शोर-गुल में मेरी 'डाली' जग पड़ी। मैंने उसे उठाकर गोद में ले लिया.....प्रकाश से उन्हें छोड़ देने की मिन्नतें करती हुई नीचे उतरने लगी। पतिदेव एक हाथ से अपने गाल सहलाते हुए बेबसी से 'बाँ-बाँ' कर रहे थे। मेरे मन में न जाने कैसी ग्लानि उमड़ी आ रही थी। कमर में तीव्र वेदना हो रही थी। जमीन पर लुढ़क कर मैं पास रक्खी खाली बाल्टी पर गिरी थी जिसमें मुँह पर भी चोट आई थी। पर मुझसे यह सब देखा न जाता था। दुख, आत्मग्लानि से मैं जली जा रही थी। दोनों के बीच

इतने दिन का दबा संघर्ष जब आज प्रकाश्य और दुर्निवार हुआ है तब कहाँ जाकर उसका अन्त होगा, यह मैं समझ न पा रही थी। प्रकाश के भीतर उत्तेजना की आग मैंने पहली बार भड़कते देखी थी। पीछे-पीछे नीचे दुमंजिले की छत पर जब प्रकाश पतिदेव को पालतू पशु की तरह ले आकर खड़े हुए तब मैंने कोने के एक कमरे के दरवाजे की आड़ से झाँकते दो नयन देखे जो मुझे पहचान कर तेजी से विस्फारित हो उठे। 'कौन! बहू जी!'—कहती हुई वह स्त्री कमरे से बाहर आ छत पर निकल खड़ी हो गयी। मैंने पहचान लिया। छबिया थी, जो दादा के यहाँ चौका-बर्तन किया करती थी। मैंने कहा—'छबिया! अपने बाबू को भीतर ले जा। चारपाई पर लिटा दे। इन्हें नशा ज्यादा हो गया है। ऊपर जाकर मारपीट कर रहे थे। घबड़ाने की जरूरत नहीं! मैं सब समझ चुकी हूँ।' फिर 'इन्हें आप छोड़ दीजिये। बहुत हो गया। मुझे न जाने कैसा लग रहा है.....'—कहते-कहते मैंने प्रकाश के कुर्ते का सिरा पकड़ कर अपनी ओर खींचा। प्रकाश ने चुपचाप उन्हें छोड़ते हुए कहा—'आज से किसी पर हाथ छोड़ने का दुःस्साहस न करना किशोर! पाशविक आचरण तुम्हीं नहीं, दूसरे भी कर सकते हैं। तुमने मंजु को लात मारी है। मैं उसके बदले में तुम्हें ऊपर से यहाँ तक जूतों से मारता ला सकता था। मैं भी पुरुष हूँ। गुन्डेपन की बातें, नहीं करता, इसका यह अर्थ नहीं कि मेरे शरीर में बल नहीं है। जाओ, चुपचाप बैठो! ज्यादा बदमाशी करोगे तो होटल के प्रोप्राइटर से कह कर कोतवाली भेजवा दूँगा। तुम्हारे साथ यह औरत भी हवालात में बन्द कर दी जायगी।' मैंने उन्हें अपने आगे कर पीछे चलते हुए कहा—'जाने दीजिये! आपने मेरे सारे अपमान का बदला ले लिया। चलिये ऊपर! शान्त होइये। बैठे-बिठाये कहाँ की झंझट आ गयी। अब होश ठिकाने आ जायँगे।'

'तुमने व्यर्थ लुढ़वा दिया। मैं इसी तरह कान पकड़ कर उसे होटल के बाहर कर आता। किस कारण से····किस अत्याचार के बल से उसने तुम्हारे शरीर पर पैर उठाने की हिम्मत की? तुम्हारी कमर में दर्द हो रहा है? क्यों पीछे-पीछे नीचे चली आई? चुपचाप ऊपर बैठतीं। क्यों न हो—हिन्दू स्त्री हो न! जिसने तुम्हें हर प्रकार रुसवा किया·····आज लात का प्रहार किया उसी पति को पिटते देखकर हृदय में करुणा का महासागर लहराने लगा होगा! मन करता होगा उसके पैरों पर जाकर उसी तरह लोटने लगो जैसे लहरें आ-आकर पहाड़ की जड़ों पर टकराती हैं। मैं यह सब सहन नहीं कर सकता। जीवन में पहला अवसर है जब मैंने किसी पर हाथ उठाया है। मुझे इसके लिये तनिक लज्जा नहीं। बाहर क्यों खड़ी हो? कमरे में आओ·····बैठो!'

मैं समझ गयी। अब उनकी बारी थी—चाहे जो कहते। पर अपने मन को क्या करूँ? यहीं आकर नारी निवश हो जाती है। वह समाज का तिरस्कार कर सकती है—धर्म के गले में फाँसी की रस्सी का फन्दा लगा सकती है—प्रेम के मिथ्या मोह में फँस कर अपने को सब प्रकार की सार्थकताओं से वंचित कर सकती है पर अपने नारीत्व को पैर से कुचल कर फेंक नहीं सकती। झगड़ा, किचकिच, दाँता-किलकिल के साथ दिन-रात निष्फल क्रीड़ा करते रहने पर भी, दैहिक-मानसिक परिवर्तन हो जाने पर भी उसके युग-युग के संचित संस्कार नहीं बदल पाते। पति पर उसकी आँख के सामने आघात हो—मार पड़े·····उसका हृदय न हिल उठे यह असंभव है। मैं क्या बोलती? मेरे अपराध का प्रायश्चित कहाँ? अपने सहज सौजन्य, उदारता के भाव से प्रकाश ने सहानुभूतिपूर्ण रुख पतिदेव के प्रति आरम्भ में दिखाया जिसे मैंने अपने प्रति अस्वीकरण, असम्मान, अवमानना समझा! उसके लिये अपने को कैसे उबरा-उबरा मानूँ? कैसे उनसे आँख मिलाकर बात करूँ?

पतिदेव घायल भेड़िये की तरह कूद-कूद कर चिल्लाने लगे थे और निर्लज्जता की चरम सीमा पर पहुँच कर भला-बुरा समझने की विचारशक्ति तक खो चुके थे। मैं वैसी न थी। कैसे मैंने उस दाता की बात पर अविश्वास किया जो मुझ जैसी कुत्सित, श्रीहीन, अधीरता की चरम सीमा पर पहुँची हुई, मानसिक जर्जरता की प्रतीक, मूर्तिमती अलक्ष्मी को गले का हार बनाकर ले चलने की बात, भरे हृदय—उच्छ्वसित कंठ से रात की पुलक-संचारिणी घड़ियों में कह चुका है। बोली—'तुम जो कहोगे स्वीकार करूँगी। मुझे बता दो किन शब्दों में तुमसे क्षमा माँगूँ। बिना तुम्हारी बात का मर्म समझे, तुम्हारे मन की थाह पाये मैं बारूद की तरह भड़क कर तुम्हें उसके सामने खरी-खोटी सुना गयी। तुम्हारी कायरता पर विश्वास कर बैठी! बताओ मैं कैसे माफ़ी माँगूँ!'

छबिया ने कमरे में प्रवेश किया। मैं कुर्सी पर बैठी डाली को गोद में लिये थी। प्रकाश सामने आरामकुर्सी पर लेटे हुए सामने गौर से देख रहे थे जहाँ नीचे से धीरे-धीरे आकर—बरामदे के खंभे के सहारे कुछ देर खड़ी रहकर छबिया किसी भाँति हिम्मत बाँध मेरे कमरे में आई थी।

मेरे पैर के पास चुपचाप जमीन पर बैठ गयी। मैं कुछ न बोली। प्रकाश ने कहा—'क्यो आई है यहाँ! किसने बुलाया था? जा नीचे।'

'बहूजी के पास आई हूँ बाबूजी! क्यों आप नाराज हो रहे हैं। मेरी मालकिन है।' मैंने कहा—'अब नहीं छबिया! जब थी—तब थी। तू वहाँ उनके पास जा—मेरे पास क्या रक्खा है? बुरे से बुरे स्वप्न में मैंने कल्पना न की थी कि उनका यहाँ तक पतन हो जायगा! तुझे क्या कहूँ! अपना भला-बुरा तू समझती है।'

छबिया डाली को मेरी गोद से लेकर जमीन पर बैठे-बैठे खिलाने लगी। प्रकाश के लिये यह असह्य था। उठकर खिड़की के पास

खड़े हो बाहर की ओर देखने लगे। मैंने कहा—'छबिया! मुझे तुझसे शिकायत नहीं। तू मन ही मन शर्म से मरी जा रही है। तूने कभी सोचा न था यहाँ ऐसी हालत में मुझसे तेरी भेंट होगी। इसी को सयोग कहते हैं। अपने पति के चरित्र का यह पहलू मुझे देखना बदा था। मेरे साथ उन्होने जो किया भगवान् जानते हैं। अपनी इसी बच्ची को अस्वीकार कर मुझे ठुकरा दिया—दूसरा ब्याह कर लिया? जो आदमी ब्य हता पत्नी के साथ ऐसा सलूक कर सकता है वह भगाकर लाई हुई नौकरानी की लड़की के साथ कैसा व्यवहार करेगा—तू समझ सकती है। अपने पर बीतने वाली सोच ले। अभी कुछ बिगड़ा नहीं। अपने माँ-बाप के पास लौट जा। बिरादरी वाले तेरा कुछ न कुछ इन्तजाम कर देगे। इनके पल्ले पड़ी रहेगी तो एक दिन दो-दो चार-चार पैसे के लिये तुझे तन बेचना पड़ेगा।'

छबिया फूट-फूट कर रोने लगी। प्रकाश ने पीछे मुड़कर कुछ चिढ़ते हुए अंगरेज़ी में कहा—'क्या पचड़ा लेकर बैठ गयीं? इसे जाने दो। खाना खाने की सुधि है या नहीं? मुझे एक बार प्रेस जाना है।'

मैंने छबिया से कहा—'मेरे सामने रोने से कुछ न होगा। कौन-सा सब्ज़ बाग देखकर तू भाग निकली है जैसा करेगी—भोगेगी। जा यहाँ से।'

छबिया चुपचाप उठकर चली गयी। शायद नीचे अपने कमरे में पड़े वे जोर-जोर से चिल्ला रहे थे। छबिया के कान तक आवाज आ पहुँची.....वह सहमती हुई चली गयी। मैंने प्रकाश से कहा—'क्यों नाराज हो गये। न जाने क्या बात करने आई थी। तुम्हारी डाट-फटकार सुनकर कहने की हिम्मत न कर सकी—चली गई।'

प्रकाश ने कहा—'क्या बिगड़ गया? जाकर उसके कमरे में सुन आओ। जाओ न!'

मैंने कहा—फालतू बात न करो। मुझे माफ़ कर दिया या नहीं।

मैंने तुम्हें गलत समझा.....जो मुँह से निकला कह डाला। मेरी आत्मा बराबर जल रही है। विनती करती हूँ, मुझे क्षमा कर दो। इतने स्नेह-मान-आदर से मैं लालित-पालित हुई हूँ कि बहुत जल्द मेरा मन बिगड़ जाता है। मैंने तुम्हें कितना तुच्छ समझा! जैसे तुम उससे मेरी रक्षा करने के बजाय उसे बलपूर्वक मुझे ले जाने देते! कितनी नादान हो जाती हूँ कभी-कभी! मुझे बड़ा दुःख है। इस दुःख के आगे सारी बातें गौण हो गयी हैं। उनके पाद-प्रहार की सारी पीड़ा.....चोट की यन्त्रणा इस मानसिक क्षोभ के सम्मुख भूली हुई हूँ।'

प्रकाश ने स्नेहपूर्वक मेरी ओर देखकर कहा—'उस पर व्यंग कर रहा था मंजु! उस मूर्ख में इतनी बुद्धि कहाँ। उसे ही क्या कहूँ! जब तुम्हारी जैसी बुद्धिशालिनी मेरे व्यंग को न समझ पाई—ऐसी-वैसी बातें अपने मन में ले आई तब वह तो फरमायशी मूर्ख है। जाने दो—तुम मेरे साथ चलोगी। इस सम्बन्ध में अब कोई वाद-विवाद न सुनूँगा। मेरे भीतर वासना का—किसी प्रकार की लालसा का राक्षस तुम्हें न मिलेगा जिससे आत्म-रक्षा करने के लिये संघर्ष करना पड़े। अधिक से अधिक सात्विक मनोभूमि में तुम मेरे भीतर रहोगी। जब तुम जो भी मुझसे चाहोगी—मैं तुम्हें देने के लिये प्रस्तुत रहूँगा। आवश्यकता पड़ने पर तुमसे विवाह करने से भी पीछे न हटूँगा। माँ-बाप, भाई, मित्र-समाज, परिवार—किसी का मोह मुझे तुम्हारे प्रति कर्तव्य-पालन करने से न रोक सकेगा। किशोर की ओर से बेफ़िक्र रहो। वह 'बुली' है। खाने भर को पा गया है। समझता था पशुबल से मुझे परास्त कर लेगा। अब वह तुम्हारी-मेरी ओर आँख उठा कर न देखेगा। होश में आते ही होटल छोड़ चला जायगा।'

मैंने बात काट कर कहा—'मुझे डर लगता है। आप मुझे छोड़ कर कहीं न जाइये, जब तक वे होटल से चले न जायँ। आप बाहर

चले गये—उन्होंने आकर मुझ पर—मेरी बच्ची पर हमला कर दिया तो मैं किसे पुकारूँगी ? प्रूफ यहीं मँगवा लीजिये।'

खाना खाने के बाद प्रकाश मेरा कहना मान प्रेस न गये। उन्होंने प्रूफ होटल में ही मँगवा लिया। शाम को चाय पीते समय मैंने कहा—'मेरा जी न जाने कैसा हो रहा है। अज्ञानवश आपके साथ जो अपराध किया उसकी कुण्ठा तो है ही—साथ ही आपकी बातों से मुझे एक विचित्र, सिर से पैर तक उजाड़ देने वाला भय लगता है। मैं जो चाहती नहीं, जिसकी मैं अधिकारिणी नहीं वह आप मुझे क्यों देते हैं! मेरे जीवन में उतना ही प्यार भूरिये जितना एक राही दूसरे राही के जीवन में भरता है। मेरे मन के मौन तपस्वी को आप सपना का पथिक न बनाइये! आप बार-बार विवाह कर मुझे पत्नी रूप में ग्रहण करने की चर्चा क्यों करते हैं ? मिट्टी की इस कलंकित काया को ऐसा अभिशप्त वरदान क्यों देते हैं ?'

प्रकाश ने मेरी ओर स्थिर दृष्टि से देखकर कहा—'मंजु! मैंने निश्चय किया था विवाह न करूँगा। विवाह कर गृहस्थी बसाने की चाह जीवन में उठी ही नहीं। लेकिन तुम्हारे सामने शेष जवानी का जो पहाड़ मुँह बाये खड़ा है उसे देख कभी-कभी चिन्तित हो उठता हूँ। तुम-सी आचारपरायणा हतभागिनी को इतने निकट से देखने का अवसर पहले न मिला था। तुम्हारे प्रति उत्कट करुणा और श्रद्धा अनुभव कर रहा हूँ। बता नहीं सकता—मेरा मन जैसे पर्वत की चोटी से एकदम नीचे गिरकर चूर-चूर हो गया है! तुम्हें सुखी बनाने के लिये—पहले जैसी हँसती-खेलती मंजु बनाने के लिये मैं सब कर सकता हूँ। मुझे लगता है चाँद की गता आत्मा मुझे अभिनव बल प्रदान कर रही है। मेरे जीवन की उद्विग्नता जाती रही है। आत्मा की वह शान्ति—जीव का वह विश्राम जो इतने दिन नहीं मिला—खोया-खोया—हाथ से निकला-निकला रहा—आज मिलने जा रहा है। हो सकता है तुम्हारे

रूप का जादू चल गया हो। मैं भी आदमी हूँ--देवता नहीं। मनुष्य के मन का क्या ठिकाना ? कौन जाने कब काहे से बिगड़ता है—काहे से बनता है। प्रचंड से प्रचंड आघात झेल कर भी कभी-कभी हल्की से हल्की चोट से छटपटाने लगता है। प्रलोभनों से वह आजीवन लड़ता ही नहीं रहता !'

मैंने सिर के बाल ठीक करते हुए कहा—'यह सब मानने को मैं तैयार नहीं। ऐसी बातें न करिये। मुझे आत्मबोध हो चला है। पाप-पुन्य की मेरी चेतना जाग्रत हो आई है। आप केवल मुझे आशीर्वाद दें.....आपकी सेवा करने की आर्त तृष्णा मेरे भीतर अवश्य है पर अपने को सुख पहुँचाने के लिये इस सर्वग्रासी उन्मत्तता की मैं कल्पना नहीं कर सकती। हाथ जोड़ती हूँ प्रकाश भैया ! पैर पड़ती हूँ.....'--कहते-कहते मैं निज व-सी होने लगी--मेरा शरीर काँपने लगा.....। चकराने लगी—चेष्टा करने पर भी सिर उठाकर सीधी न बैठ सकी। अपने मन के निर्लज्ज आचरण की लज्जा से रह-रहकर मरने की इच्छा हो रही थी। मेरा सारा अस्तित्व दिशाहीन, नामहीन, विरावहीन शून्यता में डूबा जा रहा था। अपने को अधिक न सँभाल सकी.....फूट-फूट कर रोने लगी। चाँद भैया का मृत्यु-संवाद सुनने के बाद जो रुलाई उमड़ी थी—यह रुलाई उसी जाति की थी।'

प्रकाश ने मेरी रुलाई की ओर ध्यान न दे गंभीर स्वर से कहा—'मंजु ! सुख ही जीवन का एक मात्र लक्ष्य है--शेष सब उपलक्ष्य। सुख की समष्टि को आजीवन चढ़ाते चलना ही जीव का कर्म है। जान कर या अनजाने इसी चेष्टा में जीव का जीवन समाप्त हो जाता है। इसी कसौटी पर भले-बुरे को कसा जाता है। सुखी होना ही जीवन की चरम सार्थकता है—वास्तविक परिणाम है.....'—कहते-कहते उनके स्वर की गंभीरता आप से आप उनके उस निर्मल स्नेह-पूर्ण हास्य में—

स्वर के नैसर्गिक माधुर्य में खो गई जिसे पहले पहल भैया के साथ बनारस में सुनकर मैं कृतार्थ हो गयी थी।

मैंने कहा—'नहीं प्रकाश भैया! मैं नहीं मानती! अपने को कैसे सुख मिलता है यह भी तो मनुष्य सब समय—सब अवस्थाओं में नहीं समझ पाता। अपने ही सम्बन्ध में वह बराबर भूल करता रहता है। दूसरों की जिम्मेदारी लेने का साहस उसे हो भी कैसे! आगे और कुछ है.....आगे और कुछ है.....इसी अवबोध से घिरा वह आजीवन असन्तोष के मार्ग पर भटका करता है। मेरे लिये प्रवृत्ति का रास्ता बन्द हो चुका है। मुझे अब न वह दो जो चाँद भैया के जीवित रहने पर उनसे मिलता। मुझे वरदान दो! जीवन में इस तरह का तूफान अब न उठे जो अतीत की लज्जाओं की वृद्धि करे। संसार के सौंदर्य-माधुर्य से मुझे निर्वासित रहने दो। मुझे कुछ न चाहिये.....और कुछ न चाहिये—कहती-कहती मैं फिर छलछला कर रो उठी। पुत्र-शोक से कातर-माता जैसे शोक के कारण सो जाती है—शोक से फिर जग उठती है इसी तरह मेरी आत्मा रह-रह कर शान्त हो जाती है.....रह-रह कर रो उठती है। अपने मन की दृढ़ता-निष्ठा को लेकर मैंने कैसा-कैसा गर्व किया था.....कहाँ-कहाँ से कैसे-कैसे मेरा गर्व न टूटा। जिस बुद्धि के भरोसे मैंने चाँद भैया को सीख देनी चाही थी—प्रकाश से घंटों बहस की थी उसकी गुप्त लज्जा-अनुशोचना का आज पार नहीं। अपने अहं को लगी एक-एक ठेस की सुधि कर मेरा रोम-रोम झरने की तरह फूटा पड़ रहा है। मन की धारा पूरे वेग से आगे खींचे लिये जा रही है। मुझे अपने सामने ही अपना सिर उठाने का साहस नहीं होता। लगता है मैं जितनी निर्बोध और हठी हूँ उतनी ही दुरात्मा और दुष्कर्मिणी। मेरा अनुतप्त-अपराधी मन चैन नहीं पाता। अपने पातक के भार से आप डूबी जा रही हूँ। कहीं किनारा नहीं मिलता.....कहीं त्राण नहीं दिखता। दुर्बुद्धि की स्पर्द्धा से जीवन में अवतरित हुए भगवान् को

पत्थर का पुतला मानकर उनका तिरस्कार किया·····हृदय के भीतर के न जाने किस जलमय खंड में उन्हें विसर्जित कर दिया। पत्थर के एक अचीन्हे, अनजान पिण्ड को बार-बार भगवान् बनाने का यत्न किया। मृत्तिका की मूर्ति से कहा—बारम्बार कहा·····तू भगवान् बन जा! जानकर अनजान बन गई। पूरा करने की जो विधि सीख चुकी थी उसमें कैसे परिवर्तन होता? नये सिरे से उपासना का मर्म कैसे पहचानती?

प्रकाश का मुख-मण्डल प्रदीप्त हो रहा था। बोले—'मेरे अहंकार को क्षमा करना मंजु! तुम मेरी छोटी बहन हो! अभी-अभी दो घंटे पहले मैंने देखा—तुमने वह अपराध क्षमा किया जिसे क्षमा करने में पहाड़ की छाती फट जाती—आस्मान का दिल हिल जाता·····भूचालों की पेशानी में शिकनें पड़ जातीं। सोचा था—अकेले तुम्हें यह व्यथा न झेलने दूँगा—तुम्हारे दुख में हिस्सा बँटाते-बँटाते उसे आमूल बदल दूँगा। लग रहा है तुम महान हो—कुछ-कुछ वैसी जैसी आस्मान की चौखट पर माथा टक कर नीम-होश·····नीम-बेहोश खड़ी रहने वाली चाँदनी, जो सुबह की प्रतीक्षा में अटूट श्रद्धा का वेग लिये अमृत का स्रोत बहाया करती है। जो आत्मा-विलोपन की उन पावन घड़ियों के आने की प्रतीक्षा में इतनी तन्मय और अवदात रहती है कि अन्तस्तल में जीवन-विछोह का एक हाहाकार नहीं उठता। एक बात कह दूँ। इस तरह जीवन के न दिखाई देनेवाले आकाश में दर्द की बूँद-बूँद इकट्ठी कर तुम जैसे घने बादल की सृष्टि कर रही हो उसे क्या तुम्हारे ही मन का ताप-तप्त धरातल·····आत्म-यन्त्रणा की तेज धूप का निदाघ सोख लेगा। तुम्हारे बड़े भाई को उसका एक आभास न मिलेगा? न मिलेगा·····कभी न मिलेगा मंजु!

मैंने कहा—'प्रकाश भैया! मेरे भाग्य में सर्वत्र भूल ही होनी है। मेरे हृदय में तुम जो अपार व्यथा भरी देख रहे हो वह सब भूल है····· मिथ्या है·····धोखा है·····मैं कच्ची नींद की खुमारी में दुख का

बोझ लेकर टूटी-टूटी फिरने वाली उल्का हूँ·····जो केवल लेना जानती है देना नहीं·····जलना-जलाना जानती है—आग लगाना जानती है पर प्रकाश की ज्योति बन कर एक सिरे से दूसरे सिरे तक खिंच जाना नहीं। मेरे वीभत्स·····विकृत जीवन की तुम उतना ही प्यार करो जितना एक परिपूर्ण जीवन मरण की छाँह को करता है! मैं तुम्हारी घृणा चाहती हूँ। मुझे कौन बतायेगा·····मैं क्या करूँ·····कैसे मुझे तुम्हारी घृणा प्राप्त हो? मुझे तुम्हारा आत्मदान न चाहिये। अपना जला मुँह लेकर तुम्हारे साथ निकल पड़ी हूँ, तो मुझे झूठी न बनने दो। मेरी सचाई के दामन पर जितना दाग लग चुका, उससे अधिक न लगे।'

मेरी शिरा-शिरा—एक-एक उपशिरा में अपमान और अभिमान की ज्वाला दहक रही थी। महीनों से अपने अन्दर प्रकाश के लिये क्यों घनीभूत आसक्ति का अनुभव कर रही हूँ? आज उन सब बातों को छोड़कर जीवन में कहीं और चले जाने की आकांक्षा मन के भीतर आग के अक्षरों में जल उठती है। मेरे भीतर उठते-बैठते जगमगाने वाले अविचल विश्वास की जड़ पर इतने कुठाराघात होते रहे····· मैं प्राण की खिड़की खोले स्थिर प्रतिमा की भाँति किसी और का मार्ग देखती हुई रास्ते पर मन-प्राण बिछाये खड़ी रही! दुख के जिस गढ़े से रिहाई पाकर सुख भोगने की अधचेतन आकांक्षा पालती रही उसके सामने ही भाग्य का जो अन्धकूप है उसे कैसे अब तक भूली थी? तब आज मुँह मोड़-मोड़ कर मुस्कराने वाला दोनों हाथ फैलाये आलिंगन के लिये विह्वल पवन-वेग से मेरी ओर बढ़ा आ रहा है तब जैसे मेरे संशयोत्तेजित चित्त की पर्यवेक्षण शक्ति जाग उठी है·····जैसे भटकी हुई, गुमराह, सौन्दर्यमयी आत्मा को खोया अन्तःकरण मिल गया हो। पहले जैसी शुद्ध और शान्त मैं फिर आत्मतृप्ति, आत्मवैराग्य की कसकती चेतना बन गयी हूँ। प्रकाश मेरी ओर देख रहे हैं—मुझे समझकर—मेरा यह नया परिचय पाकर मन ही मन अनुताप से·····

आश्चर्य-मिश्रित अनुताप से पिघल रहे हैं। मैंने कहा—'तुम बार-बार मुझसे विवाह की बात करते हो। गिरी हुई नारी से प्रेम करने का—उस प्रेम की अभिव्यक्ति का इससे ऊँचा, सज्जनोचित तरीका दूसरा नहीं हो सकता। विवाह का मंत्र मुझे तुम्हारे प्रति कर्तव्य-पालन, भक्ति, सेवा की प्रेरणा ही दे सकेगा। उसकी कमी कभी तुम मुझमें विवाह के मंत्रोच्चार के बिना भी न पाओगे। माधुर्य की जो मूर्ति मैं खो चुकी हूँ वह जीवन में न लौटेगी! उसे हृदय के भीतर पाती जाती हूँ·····यही आधार मुझे कहीं भी किसी भी अवस्था में जीवन बिताने का सामर्थ देगा। तुम केवल अपने भ्रातृत्व का संबल मुझे दो। जो चाहती हूँ वह बराबर अपने हृदय के भीतर पाऊँ। इससे अन्यथा मेरी सारी चेष्टायें विफल हो जायँ। जीवन की सर्वोपरि यथार्थता की ओर बढ़ने में तुम्हारी सहायता चाहती हूँ। संभव है बेहोशी की घड़ियों में कभी तुम्हारे प्रति कोई अपराध कर बैठी होऊँ। पर विश्वास रक्खो वह माधुर्यपूर्ण सेवा की भावना थी।'

प्रकाश ने कहा—'मुझ पर विश्वास कर आज तक किसी ने धोखा नहीं खाया। प्रलोभनों को चीर कर—जीत कर निकल जाने का गर्व तो मुझे नहीं पर इतना अभिमान अवश्य है कि मैंने किसी के विश्वास की हत्या नहीं की! चाँद ने मुझे तुम्हारा भार सौंपा। मैंने उसे वचन दिया—यथासंभव तुम्हें किसी प्रकार का कष्ट, अभाव न अनुभव होने दूँगा। एक अबोध, अपरिणामदर्शी युवक के साथ तुम्हारा विवाह हुआ। उसने मनुष्यत्व को पैर से कुचल कर, समाज-धर्म का तिरस्कार कर तुम्हारे साथ कठोर व्यवहार किया। मैंने सोचा—भाई के अभाव की पूर्ति करने वाले बहुत हैं पर पति के रूप में स्वीकार करे, ऐसा व्यक्ति समाज में कठिनता से मिलेगा। तुम व्यर्थता के साथ—जीवनव्यापी छीजन के साथ कब तक निष्फल क्रीडा करती रहोगी? यह सोच मैंने तुम्हें ऐसा आश्वासन दे दिया था। तुम्हारे मन में

किसी प्रकार की आशंका कभी न उठ सके यह मैं चाहता हूँ। तुम्हारे निष्पाप, निष्कलंक जीवनव्यापी विरह से व्याकुल प्राण को अधिक से अधिक प्रबोध और आश्वासन मैं देना चाहता था। मुझे मालूम हो गया आसक्ति-निरासक्ति का भ्रम-जाल तुम्हारे लिये नहीं। जिस मर्यादा के लिये तुम परिवार और समाज को ठुकरा कर बाहर निकल आयी हो उसे बाहर रह कर भी छाती से लगाये रहोगी। तुम्हारी छाती के भीतर व्यथा की ऐंठनें होंगी पर तुम कभी मुँह से गहरी साँस न निकलने दोगी। सब कुछ झेलती जाओगी। सर्व-सहा वसुन्धरा की भाँति अपने भीतर की दुर्जय अग्नि-ज्वाला को अम्लान मुख से सहन करोगी……'—कहते-कहते प्रकाश मेरी कुर्सी के पीछे खड़े हो स्नेहसिक्त करों से मेरा सिर सहलाने लगे। उनकी आँखों से सचमुच आँसुओं की बड़ी-बड़ी बूँदें टपकने लगी थीं। 'भैया! प्रकाश भैया!'—कह कर मैं जोर से चिल्लाती हुई कुर्सी के सिरे पर अपना सिर डाल उनकी ओर लटक गयी!—'यहाँ से जल्द चलो मैं यहाँ रह नहीं सकती। यहाँ न जाने कैसा सूना-सूना लगता है.....! बिलकुल वीरान.....मरघट जैसा।'

रात में चल देंगे। मेरा काम होता रहेगा। तुम अब कहीं और न रह सकोगी। तुम्हें नौकरी भी न करने दूँगा। बड़े भाई के रहते बहन नौकरी करके खायगी तो दुनिया क्या कहेगी—क्या कहेगी बड़े भाई की क्षुब्ध आत्मा? तुम मेरे घर रहोगी। तुम्हें पाकर मेरी माँ निहाल हो जायगी। जानती हो मेरे छोटी बहन नहीं। तुम्हारी छोटी बच्चा मेरे सूने, खाँव-खाँव करते हुए बँगले में ममता की शरारी चाँदनी बिखरा देगी। तुम इन्कार न कर सकोगी मंजु! मैं न मानूँगा।'

मैंने चिन्तित स्वर में कहा—'क्या यह ठीक होगा भैया! लाख हो, वे लोग हमारे हर प्रकार से पूज्य हैं और पुराने विचार के हैं। मेरा इस प्रकार घर में रहना तुम्हारे उनके बीच व्यर्थ का विरोध.....'

'कुछ न होगा मंजु ! जब उन्हें ज्ञात होगा, यह मेरी आत्मा की सुख-संपूर्ति का प्रश्न है तब वे अधिक विरोध न करेंगे। माँ को बैठे-बिठाये बेटी मिल जायगी। वे तुम्हें चाँद की माँ से कम स्नेहमयी और वत्सल न जँचेगी। पहले स्वभाव में कठोरता थी पर अब वे शायद ही कभी किसी को कुछ कहती हों।'

'जैसा ठीक समझो। कलंकिनी बहन को घर में स्थान देने से लक्ष्मी-स्वरूपा माँ को कष्ट हो तो कैसे मैं अपने को क्षमा कर सकूँगी ? न भैया ! मुझे अलग रहने दो। मैं जहाँ रहूँगी अशान्ति-अवसाद का सृजन करूँगी। मुझे अपने घर को छाया से भी दूर किये रहो। विश्वास दिलाती हूँ—तुम्हारे साथ रहकर जितनी तुम्हारा बहन रहूँगी तुमसे अलग रहकर भी उतनी ही.....उसमें कण भर कम नहीं.....परमाणु भर कम नहीं ! तुम्हारी सेवा-शुभकामना में बराबर एक-सी टूटती रहूँगी। रात में चल दो भैया ! यह होटल रोम-रोम में ज़हर घोल रहा है। जिन पापियों से बचने के लिये सब कुछ छोड़कर भाग निकली वे यहाँ भी आ पहुँचे।'

'रात की गाड़ी से हम चल देंगे। 'पब्लिशर' को सूचना दिये देता हूँ ! मुझे चाँद की एक-एक बात याद आ रही है। न जानता था मंजु। उसके शब्दों के भीतर भविष्य की खूनी शक्ति बोल रही है। कहता था—तुम्हारी जितनी भक्ति करता हूँ उतनी अर्जुन कृष्ण की न करते रहे होंगे। तुम से कई बातों में मतभेद होते हुए भी तुम्हें अपना गुरु मानता रहा हूँ। यहाँ से विदा हो जाने पर—तुम्हारी आँख से ओझल हो जाने पर भी मैं मंजु के शरीर में सदा जीवित रहूँगा। किसी प्रकार कहीं उसका अनादर हो तो तुम मेरा अनादर समझना। यह तुम कभी बरदाश्त न करोगे.....मैं जानता हूँ,—कहते-कहते उसने मेरे पैर छुए थे.....'

मैंने रोकर कहा—'अपने को कितने घृणित बन्धन में बाँध गये !

क्यों न इस पतिता के मोहपाश से मुक्त हो पाये? क्यों कैवल्य की मुग्धता में आकंठ डूबी रहने वाली उनकी आत्मा अपने को इस दौर्बल्य की परिधि में बाँध गयी? वे मेरे सहने की सीमा जानते थे। मैं अधिक दुःख नहीं सहन कर सकती। तुमने मित्र की व्याकुलताभरी प्रार्थना को प्राण में सँजोकर रक्खा है। मेरे लिये इस लोक-परलोक को समान बनाकर बैठे हो।.....'—कहते-कहते मेरा कंठ-स्वर काँपने लगा—'मित्र की बात को इससे अधिक प्यार किया भी जा सकता है? भयानक व्याधि अपने घर ले चल रहे हो!'

सचमुच मन, वाणी, कर्म का ऐसा अविच्छिन्न एकत्व मैंने अन्यत्र नहीं देखा। जिसकी स्नेह-छाया में पड़कर शुभ्र-सी अस्थिर-चित्त, निर्बल-मति, जीवन के अनवरत विष-पान से आकुल और विलुलित, प्रताड़ित, निष्ठुर काल-चक्र से निष्पीड़ित नारी अपने को गुमराह होने से बचाती चले—पग-पग पर जिनके संशयाक्रान्त मन को दिव्य शान्ति का प्रेरक प्रबोध मिलता चले वह स्थित-यज्ञ नहीं तो क्या है? आत्म-मरण की मूर्छा से आहत मेरे प्रेत-भूमि जैसे मन को—रोदन और आत्मा की काटाकाटी को जिसने अपने भ्रातृत्व के सुखद, शीतल स्पर्श से इस प्रकार वाष्पीभूत कर रक्खा है उसके रहते मेरे लिये कोई भय मिथ्या है। मैं उसकी हूँ—वह मेरा है। एक था, जो महावेदना का भस्म-टीका ललाट पर धारण कर समुद्र पार गया·····वहाँ से भवसागर पार कर मेरा यज्ञ-जीवन-देवता बना कहीं ऊपर बैठा मुझ पर चिर मंगल का वरदान उड़ेला करता है·····मेरे जीवन का अन्धकार जिसकी आँखों का अश्रु बन-बन कर बराबर ढला करता है। दूसरा है यह, जो नाम से नहीं—अपने एक-एक स्पर्श से प्रकाश है। जो मेरे जीवन के होम-हुताशन की ऊर्ध्व शिखा बनकर मुझे व्योम-केशिनी और अम्बर-विहारिणी की संज्ञा प्रदान करता है। मैंने अपूर्व पुलक का अनुभव अपने प्रति रोम के भीतर किया·····जाने किस दिव्यता का

संचार है यह ! प्रकाश ने स्नेहपूर्वक मेरे माथे पर हाथ फेरते हुए कहा—'मैं बहका जा रहा था बहन ! तेरी जैसी पुण्यमयी साध्वी से..... विवाह करने की बात जुबान पर ला-लाकर अपनी क्षुद्रता का परिचय दे रहा था। जिसकी आत्मा ने जल-जलाकर जीवन के सोने का रंग पहचाना है, अपना सब कुछ खोलकर मनोवेदना के अनल में उत्सर्ग कर दिया है उससे इस प्रकार का प्रस्ताव.....उसके साथ इतना तक कर सकने का आश्वासन ! कितनी बड़ी छलना थी यह। उस विडम्बना से तूने सहूलियत के साथ मुझे उबार लिया मंजु ! उन शब्दों को सोचता हूँ—मन में दोहराता हूँ तो भीतर-भीतर तूफान बढ़ने लगता है। जिन भावनाओं को तू समूल नष्ट कर चुकी है उनका स्मरण तुझे दिलाकर मैंने महापाप किया है। अहं के झूठे प्रमाद में पड़कर भूल गया—तुम्हारे जैसी, जो अपने अशेष दुख के लिये केवल अपने को दोष देती हैं—अपने जीवन में प्रविष्ट हुए काल को दोष देकर किसी से शिकायत फरियाद नहीं करतीं, इस प्रकार के आश्वासनों से कुण्ठित और त्रस्त ही होती हैं। तूने अपनी झंझा के एक ही झोंके से मेरे स्वार्थ की प्राचीर को नष्ट कर दिया। तूने मेरा उद्धार किया.....

मैंने कहा—मेरा उद्धार उस दिन होगा जब तुम मेरे लिये अपनी जैसी स्नेहमयी, ममतामयी भाभी लाओगे। चारों ओर घुमड़े काले अंधकार को खोकर मैं स्नेह की आरती की सब बत्तियाँ एक साथ जलती पाऊँगी। चलकर माँ से कहूँगी। देर न करो भैया ! जिस दिन मेरा यह कहना मान लोगे उसी दिन समझूँगी तुमने मुझे बहन का पद प्रदान किया। वर्ना कहने-सुनने की बात है सब।'

प्रकाश के मुख पर पीलेपन की छाया और गहरी हो गयी। अपूर्व कर्मनिष्ठ सहिष्णुता की शान्ति उनके चेहरे पर उभर आयी। उन्होंने कुछ उत्तर न दिया पर आँखों की शून्यता मुझे उनके

हृदय की सीढ़ियों के नीचे उतर उस ढहे हुए राजमहल को देखने के लिये आमंत्रित करने लगी जो चारो ओर से ध्वस्त-ध्वस्त हो जाने पर भी विश्वास की अखंडता के सहारे खड़ा था। मैं उनकी ओर आँख मिलाकर देख न सकी। विवाह की चर्चा किसी व्यक्ति को—चाहे वह गंभीरता और निवृत्ति की त्याग-मूर्ति क्यों न हो—इतना कष्ट पहुँचा सकती है—मैंने स्वप्न में भी न समझा था। उनका सम्पूर्ण चेहरा मृत्यु की तरह फीका·····अजीवन की तरह श्रीहीन हो उठा। यही व्यक्ति जब मुझसे ब्याह करने का आश्वास प्रकट करता था तब भी तो इसके भीतर इस असत् मिथ्या का विष क्या आसानी से पिया जाता रहा होगा? मैं भूलती हूँ। समुद्र पी जाने वाला विष के कटोरे की अंजली कैसे परित्याग कर देता! एक बार मेरा हाथ पकड़ा है तो इसके लिये भी तैयार हैं। कैसे वे व्योम के सूर्य-चन्द्रमा का तेज समाप्त हो जाने देते! कैसे मुझे जीवन के सबसे बड़े सिंहासन पर बिठाने के लिये कटिबद्ध न हो जाते? मित्र से वायदा किया था—उसकी बहन की रक्षा का भार लिया था। प्राण रहते उसे कैसे नष्ट हो जाने देते? पर जिस विवाह की चर्चा मेरे मुँह से सुनकर उनका चेहरा किसी की अन्तिम भेंट की करुण आँखों का नैराश्य और उजाड़पन ओढ़ लेता है उसी की चर्चा जब मुझसे करते रहे होंगे तब उनकी जान पर कितने भाले अनिर्वचनीय आकर एक साथ न चुभ जाते होंगे! मैं चुप हो गयी। किसी के मन के दुःख में अधिक हाथ डालना ठीक नहीं। प्रकाश के चेहरे की वेदना क्रमशः उड़ती जा रही थी! पर कुछ क्षणों में मैंने वहाँ जो देख लिया था वह उनके सूखे, मुर्झाये-से होंठों पर लाई गयी मुस्कराहट के पीछे अब तक दिख रहा था·····आजीवन दिखता रहेगा। मैंने उस क्षण के बाद कभी प्रकाश से विवाह की चर्चा न की। अपने भीतर इतनी वीरानगी भरे हुए·····छाती में इतनी बड़ी, कभी न पूरने वाली चोट लिये-लिये मुझे विवाह का सहारा देने जा रहे थे!!

मैंने बात बदल कर कहा—'रात की गाड़ी से चलना है। सामान ठीक कर लिया जाय। पंख होते तो अभी यहाँ से उड़ देती।'

प्रकाश के चेहरे की ओर मैंने देखा। विश्वास न होता था यही चेहरा कुछ मिनट पहले इतना बदल गया था कि बरसाती नदी-तट पर सुलगते अधजले मुर्दों की भीगी राख की तरह उसमें कहीं जीवन का चिह्नमात्र शेष न था। ख्याल भी न आ सकता था कि इन्हीं आँखों के नीचे कुछ क्षण पहले स्याही का समुद्र उमड़ आया था। मेरे विस्मय की सीमा न थी। सबसे बड़ा विस्मय यहा था कि जिस बात को वे स्वयं इतने सहज भाव से—बिना किसी प्रकार का भाव-परिवर्तन प्रकट किये कह गये थे उसको मेरे मुँह से सस्नेह कौतुक के साथ सुनकर इतने पीले और अजीवित क्यों हो गये? मैं उत्तर के लिये उनके मुँह की ओर ताकने लगी।

'आज ही चल देंगे। अभी प्रेस-प्रोप्राइटर को दस बजे कार भेजने के लिये फोन करता हूँ। चलने से पहले किसी से मिलना हो तो और जल्द कार मँगा लूँ। सामान बाँधने में देर क्या लगेगी? मेरा मन भी उचट गया है। जल्द नागपुर पहुँच जाना चाहता हूँ। डाली को जगा दो—देर से सो रही है।'

मन में एक बार चाँद भैया के घर जाकर सबसे विदा हो आने की अभिलाषा थी। पर वहाँ जाने पर लखनऊ छोड़कर न जाने, लौटकर माँ-बाप के साथ रहने या उसी बँगले में रहने के जो आग्रह होंगे उनके वेगपूर्ण प्रवाह में कब तक·····कैसे टिक सकूँगी इसमें सन्देह था। वहाँ न जाना ही श्रेयस्कर जान पड़ता था। यहाँ से चलते समय मन ही मन उस घर को·····भैया की आत्मा को·····उनके आत्मीयों की सुधि को प्रणाम कर लूँगी। और कुछ न चाहिये। बोली—'कहीं न जाऊँगी। सीधे स्टेशन पर चलूँगी, गाड़ी में बैठूँगी। चाँद भैया के यहाँ जाती पर वहाँ इतनी जिरह होगी कि झुँझला उठूँगी।

कभी तुम्हारे साथ चली आऊँगी—सब से मिल जाऊँगी। आज नहीं.....'

प्रकाश की मुखाकृति के तट के अन्धकार में फिर जीवन.....जीवन मुस्कुरा उठा था। हर्ष के भावावेश से मेरी आँखें डबडबा आईं। मैं उनके चेहरे पर यही देखना चाहती थी.....उठते-बैठते प्रतिक्षण देखना चाहती थी.....जो देख चुकी थी वह इतना विकराल था कि हैरत होती थी। जैसे जीवन की सबसे बड़ी असफलता और पराभव के राक्षस ने इन दो अक्षरों के भीतर से निकल कर उनके मुख की संपूर्ण अभिव्यक्ति को तहस-नहस कर डाला हो। मेरी आँखों से आँसू के बूँद टपक पड़े। कभी विवाह न करने के इनके निश्चय के पीछे जो एक जीवित स्वप्न रातो-रात बनकर मिटने की व्यथा-कथा हृदय के पुनीततम कोने में लिपटी-सिमटी पड़ी है उसे मैंने भावना की दृष्टि से कल्पना के आलोक में देख लिया। किसी अश्रुआर्द्रा, अवनतमुखी, लज्जा-ललित उन्माद वाली की मानसी छाया मेरे सामने रह-रह कर डोलने लगी जो इनके मन का सौदा किये कहीं अपने शरीर के साथ निष्फल हो रही है.....वैधानिक वेश्या की तरह अपने पति की वासना की परिपूर्ति कर रही है। जिस प्रकार इनके रूप, ज्ञान, विद्या, बुद्धि की सीमा नहीं उसी प्रकार इनकी अन्तर्वेदना का भी आर-पार नहीं? प्रकाश ने कहा—'यही ठीक होगा मंजु! चाँद की माँ, भाइयों, भाभियों का रोकना स्वाभाविक है। उनका अनुरोध तुम कब तक टाल सकोगी! वहाँ न जाना चाहती हो न जाओ। जब तुम्हारी इच्छा होगी तुम्हें नागपुर से यहाँ ले आऊँगा। आज किसी को देखने-सुनने का अवसर नहीं।'

'आज मैं केवल अपने को देख रही हूँ.....तुम्हारे पैरों को स्थिर दृष्टि से देखते रहने में अपने भीतर किस प्राणवानता का अनुभव करती हूँ। आज मैं विधवा, कुल-लाँछिता, समाज-तिरस्कृता

मंजु नहीं! आज मैं प्रकाश की बहन हूँ जो अपनी वेदना और आत्म-संताप के कारण साहित्य में देशवंदनीय हो गये हैं। मैं उनकी बहन हूँ जिन्हें अतल-स्पर्शी शोक ने.....जीवनव्यापिनी अपूर्ति ने जला-जलाकर हीरे की तरह निर्मल बना दिया है। वह तपस्वी भाई अपनी हतभागिनी बहन को आश्रय देने के लिये साथ ले जा रहा है। मैं इतने आवेश में हूँ—आन्तरिक परिपूर्णता की लहरों से इतनी उमड़ी हुई हूँ कि भली-भाँति उसकी मंगल-कामना भी नहीं कर पाती! मेरा रोम-रोम सस्वर हो उसे आशीष नहीं दे पाता! मेरे जीवन की सोई चाँदनी रात को जिसने जगा दिया उसकी कल्याण-शिखा बनकर ऊपर उठ नहीं पाती!'

शाम को सात बजे प्रकाश के कमरे में खड़ी उनका सामान बँधवा रही थी। कमरे की एक खिड़की होटल के मुख्य द्वार की ओर थी। चारों ओर अस्त-व्यस्तता थी। चीजें इधर-उधर फैली पड़ी थीं। सहसा प्रकाश ने जो खिड़की के पास खड़े बाहर की ओर देख रहे थे, कहा—मंजु! यहाँ आओ! मैंने कहा था न! किशोर कितना 'बुर्ला' है। देखो उसका सामान जा रहा है।'

मैंने देखा—ताँगे पर सामान लदा है। पतिदेव के पीछे सिमटी-सिकुड़ी छविया खड़ी है। उनके मुख पर विचित्र कालिमा है। नशा उतर चुका है.....पर नशे की प्रगाढ़ता में भोगी अवमानित वेदना की अन्तर्शिखा के कुरूप चिह्न अब भी चेहरे पर शेष हैं। छविया घूँघट काढ़े अनुगता-सी उनके पीछे खड़ी है, पर लगता है उसका अपने शरीर पर अधिकार नहीं। दोनों ताँगे पर बैठ गये। ताँगा चल पड़ा। मैंने मुँह फेर कर कहा—'तुमने ठीक कहा था। मुझे एतबार न होता था। मन ही मन डर रही थी—तुम पर या मुझ पर हमला न करे। ऐसे बदमाश का क्या ठिकाना।'

प्रकाश ने कहा—'तुम्हारी अपेक्षा उसे अधिक जानता हूँ। बदमाश

को जब खाने भर के लिये मिल जाता है तब वह सिर नहीं उठाता। उसके दिल की लोलुपता तब ज़हर बनकर उसके खून को निष्प्राण बना देती है। जाने दो! तुम्हें उन लोगों से मतलब नहीं। स्टेशन गया होगा तो फिर भेंट होगी। मैं सोचता हूँ यहाँ से धर्मशाले जायगा।'

मैंने कहा—'कहीं जायँ! मुझे क्या लेना-देना! जीवन की बीतती रात का सूनापन मेरे लिये काफी है। पिछले तीन वर्षों की कठोर विषमताओं ने मेरे नारीत्व की शृंखला को एक झटके से खोलकर अबाध बना दिया है। मेरी अनुभूति के सप्त स्वर अब पहले की तरह आर्तनाद नहीं करते।'

'कोई आवश्यकता नहीं'—प्रकाश ने हृदय की प्रतिध्वनि-भरी गूँज से झंकृत कंठ से कहा—'जीवन के इस गदे-काले परिच्छेद का सदैव के लिये अन्त हो जाने दो। जानता हूँ—तुम्हारे मन में उन लोगों के प्रति न प्रतिहिंसा थी—न होगी। किशोर के भीतर घृणित अहं की जो तीव्र छलना है वह उसे मनुष्यता के स्तर की ओर उठने नहीं देती। भयानक स्वार्थ, भीषण रूढ़ि के मापदण्ड का सहारा ले उसने तुम-सी अभिमानिनी नारी को परखना-निबाहना चाहा। पशुता निरावरण हो उठी।'

मैंने टेबिल पर अंबार लगाये पड़ी वस्तुओं को अटैची में भरते हुए उनकी ओर बिना देखे सिर नीचा किये-किये कहा—'कैसी अभिमानिनी! अभागिनी कहो। अभिमान करने लायक जब थी तब न कर पाई। अपने सौभाग्य को देख-देखकर अनदेखा करती रही। अब कहाँ का अभिमान? अब यही चाहती हूँ कि अपने अभाव, अपूर्णता, अवसाद को लेकर अपने समर्पण के केन्द्र-विन्दु के चारों ओर चक्कर काटती रहूँ। मेरी प्रयोगिनी प्रेरणा को अब विश्राम मिलने दो। आज मेरा नया जन्म हुआ है। जीवन की अमरता के साथ जिसे अपने भीतर आँका उसे न

पाया। उसकी परिधि ही मेरे आगत की कसौटी बन जाय। तुम्हारी स्नेह-छाया में अपना शेष जीवन काट सकूँ। जीवन का सत्य इसी प्रकार आवरण में उलझता रह गया! सोचती हूँ, वह नारीत्व ही क्या जिसकी नींव नीरवता पर न पड़ी.....'

रात में जब हम लोग गाड़ी पर बैठ गये और स्टेशन पीछे छूटने लगा.....गड़ी चल पड़ी, तब प्रकाश ने स्नेह-कंठ से कहा--'तकलीफ तो नहीं है मंजु! एक बार जाकर अपने माता-पिता से मिल आती तो क्या बुरा था?' मैंने आर्द्र कण्ठ से कहा--'क्या होता! दुर्भाग्य में पड़कर जब इतने शीघ्र उनकी विरक्त-घृणा की शिकार हो गयी तब क्यों चलते समय अपना असुन्दर मुँह दिखाकर उन्हें जलाती? ईश्वर से यही विनय है, वे मुझे.....मेरे कलंकित जीवन को जल्द से जल्द भूल जायँ।'--कहते-कहते अपनी व्यथा के इतिहास के व्यंग से मैं झनझना उठी। यथासंभव अपने को संभाल कर बोली—'नियति खेल की प्यासी रहती है। नारी से सुलभ खिलौना उसके लिये और नहीं। उसके परिताप और व्यथा को लेकर भाग्य की देवी का कौतुक चलता है। पर नारी-प्रेम का वरदान ले कर बढ़ती है। उसके जीवन के बाहर रह कर भी उसे गले से लगाये रहने वाले तुम जैसे भाई के भरोसे वह नियति के सामने पराजय नहीं स्वीकार करती। मैं दुःख से त्रस्त होकर पराजय स्वीकार कर लेती तो क्या तुम्हारी बहन हो सकती? आज अनुभव करती हूँ—तुम्हारी बहन का सबसे बड़ा आशीर्वाद मुझे मिला है.....अनायास मिला है। मैं स्वयं तुच्छातितुच्छ हूँ। तुम मुझे उसके अनुरूप बनाने की चेष्टा करना। इसी प्रकार अविचल मेरी इच्छाओं, आत्मलिप्त तृष्णाओं को अपने भ्रातृत्व के गंगाजल से अभिसिंचित करने रहना। मैं टिकी रहूँगी.....'

प्रकाश ने ट्रेन की हलचल.....अनुभव की नवीनता से अर्ध-चकित

अर्ध-कौतुक पूर्ण दृष्टि से डिब्बे में चारों ओर देखती 'डालां' को गोद में लेकर हाथ से उसकी ठोड़ी हिलाते हुए कहा—'तुमने नियति को पराजित कर दिया बहन! उसने सोचा होगा तुम आजीवन पाप के परम्परा-अनुमोदित बन्धन में बँधकर भोगती रहोगी। तुमने उसके मस्तक पर लात मार कर जीवन का स्वतन्त्र मार्ग अपनाया। अप्सरा जैसे लावण्य-लोहित शरीर के भीतर तुमने सती का मन प्रदीप्त किया। मुझ से व्यक्ति को जो संवेदना के एक चुल्लू में होश-हवास खो बैठा था तुमने मनुष्य·····मनुष्य से बढ़कर भाई बना दिया। यहाँ भी नियति ने यदि कोई षड्यन्त्र रचा होगा तो उसे पराजित होना पड़ा।

मैंने काँपते कंठ से कहा – 'पहली भेंट में ही तुम्हें देखकर पहचान गई थी। इसलिये जीवन-मरण में तुम्हारे स्वर भरकर तुम्हारे साथ चलने का व्रत लेने का संकल्प मन ने क्षणों में कर लिया। टूटे स्वप्न, पछताता मन, मुरझाता शरीर सब मुझे राह दिखाने वाले के पास जाने से रोकने लगे। तुमने विश्वास का दीपक जला दिया था·····जिस पर मेरे आराध्य भाई का इतना विश्वास था वह मेरे लिये क्या नहीं हो सकता? उसके निकट रहकर मैं क्यों पहले जैसी उजली और निष्कलंक नहीं हो सकती? जीवन की वह अरुणाभ शक्ति और सौख्य कैसे न मुझे मिलेगा? उसी की गोद में मृत्यु-शय्या बिछाकर दम तोड़ना चाहती हूँ प्रकाश भैया! उस के भीतर होश संभाला·····उसी के भीतर अवसित होना चाहती हूँ।·····मन में किसी के लिये रोष नहीं, विद्वेष नहीं, घृणा नहीं, विराग नहीं। है केवल सीमाहीन परिपूर्णता····· छाँह भरी श्यामल तन्मयता·····'

'वही होगा!—प्रकाश ने बच्ची को मेरी गोद में डाल मेरे सिर पर हाथ फेरते हुए कहा—'आकाश की उसी नक्षत्र-अवदात निर्मलता में तू रहेगी·····ऊषा की उसी पावनी अरुणिमा में तेरा मन डूबे-उतरायेगा·····बादलों के अदृश्य प्रान्तों को ज्योतित कर देने वाली

बिजली की झलक जैसी तू पवित्रता की अशेष शिखा बनकर लहरायेगी। प्रकाश की बहन विभावती न होगी तो कौन होगा? नारी-चरित्र की जिस महिमा का परिचय मुझे तुमसे मिला उसने मुझे आमूल बदल दिया मंजु! तेरा भाई होना संसार में साधारण परिचय नहीं—पवित्रता के साथ आत्मीयता का परिचय है। अपने अपूर्व तेज की दीप्ति लेकर तुम उसी शुचिता के माधुर्य्य में जीवित रहोगी,·····केवल जीवित रहोगी·····जब तक मैं जीवित रहूँगा·····शरीर और नाम से तब तक तुम भी जियोगी·····'

